शिक्षा का माध्यम
•
पारिभाषिक शब्द-निर्माण
•
देवनागरी लिपि-सुधार
•
टंकन तथा मुद्रण
•
राजभाषा
•
वर्तनी
•
अनुवाद
•
व्याकरण
•
कोष
•
शोध
•
इतिहास लेखन

हिन्दी की समस्याएँ

कामेश्वर शर्मा

...टी एण्ड कम्पनी
...पटना - ४

लेखक की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

१—दिग्भ्रमित राष्ट्रकवि—

(क) इस पुस्तक के सम्बन्ध में **कविवर दिनकर** ने लिखा था—"मैं जानता हूँ कि मेरे विषय में तुम्हारी क्या राय है—वह मीठी भी है और तल्ख भी ; फिर भी मैं मानता हूँ कि तुम एक जानदार आलोचक हो।"

(ख) सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक **Searchlight** ने लिखा था—"The most praise-worthy feature of the book is its sociological outlook towards art and the critic's attitude of frank impartiality."

२—हिन्दी साहित्य को बिहार की देन—

(क) इस पुस्तक के सम्बन्ध में **आचार्य शिवपूजन सहाय** ने लिखा है—"आवश्यक साधनों और सुविधाओं की कमी रहने पर भी श्री शर्माजी ने बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी है। उसका दूसरा खंड भी उन्होंने तैयार कर दिया है। उसके भी प्रकाशित हो जाने पर यह बात विशेष रूप से सिद्ध हो जायगी कि शर्माजी के समान विद्वान् ही ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य को विधिवत् सम्पन्न करने के अधिकारी हैं।"

[......**क्रमशः तीसरे फ्लैप पर**]

हिन्दी की समस्याएँ

लेखक

कामेश्वर शर्मा
लंगट सिंह कॉलेज, मुजफ्फरपुर

प्रकाशक

नोवेल्टी एण्ड कम्पनी
अशोक राजपथ : : पटना - ४

[मूल्य ४·५० रु०

PUBLISHED BY
T. N. Jha, B. A. (Hons.)
Proprietor
NOVELTY & Co. : PATNA-4

मुद्रक
वैशाली प्रेस
एनी बेसेन्ट रोड, पटना – ४

आशीर्वचन

प्रो० कामेश्वर शर्मा द्वारा लिखित 'हिन्दी की समस्याएँ' एक सामयिक आवश्यकता की पूर्ति का अभिनंदनीय प्रयास है। हिन्दी की कुछ समस्याएँ तो वास्तविक हैं और कुछ भ्रांति, पूर्वग्रह तथा निहित स्वार्थ से प्रसूत। वास्तविक समस्याओं का समाधान आवश्यक है, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इससे कहीं अधिक आवश्यक है निराधार फैली और फैलायी गयी भ्रांतियों का निवारण क्योंकि उनसे हिन्दी का अहित होने की अधिक संभावना है। अतः इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये जितना भी लिखा जाय, अच्छा है। हिन्दी के लिये नारा लगाने की अपेक्षा यह कार्य अधिक लाभप्रद एवं महवत्त्पूर्ण होगा।

इस देश में आगे बढ़ने के लिये अध्ययन-अनुशीलन की व्यर्थता एवं अनुपयोगिता को देखते हुए भी कामेश्वरजी अपनी प्रकृति से लाचार हैं। उन्हें अध्ययन का व्यसन है और व्यसन क्या जो पिंड छोड़ दे! वे उन गुणों से रहित हैं जो आज की भाग-दौड़ आगे बढ़ाते हैं; उन्हें उन मूल्यों का आग्रह है जिनसे जीवन में उदात्तता और ज्ञान में व्यापकता आती है। तत्काल यह सौदा भले ही घाटे का लगे पर आगे चलकर यह चक्रवृद्धि व्याज बन जाता है—इससे कई एषणाओं की एक साथ और स्थायी पूर्ति हो जाती है।

कामेश्वरजी के स्वाध्याय और चिंतन का अनिवार्य प्रतिफलन उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। उनकी सूझ-बूझ जितनी पैनी और गहरी है, कहने का ढंग उतना ही प्रांजल और आकर्षक है। स्पष्टता एवं प्रभावोत्पादकता उनकी अभिव्यंजना के सहज वैशिष्ट्य हैं। इतने विषयों पर इतनी सामग्री एकत्र प्रस्तुत करनेवाली यह पहली पुस्तक है जो विषय तथा निरूपण दोनों ही दृष्टियों से सफल मानी जायगी और समादृत होगी।

कामेश्वरजी मेरे प्रिय छात्र, मित्र और सहयोगी हैं। आत्मीय की श्लाघा प्रकारांतर से आत्मश्लाघा है जिसे लोग हेय समझते हैं। इसीलिये मैंने उनकी श्लाघा न कर तथ्य-कथन मात्र किया है क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह उन्हें अनायास उपलब्ध है और आगे भी रहेगी। इस विद्वत्तापूर्ण कृति के लिये मैं उन्हें फिर बधाई देता हूँ।

देवेन्द्रनाथ शर्मा
हिन्दीविभागाध्यक्ष
बिहार विश्वविद्यालय

मुजफ्फरपुर

विषय-सूची

शिक्षा का माध्यम

भारतवर्ष में शिक्षा, कोई बाह्यानीत और आयातित तत्त्व नहीं है। विश्व में एक भी देश ऐसा नहीं जहाँ के निवासियों में, इसके पहले, अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रयाण करने की इतनी तीव्र प्रेरणा जाग्रत् हुई हो कि वे समवेत स्वर में गा उठे हों—"तमसो मा ज्योतिर्गमय"। वैदिक काल से लेकर आजतक विद्वानों और विद्यार्थियों, शिक्षकों और शिक्षार्थियों की एक अविच्छिन्न परंपरा यहाँ प्राप्त होती है, और इस लंबी अवधि में उपनिषदों, पुराणों, आरण्यकों और ब्राह्मणों आदि का जो विशाल साहित्य निर्मित हुआ है, वह न केवल विद्वत्तापूर्ण है; बल्कि उसने यहाँ के जन-जीवन के लगभग सभी पक्षों पर अपना अमिट प्रभाव भी डाला है।

मनुस्मृति और धर्मशास्त्रों में, साधारणतः द्विजों और विशेषकर ब्राह्मणों की शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में अनेक विधानों का उल्लेख है। ईसा के जन्म के सैकड़ों वर्ष पूर्व हमारे यहाँ तक्षशिला ऐसा विश्वविद्यालय था; पहली-दूसरी शताब्दी में उज्जैन; गुप्त-युग में अयोध्या, नालंदा और पाटलिपुत्र; पाल-युग में ओदंतपुरी और विक्रमशिला; और उसके बाद भी काशी, श्रृंगेरी (मैसूर), मिथिला और नदिया (बंगाल) में विधिवत् शास्त्रों, दर्शनों और साहित्य का पठन-पाठन चला करता था। मुस्लिम-काल में भी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा था, जिसका स्पष्ट उल्लेख आईन-ए-अकबरी में है।

शिक्षा और सुव्यवस्था, दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उत्तर-मुस्लिम काल में, जबकि पश्चिमी व्यापारी शक्तियाँ अपने पैर जमाने की कोशिश कर रही थीं और मुस्लिम साम्राज्य, पतन के कगार पर खड़ा केवल एक हल्के धक्के की प्रतीक्षा कर रहा था, तब हमारे यहाँ शिक्षा की बड़ी बुरी अवस्था थी। डबलू० आदम नामक एक व्यक्ति ने १८४४ में देशी शिक्षा-पद्धति की एक सर्वांगीण व्याख्या "Reports of Vernacular Education में प्रस्तुत की थी। उस समय दो प्रकार के शिक्षालय थे—पाठशाला और मकतब। पाठशाला किसी के द्वार पर या मंदिरों से सम्बद्ध होती थी, मकतब किसी खां के यहाँ या मस्जिदों से सम्बद्ध। एक में संस्कृत की पढ़ाई होती थी, दूसरी में अरबी-फारसी की। बच्चों को अष्टाध्यायी, अमरकोश तथा कुरान रटाये जाते थे। ये, लड़कों या उनके अभिभावकों के चंदे पर चलती थीं— there is no encouragement for persons of character, talent or learning to engage in the occupation (W. Adam.) जमीन पर खल्ली से पढ़ाई होती थी, फिर तालपत्र पर नरकट की कलम से कोयले की स्याही में। यह सब एक साल तक चलता था और इस अवधि में स्वर-व्यंजन, पहाड़ा आदि की पढ़ाई होती थी। इसके बाद अंकगणित शुरू होता था, केले के पत्ते पर दीपक की कालिख

की स्याही से। नीचे के वर्गों में ऊँचे वर्गों के लड़के पढ़ाते थे। 'बलचटिया' की यह परंपरा आज भी ग्रामीण पाठशालाओं में प्रचलित है।

इस शिक्षा के दो छोर थे—अनुशासन और शिक्षक। अनुशासन के अंतर्गत दंड-विधान पर खूब ध्यान दिया जाता था। लड़के को बैठाकर इस तरह झुका दिया जाता था कि उसका सर धरती से सट जाय। पीठ पर भारी पत्थर या ईंट रख दी जाती थी। जब-जब वह ईंट गिरती थी, तब-तब मरम्मत होती थी। दूसरा दंड यह था कि एक पैर पर आध घंटे तक खड़ा रखा जाता था। यदि इस बीच लड़का थोड़ा भी थर्राया, काँपा, या उसने उठे हुए पैर को धरती पर रखा कि फिर बेंत से मरम्मत शुरू हुई। कभी किसी पेड़ से नीचे सर कर लटका दिया जाता था और कभी बिछौतिया या उरकुस्सी पानी में घोलकर लगा दी जाती थी और लड़के को नोंचने या खुजलाने नहीं दिया जाता था। ऐसे भी उदाहरण आदम साहब को प्राप्त हुए थे जबकि बोरे में बिछौतिया, बिल्ली या कुत्ते के साथ लड़के को बंदकर ढलुएँ जमीन पर लुढ़का दिया जाता था। शिक्षकों की अवस्था भी कुछ वैसी ही थी। वे लड़कों से मालिश करवाते, पैर दबवाते, उंगलियाँ चटखवाते और पाठशाला में विना बेंत या छड़ी के नहीं रहते। वे दिन भर हुक्का पीते और ऊँघते रहते थे। लड़के इन्हें अपनी दृष्टि से अनुशासित रखने के लिए कभी हुक्के में मिर्चा रख देते, कभी उनकी चटाई के नीचे काँटे या कंकड़ रख देते। अँधेरे में उन्हें पकड़कर उनकी मरम्मत करते, उन पर गीत बनाते और देवताओं से प्रार्थना करते कि वे उन्हें शीघ्र उठा ले जायँ। वे मनौतियाँ करते कि ऐसा होने पर वे उन्हें मिष्टान्न, नारियल और खस्सी खाने को देंगे, चढ़ायँगे।

शिक्षण-संस्थाओं के जो आंकड़े उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि १८२२ में मद्रास प्रेसिडेन्सी में ऐसी स्वदेशी पाठशालाओं की संख्या १२,४६८ थी और १८३५ में, बंगाल में, एक लाख। फिशर ने अपने संस्मरण में लिखा है कि १८२७ में मद्रास के सभी जिलों में कुल १८८६५० छात्र थे, जबकि उनकी जनसंख्या १२८५०६४१ थी—यानी ६७ व्यक्तियों में एक छात्र।

इंगलैंड में शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण कभी नहीं रहा, उस समय भी इसकी कोई राजकीय पद्धति नहीं थी। इसलिए, स्वभावतः अंग्रेजों ने प्रारम्भ में इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दूसरे यह कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, उसका प्रधान उद्देश्य शासन करना नहीं था। आर्थर हॉवेल ने १८७२ में प्रकाशित अपनी पुस्तक Education in British India में ठीक ही लिखा है—"Education in India under the British Government was first ignored, then violently and successfully opposed, then conducted on a system now universally admitted to be erroneous and finally placed on its present footing."

मद्रास—पहला अड्डा

प्रारम्भ में स्वदेशी शिक्षा-पद्धति के अतिरिक्त किसी और पद्धति के लागू करने का सर्वप्रथम प्रयत्न ईसाई मिशनरियों, स्वतंत्र व्यक्तियों और वैयक्तिक समितियों द्वारा ही हुआ। १६५६ में कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इंजील के प्रचार में सहयोग प्रदान करने की घोषणा की और इस प्रकार मिशनरियों को अपना जाल फैलाने की छूट दे दी। यह काम मद्रास में ही शुरू हुआ। स्वार्त्स नामक पादरी ही सच्चे अर्थों में, भारतवर्ष में, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति लागू करनेवाला अग्रदूत माना जा सकता है। इसी ने तंजौर के राजा तथा अन्य स्वदेशी स्थानीय शासकों को प्रभावित कर तंजौर, रमेन्दपुरम् और शिवगंगा आदि स्थानों में अंग्रेजी की शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल खोले थे। कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने १६ फरवरी, १७८७ के अपने पत्र में इन प्रयत्नों की प्रशंसा करते हुए और स्कूलों को अनुदान स्वीकृत करते हुए जो लिखा था, उससे उनके उद्देश्यों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—

"Highly approving of institutions calculated to establish mutual good faith; to enlighten the minds of the natives and to impress them with sentiments of esteem and respect for this British nation, by making them acquainted with the leading features of our government so favourable to the rights and happiness of mankind; we have determined to evince our desire of promoting their success, by contributing 250 pagodas per annum towards the support of each of the schools above mentioned, and of any other school which may be opened for the same purpose..."

दूसरा अड्डा—बंगाल

पलासी के युद्ध के बाद कम्पनी अब व्यापारिक संस्था नहीं, सरकार बन गयी थी और इतने वर्षों के अनुभव से उसने यह समझ लिया था कि भारतवासी धर्म के मामले में अतिशय हठी हैं। इसलिए मिशनरियों के धर्म और बाइबिल-प्रचार पर उसने नियंत्रण डाल दिया और बहुत अंशों में अंततक वह इसका निर्वाह करती रही। अठारहवीं शताब्दी के अंत में कैरी, मार्शमैन और वार्ड नामक तीन सज्जनों को, जो श्रीरामपुर के डेनिश उपनिवेश में मिशनरियों की स्थापना कर बड़े जोर-शोर से धर्म-प्रचार का कार्य कर रहे थे, निष्कासन का आदेश दिया ही जानेवाला था कि डेनिश सरकार ने हस्तक्षेप कर बचा लिया। ७ सितंबर, १८०८ के पत्र में कोर्ट ने स्पष्टतः निर्देश किया—"We should discourage any accession to the number of Missionaries actually employed under the

protection of the British Government in India in the work of conversion."

'तू डाल-डाल, मैं पात-पात'—मद्रास में अंग्रेजी स्कूल खोलने और अंग्रेजी तथा इंजील के प्रचार करने का जो कार्य मिशनरियाँ कर रही थीं, बंगाल में वही कार्य वैयक्तिक संस्थाओं द्वारा सम्पन्न होने लगा। पहले तो १७८६ में यूरोपियनों की शिक्षा के लिए ही, कलकत्ते में एक फ्री स्कूल सोसायटी की स्थापना की गयी। उसके बाद एक मिशनरी ने ही नाम बदलकर कलकत्ता बिनिवोलेएट इन्सटिच्यूशन की स्थापना की। तत्पश्चात् गरीबों की शिक्षा-दीक्षा के नाम पर कलकत्ता स्कूलबुक सोसायटी, कलकत्ता स्कूल सोसायटी आदि की स्थापना कलकत्ते में हुई और फिर बम्बई में बम्बई नेटिव स्कूल बुक तथा स्कूल सोसायटी की आधारशिला रखी गयी।

वैयक्तिक प्रयासों में कैप्टन डोवेटन, जेनरल क्लॉड मार्टिन और डेविड हेयर के नाम उल्लेखनीय हैं। अधिकारियों में भी अनेक व्यक्तियों ने ऐसी संस्थाओं की स्थापना की। स्वयं गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने १७८१ ई० में कलकत्ता मदरसा की आधार-शिला रखी, वह भी इस विशेष उद्देश्य से कि "to qualify the sons of Muhammadan gentlemen for responsible and lucrative offices in the State, even at that largely monopolised by the Hindus"—(हॉवेल—एडुकेशन इन ब्रिटिश इण्डिया)। इस मदरसा को दो वर्ष बाद ही सरकार ने अपने अधीन ले लिया। १७९२ ई० में बनारस के रेजिडेण्ट जोनाथन डंकन ने बनारस-संस्कृत कॉलेज की स्थापना की, जिसका सारा खर्च सरकार देती थी। दक्कन के कमिश्नर ने पेशवा द्वारा स्थापित दक्षिणा-कोष के पैसे पर पूना में हिन्दुओं की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोला। और, दिल्ली में फ्रेजर ने भी अपने खर्च पर फारसी पढ़ाने के लिए एक स्कूल की स्थापना की।

बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना के निमित्त डंकन ने १ली जनवरी, १७९२ को कार्नवालिस के पास जो पत्र लिखा था, उसमें उसने संस्कृत-शिक्षा की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है—"Two important advantages seemed derivable from such an establishment, the first to the British name and nation in its tendency towards endearing our government to the native Hindoos.....The second principal advantage that may be derived from this Institution will be felt in its effects more immediately by the natives, though not without being participated in by the British subjects, who are to rule over them by preserving and disseminating a knowledge of the Hindoo law and proving a nursery of future doctors and expounders there-

of, to assist the European judges in the due, regular, and uniform administration of its genuine letter and spirit to the body of the people."

तत्कालीन शिक्षा की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए फ्रेजर ने २५ सितंबर, १८२३ को चीफ सेक्रेटरी श्री डबल्यू० बी० बेली के पास निम्नलिखित पत्र भेजा था। यह स्कूल फ्रेजर के खर्चे पर १८१४ से ही चल रहा था और अब उसकी हालत अच्छी नहीं थी।

"The master is allowed a rupee a month for each boy and each boy is allowed a seer of wheat flour a day. Without this ration the parents would not send their children to be taught for the boy's labour is lost to the family and the idle hand is not willingly supported by the rest, although in future it may be a means of raising the family affluence. In fact the schools are kept up by bribing both masters and boys, the former with an allowance of a rupee a month per boy and latter with food.··· I propose too that a general measure should be authorised for preparing a sufficient number of boys out of the peasantry to receive instruction in the primary branches of education by teaching them to read and write the Persian and Hindee, and if possible the English Language."

अर्थ यह कि शिक्षा के अभी तक छिटपुट वैयक्तिक प्रयोग ही हो रहे थे, अधिकारी संस्थाएँ आगे नहीं बढ़ रही थीं। इस छिटपुट प्रयोग का एकमात्र लक्ष्य ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना था, जो राज्य चलाने में सरकार की यत्किंचित् सहायता कर सकें, स्थानीय व्यक्तियों के धर्म, रूढ़ि, प्रणाली और व्यवस्था की गुत्थियों को शासक के सामने स्पष्ट कर सकें। इसीलिए इस शिक्षा की प्रधान दिशाएँ दो ही रहीं—संस्कृत और फारसी ; क्योंकि स्थानीय जनता के सारे रीति-रिवाज इन्हीं दो भाषाओं में लिपिबद्ध थे।

शिक्षा के माध्यम पर गंभीर विचार का सूत्रपात

१८१८ के मराठा-युद्ध तक कम्पनी सरकार को भारत की शिक्षा-व्यवस्था के भूत-वर्त्तमान-भविष्य पर सोचने की न तो इच्छा थी, और न अवकाश ही। यहाँ तक उनकी सारी शक्तियों का व्यय अपनी नवस्थापित राज्यशक्ति को दृढ़मूल करने में ही होता रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से कुछेक व्यक्तियों ने यह अनुभव करना

शुरू किया कि अधीनस्थ लोगों की शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व भी उनपर है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय व्यक्ति चार्ल्स ग्रांट नामक अधिकारी था। ग्रांट आगे चलकर कम्पनी के डायरेक्टरों में एक बने और फिर इंगलैंड की संसद् की लोक-सभा के सदस्य भी। १७६२ में ही आपने एक पुस्तिका प्रकाशित की थी—Observations on the state of society among the Asiatic Subjects of Great Britain particularly with respect to Morals; and on the means of improving it." १७६७ में उन्होंने कम्पनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के सामने यह पुस्तिका रखी और उन्हें बाध्य किया कि वे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करें। इस पुस्तिका का प्रारम्भ इस सुझाव के साथ हुआ था कि कम्पनी के डायरेक्टर तथा इंगलैंड की जनता, भारत के विशाल जन-वर्ग की सुख-समृद्धि के लिए प्रयत्न करने का अपना दायित्व समझे। उसके बाद इसमें भारतीय जनता, और विशेषकर बंगाली भद्र-समाज की मनःस्थिति का अतिशयोक्तिपूर्ण, पर सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत किया गया है और उसमें सुधार की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। ग्रांट ने सामान्य अशिक्षा को ही भारतीय जनता के सभी ढोंगों का कारण बताते हुए सुधरी हुई परिष्कृत शिक्षा की आवश्यकता पर जोर डाला। यही वह सज्जन है, जिसने पहली बार भारतीयों की शिक्षा के माध्यम पर विचार किया है और अंग्रेजी पर इसलिए विशेष जोर दिया है कि वह "Vehicle for imparting Western Ideas, that is our superior light" है।

१८११ में लॉर्ड मिण्टो ने भी अशिक्षा को दूर करने के लिए एक छोटी-सी रिपोर्ट तैयार की। इसी वर्ष कम्पनी-सरकार ने नदिया और तिरहुत में हिन्दू-संस्कृति के अध्ययन के लिए दो कॉलेज खोलने का निश्चय किया, पर यह योजना असफल रही। इन दोनों के बदले १८२१ में, कलकत्ते में, बनारस-संस्कृत कॉलेज के अनुकरण पर एक हिन्दू-संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गयी। २१ अगस्त, १८२१, को तैयार इस कॉलेज के उद्देश्य की रूपरेखा में स्पष्टतः उल्लिखित है—"The Committee will bear in mind the immediate object of the institution is the cultivation of Hindu Literature. Yet it is in the judgment of His Lordship in Council, a purpose of much deeper interest to seek every practicable means of effecting the gradual diffusion of European knowledge."

इस बीच गैर-सरकारी हलकों में भी इस विषय पर खूब सोचा-समझा जा रहा था। शिक्षा की आवश्यकता पर सभी सोचनेवाले कुछ-न-कुछ सोच रहे थे और कम्पनी के 'बाबू' बनकर अधिक-से-अधिक लाभ उठाने और सामाजिक प्रतिष्ठा पाने को व्याकुल हो रहे थे। बंगालियों के साथ 'बाबू' शब्द इसी समय से प्रतिष्ठा के साथ

जुटने लग गया था और किरानी बनने की प्रवृत्ति उनमें इसी समय से जाग्रत् हुई थी। उन्होंने कुछ मिशनरियों और संभ्रान्त व्यक्तियों की सहायता से १८१७ में, कलकत्ते में एक महापाठशाला या हिन्दू कॉलेज की स्थापना की। बाद चलकर इसी का नाम Anglo Indian College पड़ा। पादरी डा० डफ ने इस संस्था के सम्बन्ध में लिखा है—"The very first English Seminary in Bengal, or even in India, as far as I know."

१८५५ में यही संस्था प्रेसिडेंसी कॉलेज कहलाने लगी। हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद इसी कॉलेज की उपज थे। १८१८ में श्रीरामपुर में Baptist Mission College की स्थापना हुई और १८२० में कलकत्ते में Bishops College की। पादरी ही वे पहले लोग थे, जिन्होंने देश में अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान के अध्ययन का साथ-साथ बीजारोपण किया था और ये दोनों अन्योन्याश्रित माने जाने लगे थे।

राजा राममोहन राय का 'क्रांतिकारी' पत्र

११ दिसम्बर, १८२३ ई० को राजा राममोहन राय ने गवर्नर-जेनरल एमहर्स्ट को एक लंबा पत्र भेजा, जिसमें संस्कृत-पठन-पाठन-प्रणाली की ऐसी खिल्ली उड़ायी गयी है कि वह पढ़ने योग्य ही है। मैं नहीं जानता, भारतवर्ष के कितने लोग इस 'आधुनिक भारत की जागृति के अग्रदूत' के इस 'क्रांतिकारी' पत्र के सम्बन्ध में जानते हैं। पाठक इस लंबे पत्र से अधिक उद्धरण प्रस्तुत करने के लिए मुझे क्षमा करेंगे; क्योंकि यह एक ऐसा पत्र है, जिसकी हजार-हजार प्रतियाँ छपवाकर वितरित की जानी चाहिये। पहले तो राजा राममोहन राय ने सरकार की काफी प्रशंसा की है, पर्याप्त विनयशीलता प्रदर्शित की है, और तब लिखा है—

"My Lord,

While we looked forward with pleasing hope to the dawn of knowledge thus promised to the rising generation, our hearts were filled with mingled feelings of delight and gratitude ; we already offered up thanks to Providence for inspiring the most generous and enlightened of the Nations of the West with the glorious ambitions of planting in Asia the arts and sciences of modern Europe.

We now find that the Government are establishing a Sangscrit school under Hindoo Pundits to impart such knowledge as is already current in India. This Seminary

(similar in character to those which existed in Europe before the time of Lord Bacon) can only be expected to load the minds of youth with grammatical niceties and metaphysical distinctions of little or no practicable use to the possessors or to society. The pupils will there acquire what was known two thousand years ago, with the addition of vain and empty subtilties since produced by speculative men, such as is already commonly taught in all parts of India.

The sangscrit language, so difficult that almost a lifetime is necessary for its perfect acquisition, is well known to have been for ages a lamentable check on the diffusion of knowledge ; and the learning concealed under this almost impervious veil is far from sufficient to reward the labour of acquiring it. But if it were thought necessary to perpetuate this language for the sake of the portion of the valuable information it contains, this might be much more easily accomplished by other means than the establishment of a new Sangscrit College ; for there have been always and are now numerous professors of Sangscrit in the different parts of the country, engaged in teaching this language as well as the other branches of Literature which are to be the object of the new Seminary. Therefore, their more diligent cultivation, if desirable, would be effectually promoted by holding out premiums and granting certain allowances to those most eminent professors, who have already undertaken on their own account to teach them, and would by such rewards be stimulated to still greater exertions."

इसके पश्चात् राजा राममोहन राय ने संस्कृत-व्याकरण, वेदांत, मीमांसा, न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन की व्यर्थता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"No improvement can be expected from inducing young men to consume a dozen of years of the most

valuable period of their lives in acquiring the niceties of the Byakurun or Sangscrit Grammar. For instance, in learning to discuss such points as the following : "khad" singnifying to eat, "khaduti", he or she or it eats. Query, whether does the word 'khaduti,' taken as a whole, convey the meaning he, she, or it eats, or are separate parts of this meaning conveyed by distinct portions of the word ? As if in the English Language it were asked, how much meaning is there in the 'eat,' how much in the 's' ? and is the whole meaning of the word conveyed by those two portions of it distinctly, or by them taken jointly ?

Neither can much improvement arise from such speculations as the following, which are the themes suggested by the Vedant :—In what manner is the soul absorbed into the deity ? What relation does it bear to the divine essence ? Nor will youths be fitted to be better members of society by the Vedantic doctrines, which teach them to believe that all visible things have no real existence; that as father, brother, etc., have no actual entirety, they consequently deserve no real affection, and therefore the sooner we escape from them and leave the world the better. Again no essential benefit can be derived by the student of the Meemangsa from knowing what it is that makes the killer of a goat sinless on pronouncing certain passages of the Veds, and what is the real nature and operative influence of passages of the Ved, etc.......

In order to enable your Lordship to appreciate the utility of encouraging such *Imaginary Learning* as above characterised, I beg your Lordship will be pleased to compare the state of science and literature in Europe before the time of Lord Bacon, with the progress of knowledge made since he wrote.

"If it had been intended to keep the British nation in ignorance of real knowledge the Baconian Philosophy would not have been allowed to displace the system of the schoolmen which was the best calculated to perpetuate ignorance. *In the same manner the Sangskrit system of education would be the best calculated to keep this country in darkness, if such had been the policy of the British Legislature.* But as the improvement of the native population is the object of the Government, it will consequently promote a more liberal and enlightened system of instruction embracing mathematics, natural philosophy, chemistry and anatomy, with other useful sciences which may be accomplished with the sum proposed by employing a few gentlemen of talents and learning educated in Europe, and providing a college furnished with the necessary books, instruments and other apparatus."

मैकॉले के तर्क और अंग्रेजी की विजय

उपर्युक्त पत्र में दो बातें ध्यान देने की हैं। राममोहन राय ने पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन पर जोर डाला है, और शिक्षा के माध्यम पर प्रकाश नहीं डाला है। पर मैं पहले ही बता चुका हूँ, पाश्चात्य ज्ञान और अंग्रेजी भाषा अन्योन्याश्रित समझे जा रहे थे। अंग्रेजों ने भारतीयों द्वारा ही आधा मसला हल करवा लिया—अब प्रश्न रह गया सिर्फ आधे का, यानी माध्यम क्या हो? ऊपर जिस प्रेसिडेन्सी कॉलिज की बात की गयी है, उसमें राजा राममोहन राय और अलेक्जेण्डर डफ के प्रयत्न से अंग्रेजी शिक्षा का बीजारोपण हो चुका था। इस कॉलेज में देशी भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद ही अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी—यानी उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी एक तरह से अनिवार्य समझ ली गयी। डफ और राय को यहाँ अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। अपने प्रयोगों द्वारा उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा की संभावनाओं और उन्हें हृदयंगम कर लेने की बुद्धिमत्ता—दोनों को इस प्रकार सिद्ध किया कि लार्ड विलियम बेंटिक को लिखना पड़ा—"I have always considered the Hindu College as one of the greatest engines of useful purpose that had been erected since our establishment in India".

ईस्ट इण्डिया कंपनी के अधीन एक कमिटी ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शन काम कर रही थी, जो शिक्षा की व्यवस्था करती थी, पाठ्य पुस्तकों के निर्माण, प्रकाशन और वितरण का प्रबंध करती थी। इस कमिटी में शिक्षा के माध्यम को लेकर दो दल थे। एक दल संस्कृत-अरबी को शिक्षा का माध्यम रखना चाहता था, और उसका नेतृत्व कर रहे थे—एच० टी० प्रिंसेप महोदय। ६ जुलाई, १८३४ को इनका एक मिनट प्रकाशित हुआ, जिसमें इन्होंने संस्कृत-अरबी की तरफदारी की। पुनः इनके सभी तर्कों का खंडन करते हुए २ फरवरी, १८३५ को टी० बी० मैकॉले महोदय का वह प्रसिद्ध मिनट प्रकाशित हुआ, जो आधुनिक भारतीय शिक्षा-पद्धति का मैगनाकार्टा समझा जाता है। मैकॉले क्लाइव से भी बड़ा जेनरल सिद्ध हुआ। क्लाइब का साम्राज्य समाप्त हो गया, पर मैकॉले ने जिस अँग्रेजी-साम्राज्य की गहरी नींव इस मिनट के द्वारा तैयार की, वह आज भी कायम है; और जब भारत के दर्शन-शास्त्री राष्ट्रपति और शिक्षा-शास्त्री उपराष्ट्रपति, अपनी देशी भाषाओं और विधान द्वारा स्वीकृत राजभाषा को छोड़ अंग्रेजी में ही शपथ-ग्रहण करने में अपनी अंतरराष्ट्रीय व्यापकता का बोध करते हैं तो कौन है, जो कह सके कि इस देश में अंग्रेजी-साम्राज्य की नींव कभी हिल भी पायगी ?

मैकाले का यह मिनट काफी लंबा है, पर इसके प्रधान अंशों का उद्धरण मैं यहाँ इसलिए उपस्थित करता हूँ कि पाठक सोचें—अंग्रेजी माध्यम अपनाने का वास्तविक कारण क्या था ?

(१) मैकॉले ने सर्वप्रथम, प्रचलित देशी भाषाओं की स्थिति पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

All parties seem to be agreed on one point, that the dialects commonly spoken among the natives of this part of India contain neither literary nor scientific information, and are, moreover, so poor and rude that, *until they are enriched from some other quarter*, it will not be easy to translate any valuable work into them. It seems to be admitted on all sides that the intellectual improvement of those classes of the people who have the means of pursuing higher studies can at present be effected only by means of *some language not vernacular* amongst them.

(२) तब वह कौन-सी भाषा होगी ? आधे लोग अंग्रेजी की बातें करते हैं, बाकी लोग अरबी-संस्कृत की। मैकॉले ने स्वीकार किया है कि उन्हें संस्कृत-अरबी का कतई ज्ञान नहीं। पर, कतिपय अनुवादित ग्रंथों के अध्ययन तथा देशी-

विदेशी प्राच्यविद्या-विशारदों के साथ यहाँ और इंगलैंड में हुए अपने विचार-विमर्शों के आधार पर उन्होंने घोषणा की—

I am quite ready to take the oriental learning at the valuation of the orientalists themselves. I have never found one among them who could deny that *a single self of a good European Library was worth the whole native literature of India and Arabia.* The intrinsic superiority of the Western Literature is indeed fully admitted by those members of the committee who support the oriental plan of education.

(३) मैकॉले ने बड़ी सदाशयता प्रदर्शित करते हुए स्वीकार किया है कि एक ही क्षेत्र में इन भाषाओं ने प्रगति की है—काव्य लिखने में। निस्संदेह, इस क्षेत्र में वे हमारी यूरोपीय भाषाओं से कुछ आगे पड़ते हैं—

But when we pass from works of imagination to works in which facts are recorded and general principles investigated; the superiority of the Europeans becomes absolutely immeasurable. *It is, I believe, no exaggeration to say that all the historical information which has been collected from all the books written in Sanscrit language is less valuable than what may be found in the most paltry abridgements used at preparatory schools in England.*

(४) तब तथ्य क्या है? मैकॉले ने पहला निर्णय दिया कि हमें एक ऐसे विशाल जनमूह को शिक्षा प्रदान करना है, जिसकी सबल-से-सबल मातृभाषाएँ भी अक्षम हैं और पुरानी-से-पुरानी सांस्कृतिक भाषा भी निरर्थक है। *We must teach them some foreign language.*

(५) उसके बाद अंग्रेजी की सक्षमता का विवरण है—

(अ) It may safely be said that the literature now extant in that language is of greater value than all the literature which three hundred years ago was extant in all the languages of the world together.

(आ) In India, English is the language spoken by the ruling class. It is spoken by the higher class of natives *at the seats of government.*

(इ) It is likely to become the language of Commerce throughout the seas of the East.

(ई) It is the language of two great European Communities which are rising, the one in the south of Africa, the other in Australasia—Communities which are every year becoming more important and more closely connected with our Indian Empire.

(उ) Whether we look at the intrinsic value of our literature, or at the particular situation of this country, we shall see the strongest reason to think that, *of all foreign tongue, the English tongue is that which would be the most useful to our native subjects.*

इस तर्क को बल देने के लिए मैकॉले ने एक ओर संस्कृत भाषा और साहित्य की दुरूहता, पौराणिकता और कपोलकल्पनात्मकता पर, तथा दूसरी ओर संस्कृत की तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर बड़े खुभनेवाले व्यंग्य किये हैं। यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि संस्कृत और अरबी स्कूलों में लड़कों को अनिवार्यतः वृत्तियाँ (स्टाइपेंड्स) दी जाती थीं, दूसरी ओर अंग्रेजी स्कूलों में उनसे फीस ली जाती थी। फिर भी अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षार्थी अधिक-से-अधिक संख्या में आते थे। संस्कृत-अरबी स्कूलों में शिक्षार्थी सिर्फ वृत्ति पाने के लोभ से ही दाखिल होते थे। फल यह हुआ कि संस्कृत कॉलेजों के छात्रों ने सम्मिलित रूप में एक निवेदन-पत्र गवर्नर-जेनरल के पास भेजा कि इन कॉलेजों से निकलने पर उन्हें कहीं रोजी भी नहीं प्राप्त होती। उन्होंने तर्क दिया था कि सरकार उन्हें वृत्ति दे-देकर पढ़ाती रही है, इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि वह उन्हें नौकरी भी दे, जिससे वे प्रतिष्ठा के साथ अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने में समर्थ हो सकें। मैकॉले ने इन तथ्यों को अपनी जिरह का आधार बनाया—

(६) These are surely the first petitioners who ever demanded compensation for having been educated gratis, for having been supported by the public during 12 years and then sent forth into the world well furnished with literature and science—They have wasted the best years of life in learning what procures for them neither bread nor respect.

(७) The people of India do not require to be paid for eating rice, when they are hungry, or for wearing

woollen cloth in the cold season.······why then is it ncessary to pay people to learn Sanscrit and Arabic ?

(८) मैकॉले ने कहा कि यह आश्चर्य की बात है कि अधिक बुद्धिमान जाति मूर्ख जाति की शिक्षा का भार ले और उससे ही पूछे कि तुम्हें क्या पढ़ाया जाय ? पाठ्य-क्रम का निर्धारण शिक्षक करते हैं, शिक्षार्थी नहीं। इसलिए, यहाँ के निवासियों को क्या पढ़ाना है—यह बताना हमारा कर्त्तव्य है, उन लोगों का नहीं, जिन्हें यह भी पता नहीं कि यह चाँद क्या है, ये तारे क्या हैं ? यदि भारतवासी ये फिजूल की बातें पढ़ना भी चाहें तो हम उन्हें ऐसा नहीं करने देंगे—"It would be bad enough to consult their intellectual taste at the expense of their intellectual health."

(९) संस्कृत विद्या का मजाक उड़ाते हुए मैकॉले ने लिखा—संस्कृत में है ही क्या ?···"medical doctrines which would disgrace an English farrier, astronomy which would move laughter in girls at an English Boarding School, history abounding with kings thirty feet high and reigns thirty thousand years long, and geography made of seas of treacle and seas of butter."

मैकॉले के उद्देश्य और उपसंहार

मैकॉले ने एक ही लाठी से सबकी मरम्मत की और यहाँ तक कि धर्म को भी नहीं छोड़ा, जो कि अंग्रेजों की दृष्टि में राजनीतिक अछूत घोषित कर दिया गया था—

It is confessed that the language (Sanscrit) is barren of useful knowledge. We are to teach it because it is fruitful of monstrous superstitions. We are to teach false history, false astronomy, false medicine, because we find them in company with a *False religion.*

शिक्षा के माध्यम के रूप में अँग्रेजी को शीघ्रातिशीघ्र प्रतिष्ठित करने के इन सारे तर्कों के बाद मैकॉले ने अँग्रेजी के गुणों और साम्राज्य के उद्देश्यों की भी चर्चा की और इसके लिए राजा राममोहन राय-ऐसे भारतीयों के तर्कों का सहारा लिया—English is better worth knowing than Sanscrit or Arabic, that the natives are desirous to be taught English, and are not desirous to be taught Sanscrit or Arabic, that neither as the languages of law nor as the languages of religion have the Sanscrit and Arabic any peculiar claim to our encouragement, that it is possible to

make natives of this country thoroughly good English scholars, and that to this end our efforts ought to be directed.

'तन से भारतीय और मन से अंग्रेज'—वाला एक नया बाबू - वर्ग

अंग्रेजी-शिक्षा के सबसे बड़े उद्देश्य का संकेत करते हुए मैकॉले ने स्पष्ट लिखा—

We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern—*A class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect.*

मिनट के अन्त में मैकॉले ने यहाँ तक लिख दिया कि यदि सरकार को हमारे सुझाव मान्य हों तो मैं इस नयी शिक्षा-पद्धति को लागू करने में सबसे अधिक उत्साह के साथ पिल जाऊँगा, और यदि ये मान्य नहीं हों तो मेरी विनीत प्रार्थना है कि मुझे इस कमिटी की अध्यक्षता से मुक्त होने की अनुमति प्रदान की जाय। मैकॉले का ब्रह्मास्त्र काम कर गया और गवर्नर-जेनरल विलियम बेंटिक ने उस मिनट पर अपना हस्ताक्षर करते हुए सिर्फ एक ही पंक्ति लिखी—"I give my entire concurrence to the sentiments expressed in this minute."

आरम्भ में अंग्रेज क्यों रुके रहे, बाद में उन्होंने क्यों संस्कृत, फारसी और अरबी को प्रोत्साहन दिया और फिर वे कैसे अंग्रेजी की अनिवार्यता तक आ गये—इन बातों को लेकर काफी आलोचना चलती है। एक मत यह है कि शिक्षा-प्रचार के पीछे ईसाई धर्म-प्रचारकों का जो इतना बड़ा समर्थन रहा, उसका कारण यह था कि वे भारतीयों के बीच अपने ढंग की शिक्षा-पद्धति चलाकर इस देश को क्रिस्तान बनाना चाहते थे। वस्तुतः उस समय यह लहर तेजी से चली भी थी। पाश्चात्य संपर्क के बाद भारत में जो पहले मेधावी गणितज्ञ निकले,—रामचन्द्र, क्रिस्तान थे; सुप्रसिद्ध कवयित्री तारुदत्त, उनके पिता गोविन्दचन्द्र दत्त, बंगाल में अंग्रेजी के पहले विद्वान साहबचन्द्र बनर्जी, आधुनिक बंगला काव्य के अग्रदूत माइकेल मधुसूदन और बंगला लोक-कथाओं के पहले संग्रह-कर्त्ता लाल बिहारी डे—सभी नये क्रिस्तान थे। इनके अलावे जो क्रिस्तान नहीं बन पा रहे थे, वे भी मन से अंग्रेज तो जरूर ही बनते जा रहे थे। अपने धर्म, भाषा, संस्कृति और संस्कार के प्रति घृणा और उपेक्षा-भाव प्रदर्शित करना एक फैशन बन गया था, और शायद आधुनिकता का परिचायक भी। के० एम० पणिक्कर साहब ने भी इसका समर्थन करते हुए लिखा है—"It is true

that the authors of the scheme had hoped that as a result of infiltration, Hindu Society which was then considered to be in the process of dissolution would disappear and the population of India would be saved for Christ."

दूसरी-आलोचना मैकॉले के उस वाक्य को लेकर है, जिसका अर्थ होता है तन से भारतीय, मन से अंग्रेज। यह बात बहुत दूर तक सत्य सिद्ध हुई। एक ऐसा दल बनता चला गया, जो क्रमशः अपने ही लोगों के बीच अजनबी बन गया। इस दल ने मिशनरीवालों से भी आगे बढ़कर हिन्दुत्व की निन्दा की, मदिरा-पान आदि शुरू किया।

इससे अनेक लाभ भी हुए। विश्व के अनेक देशों और उपनिवेशों से पहले ही हमने पाश्चात्य ज्ञान प्राप्त किया, वहाँ के विचारों से हम परिचित हुए; और संभवतः, जापान को छोड़ संपूर्ण एशिया में सर्वप्रथम नवजागरण का शंख फूँका; अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट हुए।

पर यहाँ, एक और तत्त्व पर विचार कर लेना है। ज्ञान और ज्ञान का माध्यम भाषा, दोनों दो चीजें हैं। हम यदि उसी समय पाश्चात्य ज्ञान को अपनी भाषा के माध्यम से ग्रहण करते तो आज जो इतनी भाषागत समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, उनकी स्थिति नहीं रहती। अंग्रेजों ने होशियारी से दोनों को अन्योन्याश्रित कर दिया, पर यह हमारी अदूरदर्शिता थी कि हमने वैसा होने दिया।

संघर्ष की दूसरी लहर—उर्दू और हिन्दुस्तानी

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, निश्चयात्मक रूप से सिपाही-विद्रोह के पश्चात्, जबकि देश में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, तब पुनः इस प्रश्न को लेकर एक संघर्ष शुरू हुआ। १८५७ का सिपाही-विद्रोह 'Superior Lights' देनेवाले ग्रांट के वंशजों को भी एक नयी सीख दे गया। इस घटना ने अंग्रेजों को राजनीतिक दृष्टि से सोचने के लिए बाध्य किया और अपनी पुरानी नीतियों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता बतायी। फल यह हुआ कि शासक अब जीवन के सभी क्षेत्रों में हिन्दू-मुसलमान के बीच भेद-भाव बरतने लगे, और भाषा के संघर्ष को उन्होंने एक हथकंडे का रूप दिया। १८७० के आस-पास John Beames और F. S. Growse ने क्रमशः उर्दू और हिन्दी के पक्ष में लेख निकालना शुरू किया। बीम्स भाषा में फारसी-अरबी तत्त्वों को कायम रखने के पक्षपाती थे, सितारेहिन्द इनका साथ दे रहे थे; ग्राउजे महोदय संस्कृत-तत्त्वों को प्रश्रय देने के पक्ष में थे, राजा लक्ष्मण सिंह इनका समर्थन कर रहे थे। इस संघर्ष का विवरण देते हुए अपने भाषा-सर्वेक्षण में ग्रियर्सन महोदय ने लिखा—Unfortunately the most powerful English influence has during this period

been on the side of the Sanskritists. This Sanskritized Hindi has been largely used by missionaries, and translations of the Bible have been made into it." उधर कचहरी की भाषा फारसी-अरबी मिश्रित उर्दू थी। १८७० से ही इसके विरुद्ध भी आन्दोलन शुरू हुए और १६०१ के आस-पास हिन्दी-प्रदेशों में हिन्दी को स्वीकृति दी गयी।

१६३५ में महात्मा गांधी हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए और राष्ट्र-भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने प्रस्ताव में उसका नाम 'हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी' स्वीकार किया। १६३७ में आठ प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने शासन-भार सम्हाला और उनके कार्यक्रम का एक प्रधान अंग था—राष्ट्रभाषा की उन्नति। इसी उन्नति के क्रम में हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी का संघर्ष शुरू हुआ। इस समय तक सभी नेता इस विषय पर एकमत थे कि हम जैसे ही स्वतंत्र होंगे, सबसे पहले दो काम करेंगे—सभी अंग्रेजों को जहाज पर बिठाकर बम्बई से रवाना कर देंगे और उसके बाद अंग्रेजी को हवाई जहाज से इंगलैंड पार्सल कर देंगे। अंग्रेजों का स्थान लेने को वे स्वयं तैयार थे ही, पर अंग्रेजी का स्थान लेने को कोई भाषा तैयार नहीं हो पायी थी। इसलिए वे चाहते थे कि कोई ऐसी भाषा हो, जिसे हम अंग्रेजी का स्थान लेने को तो तैयार कर ही लें, साथ-ही-साथ उसे हिन्दू और मुसलमान—दोनों का सहयोग भी प्राप्त हो सके। उस समय हमारी सारी राजनीति इन्हीं तीन बिन्दुओं को लेकर चल रही थी—अंग्रेज, हिन्दू और मुसलमान। एक को भगाना था, दूसरे को मिलाना। हिन्दुस्तानी इसी राजनीति की संतान थी। हिन्दुस्तानी के राजनीतिक रूप तथा उसको लेकर उठे हिन्दी-उर्दू-संघर्ष पर तो हम 'राजभाषा'-शीर्षक निबंध में विस्तार से विचार कर चुके हैं, यहाँ हम उसके शैक्षणिक रूप पर ही विचार करेंगे।

१६३७ में बिहार के कांग्रेसी-मंत्रिमंडल के शिक्षा-मंत्री थे स्वनामधन्य डा० सैयद महमूद, जिन्होंने बड़े उत्साह से साक्षरता-आंदोलन चलाया था और उसका माध्यम हिन्दुस्तानी को बनाया था। इसी उद्देश्य से उन्होंने सरकार की ओर से एक 'रोशनी' पत्रिका भी निकाली थी, जिसकी भाषा का नमूना इस प्रकार का था—"खुदा स्कूल मजकूर की इन्सप्रेक्ट्रेस साहिबा व जमेय्या अफसरान व डाक्टर महमूद साहिब का दोनों जहाँ में रुतबा बलंद करे, जिन्होंने मेरे मुहल्ले में भी नाइट क्लास कायम करके हम गरीबों को रात को फुरसत के मौके में जमये हैवानियत से उतरकर जमये इन्सानियत से आरस्त होने का मौका बक्शा।"—(२१ नवंबर, १६३६)

यहीं तक इतिश्री नहीं थी। पाठ्य पुस्तकों तक में राम के लिए शाहजादा और सीता के लिए बेगम का प्रयोग खुलकर होने लगा। इस आंदोलन को, इसलिए कि गांधीजी का आशीर्वाद और नेताओं का समर्थन प्राप्त था, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के आवेश में हिन्दू जनता ने हिचकते-हिचकते ही सही, पर पूरा बल दिया। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसका सबसे कड़ा विरोध मुसलमानों की ओर से ही हुआ।

वे राजनीतिक क्षेत्र में तो नहीं, पर कम-से-कम शिक्षा के क्षेत्र में मुस्लिम राज्य के पुनःस्थापन का स्वप्न देखने लगे। वे एक भी संस्कृत शब्द को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उर्दू के मुखपत्र 'हमारी जवान' में धमकी दी गयी—"अगर इसमें (हिन्दुस्तानी में) सहल उर्दू के सिवा अनासीर शामिल किये गये तो न सिर्फ इसका चलना मुमकिन न होगा, बल्कि जो थोड़ा-बहुत रवाज इसको मिलेगा, वोह मुल्क में और फ़साद पैदा करेगा।"

वास्तव में स्थिति यह है—

संपूर्ण देश में प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ ही हैं; अंतर केवल यह है कि जहाँ प्रादेशिक भाषा से भिन्न मातृभाषावाले छात्र पर्याप्त संख्या में हैं, वहीं उनकी मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा देने का प्रबंध किया जाता है। १९४८ में शिक्षा-सम्बन्धी केन्द्रीय परामर्श-दातृ-समिति ने इसपर काफी विस्तार से विचारकर यह निर्णय दिया कि—"The medium of instruction in the Junior Basic stage must be the mother-tongue of the child and that, where the mother-tongue was different from the Regional or State language, arrangements must be made for instruction in the mother-tongue by appointing atleast one teacher to teach all the classes, provided there are atleast 40 such pupils in a school." कतिपय राज्यों में प्राथमिक स्तर के अंतिम वर्ग से हिन्दी की भी शिक्षा दी जाने लगती है। बाल-मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का मत है कि बचपन के प्रारंभिक वर्ष नयी भाषाओं के सीखने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। शायद इसीसे प्रभावित होकर ऐसा किया जाता है।

माध्यमिक स्तर पर भी शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ ही हैं, पर यहीं शिक्षा के माध्यम की समस्या विकट रूप से उपस्थित भी होती है। माध्यमिक शिक्षा किसी भी राष्ट्र की समस्त शैक्षणिक प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विवर्त-संधि है, वह हमारी शैक्षणिक संरचना का केन्द्रीय वृत्तखंड है और सर्वोपरि किसी भी प्रकार के सर्वोच्च शिक्षा-प्रासाद का सिंहद्वार है। इसीलिए, उसकी अंतिम परीक्षा को प्रवेशिका-परीक्षा की संज्ञा दी गयी है। यह प्राथमिक शिक्षा का प्रसरण है, और विश्वविद्यालय-शिक्षा का प्रस्थान-बिन्दु भी। इसलिए इसके माध्यम का प्रश्न जटिल हो जाता है। उसे एक ओर प्राथमिक शिक्षा के माध्यम से भी सम्बद्ध रहना है और दूसरी ओर विश्वविद्यालय-शिक्षा के माध्यम की भी पूरी तैयारी करनी पड़ती है। विश्वविद्यालय-शिक्षा का माध्यम, प्रधानरूपेण अभी अंग्रेजी ही है, गो कि कई विश्वविद्यालयों ने प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी के प्रयोग की अनुमति कई निकायों में दे दी है और इस प्रकार अंग्रेजी के क्रमशः निरसन का पथ प्रशस्त किया है। कम-से-कम, हिन्दी-भाषी प्रदेशों में स्थित विश्वविद्यालयों में तो कला-निकाय में स्नातक-कक्षाओं तक हिन्दी

विकल्परूपेण व्यवहृत है ही। अन्य निकायों में अभी तक अंग्रेजी का ही बोलबाला है और स्नातकोत्तर और तकनीकी क्षेत्रों में तो उसका सर्वाधिकार सुरक्षित ही है।

लगभग सभी हिन्दी-भाषी और कतिपय अ-हिन्दी-भाषी राज्यों में भी, माध्यमिक स्तर पर भाषा के रूप में हिन्दी एक अनिवार्य विषय है, कुछेक में वैकल्पिक। कुछ राज्यों में इसके पठन-पाठन की सुविधाएँ हैं, कुछेक में वह स्कूल के अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर है। पुनः, कुछ राज्यों में वैकल्पिक होते हुए भी इसमें सफलता प्राप्त करना अनिवार्य है, कुछेक में अनावश्यक। इन स्थितियों पर विचार कर भारत-सरकार द्वारा संगठित माध्यमिक-शिक्षा-बोर्ड ने यह निर्णय दिया कि माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाओं का पठन-पाठन संपूर्ण भारत में अनिवार्य कर दिया जाय—मातृभाषा के रूप में कोई प्रादेशिक भाषा, हिन्दी और अंग्रेजी। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में जिन छात्रों की मातृभाषा हिन्दी है, वे कोई अन्य प्रादेशिक भाषा अनिवार्य रूप से सीखें। इसके अनुसार पहले तो उत्तर-प्रदेश-सरकार ने यह निश्चय किया कि वह सभी माध्यमिक स्कूलों में इस तीन भाषाओंवाली योजना को जुलाई १९६२ से ही लागू करेगी। पर जब जुलाई माथे पर आ गयी तब अधिकारियों को होश आया कि इस योजना का कार्यान्वयन कितना कठिन है। इस योजना के अंतर्गत सभी स्कूलों में १३ प्रादेशिक भाषाओं के पठन-पाठन के लिए कम-से-कम १३ शिक्षकों की नियुक्ति आवश्यक हो गयी। एक तो इतने शिक्षक मिल नहीं पायँगे, दूसरे इसमें खर्च भी बहुत बैठेगा। फलतः उत्तरप्रदेश-सरकार ने इसे तत्काल स्थगित कर दिया और स्थिति पूर्ववत् ही रही।

राजभाषा-आयोग के विचार

प्रथम राजभाषा-आयोग ने अपनी रिपोर्ट में शिक्षा के माध्यम पर विस्तार से विचार किया है। यदि हम संविधान द्वारा स्वीकृत इस धारा को पूरी ईमानदारी से कार्यान्वित करने का विचार कर लें कि देवनागरी में लिखित हिन्दी भारत की राजभाषा है और उसे १९६५ तक संपूर्ण भारत में अंग्रेजी का स्थानापन्न बनाना ही है तो राजभाषा-आयोग द्वारा दिये गये निर्णय बहुत हद तक समीचीन माने जा सकते हैं। आयोग का कहना है कि साधारणतः १४ वर्ष के सभी छात्र लगभग आठ वर्ष स्कूलों में बिता चुके रहते हैं और इस बीच वे मातृभाषा के रूप में किसी-न-किसी प्रादेशिक भाषा का अध्ययन अच्छी तरह कर चुके रहते हैं। प्राथमिक स्तर पर तो प्रारम्भ के चार वर्ष वे मातृभाषा सीखने-समझने-बूझने में लगाते ही हैं, साथ-साथ उन्हें यह भी चाहिए कि शेष तीन-चार वर्ष वे भारत की राजभाषा (हिन्दी) सीखने में लगावें। इस स्तर पर हिन्दी सीखना उनके लिए अनिवार्य घोषित कर दिया जाय और इसके पठन-पाठन की सभी समुचित सुविधाएँ उन्हें संपूर्ण भारत में दी जायँ। "We consider it essential to provide for a minimum of three

or four years of instruction in Hindi, the language of the Union, for all children, within the compulsory age-limit of fourteen years complete." आयोग का विश्वास है कि अधिकांश प्रादेशिक भाषा-भाषी छात्रों को इसलिए अधिक कठिनाई नहीं होगी कि उनकी प्रादेशिक भाषाओं की प्रवृत्ति, प्रकृति, संस्कार, शब्द आदि राजभाषा हिन्दी से मिलते-जुलते हैं; और जिन क्षेत्रों में ये भाषागत समानताएँ न्यून हैं, वहाँ भी समाचार-पत्रों, रेडियो, सिनेमा आदि के माध्यम से यह स्थिति उत्पन्न की जा सकती है कि उन्हें कम-से-कम कठिनाइयों का सामना करना पड़े। इससे एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि १४वें वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते लगभग सभी छात्र राजभाषा से तो परिचित हो ही जायँगे, साथ-साथ उनमें राष्ट्र की व्यापक भावना भी जग सकेगी।

दूसरी ओर, आयोग स्नातकों के लिए यह परमावश्यक समझता है कि वे अंग्रेजी या किसी भी समुन्नत विदेशी भाषा के माहिर हों, जिससे उनके हाथों में ज्ञान की 'कुंजी' आ सके, वे उस 'गवाक्ष' तक पहुँच सकने में समर्थ हों, जिसके उस पार ज्ञान का महासागर लहरा रहा है—कम-से-कम, तबतक तो अवश्य ही, जबतक कि भारतीय भाषाएँ उतनी ही समुन्नत और समृद्ध नहीं बन जाती हैं। और उस समुन्नति तथा समृद्धि तक पहुँचने में अभी इन्हें न जाने कितने दशक लगेंगे। अंग्रेजी-शिक्षा की हमारे यहाँ एक सुनिश्चित परंपरा है, और वह भाषा विश्व की सर्वाधिक समुन्नत भाषा है, विश्व की समस्त ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी प्रगतियों को हम तक पहुँचानेवाली एक सुदृढ़ 'पाइपलाइन' है। अतएव आयोग ने शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी भाषा तथा 'द्वितीय भाषा' के रूप में पठित अंग्रेजी भाषा के बीच एक विभाजक रेखा खींचते हुए यह मत दिया है—"While we welcome its progressive elimination as the medium of instruction, we are conscious of the necessity for maintaining adequate provisions and standards for its imparting its knowledge as a language, at appropriate stages and in appropriate faculties in our Universities."

भारत-सरकार ने कम-से-कम सिद्धांत रूप में यह तो स्वीकार कर ही लिया है कि सभी अहिन्दी-भाषी राज्यों में माध्यमिक स्तर पर हिन्दी का पठन-पाठन एक अनिवार्य विषय के रूप में तत्क्षण लागू कर दिया जाय, जिससे आगे आनेवाली पीढ़ियाँ उससे एकदम अपरिचित न रह सकें। राज्य-सरकारों को यह सिद्धांत स्वीकार कर लेने के लिए केन्द्रीय सरकार आज दस वर्षों से दबाव डाल रही है। असम, बम्बई, गुजरात, कुर्ग, आंध्र और केरल आदि राज्यों ने वैसा कर भी दिया है, कतिपय दूसरे राज्यों में लागू कर देने के बावजूद उसे अनिवार्य नहीं, वैकल्पिक विषय घोषित कर दिया गया है। कुछेक में यह अनिवार्य कर दिया गया है कि प्रत्येक माध्यमिक स्कूल में हिन्दी-पठन-पाठन की व्यवस्था हो, पर छात्र स्वतंत्र हैं कि वे

हिन्दी पढ़ें या न पढ़ें। मद्रास ऐसा ही एक राज्य है, जहाँ सभी माध्यमिक स्कूलों में वैकल्पिक अ-परीक्षण विषय के रूप में हिन्दी के पठन-पाठन की व्यवस्था है, पर न तो स्कूल के अधिकारियों के लिए और न छात्रों के लिए ही यह अनिवार्य है कि वहाँ हिन्दी का पठन-पाठन हो ही, और छात्र वह विषय लें ही। वैकल्पिक होते हुए भी १६५४-५५ वर्ष में ७६.६ प्रतिशत छात्रों ने हिन्दी का अध्ययन किया था। हिन्दी को अनिवार्य नहीं बनाने के पक्ष में मद्रास-सरकार ने जो तर्क दिये हैं, वे विचारणीय हैं। उसका कहना है कि (१) माध्यमिक-स्तर पर भाषा-पठन-पाठन की जो प्रचलित पद्धति है, उसके अनुसार प्रत्येक छात्र को दो भषाएँ अनिवार्य रूप से पढ़नी पड़ती हैं—मातृभाषा और अंग्रेजी। ऐसी परिस्थिति में एक तीसरी भाषा (हिन्दी) को भी अनिवार्य बनाना छात्रों के मत्थे अनावश्यक भार डालना होगा। (२) छात्र अपने सामान्य पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी मातृभाषा और अंग्रेजी ही सुनते हैं, हिन्दी एकदम नहीं। इसलिए मद्रासी छात्रों के लिए अनिवार्य हिन्दी में सफलता प्राप्त करना कठिन हो जायगा। (३) अनिवार्य विषय के रूप में हिन्दी के प्रवर्तन का अर्थ होगा छात्रों के लिए उसमें अनिवार्यतः पारित होना। सरकार को डर है कि छात्रों में इस कारण हिन्दी के प्रति वितृष्णा का भाव जागरित होगा। और वह भी तब, जबकि वे स्वेच्छा से ही उसे ग्रहण कर रहे हैं। इसलिए मद्रास-सरकार ने निर्णय दिया कि अव्वल तो हिन्दी मातृभाषा के बाद अंग्रेजी का स्थानापन्न हो ही नहीं सकती और दोयम यह कि हिन्दी उच्चतर वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा के योग्य नहीं बन पायी है, इसलिए द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का ही पठन-पाठन जारी रहे, और हिन्दी 'तृतीय भाषा' घोषित की जाय—"English provides and Hindi cannot provide a direct access to creative modern thought. It is true that Hindi might be developed one day to perform these functions. But it is equally true that the mother-tongue would also be so developed—perhaps even earlier. In any case, this consideration does not make a difference to the requirements of practical action between now and 1965."

विश्वविद्यालय-शिक्षा

हमें अब विश्वविद्यालय-शिक्षा के माध्यम पर विचार करना है। इसके लिए अभी तीन ही भाषाओं के नाम लिये जा रहे हैं—अंग्रेजी, हिन्दी और अपने-अपने क्षेत्र में वहाँ की प्रादेशिक भाषाएँ। यहाँ शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में जो भी विचार किये जाते रहे हैं, प्रधानतः दो ही दृष्टिकोणों से—एक तो यह कि छात्रों पर माध्यम का क्या प्रभाव पड़ सकता है, और दूसरा यह कि ऐसे छात्रों की क्या सामाजिक उपयोगिता हो सकेगी। यह निर्विवाद है कि विश्वविद्यालय शिक्षा-स्तर पर किसी भी विदेशी भाषा को माध्यम बनाने का अर्थ है मस्तिष्क पर अनावश्यक भार, स्वतंत्र विचार-शक्ति

का ह्रास और रटंतू प्रवृत्ति को प्रश्रय। हम सभी इसके भुक्तभोगी रहे हैं और जानते हैं कि हमारी आधी शक्ति सिर्फ इसी में लगती रही है कि हम प्रचलित माध्यम में ही येन-केन प्रकारेण प्रवीणता प्रदर्शित करें, विषय का ज्ञान और स्वतंत्र विचार-शक्ति चूल्हे-भाड़ में जाय। इतने पर भी होता यह रहा है कि हमारे शत-प्रतिशत छात्र उस माध्यम में अधकचरे ही रह गये हैं, बँधी-बँधाई और रटी-रटाई चीजों के अतिरिक्त अपना एक भी विचार वे उस विदेशी भाषा में विश्वास और आस्था के साथ प्रकट नहीं कर सकते। छात्र तो दूर जायँ, मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि ९९ प्रतिशत अंग्रेजी के प्राध्यापक भी शेली और कीट्स आदि कवियों के विवेचन को छोड़कर और किसी दूसरे विषय पर विश्वास के साथ नहीं बोल सकते। यह दूसरी बात है कि वे आकस्मिक अवकाश के लिए दर्खास्त तक ठीक भाषा में लिख लें, पर इसके अतिरिक्त अन्य विषयों की जानकारी तथा उन्हें अभिव्यक्त करने के क्षेत्र में वे एक विराट्, पर खोखले शून्य से अधिक नहीं सिद्ध होते। राजभाषा-आयोग ने एक बहुत बड़े शिक्षा-शास्त्री और अपने विषय के धुरंधर विशेषज्ञ का मत देते हुए लिखा है—"A distinguished educationist and man of affairs, one of the foremost in his own field, in the course of his evidence before us stated that, to that day, in spite of the fact that the English language was his language of thinking and his almost exclusive single linguistic tool of thought and expression, he still experienced traces of a handicap of foreign medium of expression when engaged in consideration of abstruse and difficult concpets in his field of study." जब से भारत में, शिक्षा के माध्यम के रूप में कोई विदेशी या अप्रचलित भाषा ग्रहण की गयी है, तभी से हमारी मौलिक चिन्तन-शक्ति जैसे निगड़-बद्ध होकर कुंठित हो गयी है। मुस्लिम-शासन के पूर्व हमारी मौलिक चिन्तन-शक्ति से तुलना करने पर यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। यदि कुछ मौलिक उद्भावना प्रकट भी हुई है तो विज्ञान के क्षेत्र में; उन विषयों में तो एकदम नहीं, जिन्हें कि अंग्रेजी में Humanities कहते हैं। मुस्लिम-पूर्व भारत का तो इन विषयों में विशेषाधिकार था। विद्वानों की यह राय ठीक ही है कि विज्ञान के क्षेत्र में भी थोड़ा इसलिए संभव हो सका कि वहाँ भाषा की अर्गला इतनी कसी हुई नहीं रहती, अभिव्यंजना का नियंत्रण उतना कड़ा नहीं होता। Humanities में अभिव्यंजना-शक्ति और भाषा-तत्त्व महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इन्हीं तथ्यों पर विचार करते हुए महात्मा गांधी ने १९१९ में ही लिखा था—"Every Indian youth, because he reaches his knowledge through the English language, lost atleast six precious years of life. Multiply that by the number of students turned out by

our schools and colleges and find out for yourselves how many thousand years have been lost to the nation. The charge against us is, that we have no initiative. How can we have any if we are to devote the precious years of our life to the mastery of a foreign tongue. ?".......The foreign medium has caused brain fog, put an undue strain upon the nerves of our children, made them crammers and imitators, unfitted them for original work and thought and disabled them for filtrating their learning to the family or the masses". हमारी आज की सरकार जहाँ अपने सारे कार्य 'श्रीगांधयै नमः' से ही शुरू करती हैं, अपना चुनाव-अभियान 'गाँधीजी की जय' से ही प्रारंभ करती है, वहाँ इस विशेष क्षेत्र में राष्ट्रपिता के इस कथन को कैसे भूल जाती है, यह समझ में नहीं आता—"If I had the powers of a despot, I would today stop the tuition of our boys and girls through a foreign medium, and require all the teachers and professors on pain of dismissal to introduce the change forthwith. I would not wait for the preparation of text-books. They will follow the change. It is an evil that needs a summary remedy".

कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी हमारे विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षित मुट्ठी भर भारतीय नवयुवकों की उपमा ग्रामीण अंचल से गुजरती हुई उस रेलगाड़ी से की है, जिसके डब्बे रोशनी से जगमग करते रहते हैं। इस जगमग करती हुई रोशनी की उपयोगिता सिर्फ सफर करनेवाले यात्रियों के लिए ही है; उस अंचल के लिए एकदम नहीं, जिस होकर गाड़ी गुजरती है। वहाँ तो क्षण भर के लिए ही रोशनी फैल पाती है; वह भी प्रकाश के लिए नहीं, चकाचौंध में डाल देने के लिए। हमारे छात्र जन-जीवन में खप नहीं पाते, उनका सारा जीवन बृहत्तर समाज से कुछ इस तरह अलग-अलग रहता है कि हम गाँधीजी के ही शब्दों में कह सकते हैं—"The foreign medium has made our children practically foreigners in their own land. It is the greatest tragedy of the existing system."

और, ये अंग्रेजी-दाँ किस प्रकार की अंग्रेजी व्यवहार में लाते हैं, इसका एक निदर्शन कलकत्ते के 'स्टेटसमैन' में २२ फरवरी, १९५८ को प्रकाशित एक समाचार से लग जा सकता है। कटक हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री पी० वी० बालकृष्ण राव ने एक प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को यह लिखित आदेश दिया कि अंग्रेजी में अपना

न्याय-निर्णय तैयार करने के समय कृपा कर वे मेज पर अंग्रेजी-कोश अवश्य रखें, क्योंकि उनके निर्णय में व्याकरण-दोष के अतिरिक्त वर्तनी-सम्बन्धी भयंकर अशुद्धियाँ थीं। "It would be better if the Magistrate at the time of writing judgments used a dictionary".

तीन आयोगों के मत

अब हम शिक्षा के माध्यम पर भारत-सरकार द्वारा नियुक्त तीन आयोगों के मत दे रहे हैं, जिसमें देश के गण्य-मान्य व्यक्ति रहे हैं। इनमें पहला है माध्यमिक शिक्षा-आयोग, जिसका मत है कि—

१. मिड्ल स्कूल-स्तर पर प्रत्येक छात्र को कम-से-कम दो भाषाएँ अवश्य पढ़ायी जायँ। जुनियर बेसिक-स्तर के अंत तक आते-आते अंग्रेजी और हिन्दी की पढ़ाई शुरू कर दी जानी चाहिए, सिद्धांत यह रहे कि किसी एक ही वर्ष में दोनों भाषाओं की पढ़ाई न हो।

२. केन्द्र की तथा कतिपय राज्यों की स्वीकृत राजभाषा होने के कारण माध्यमिक-स्तर पर प्रत्येक छात्र को यह अवसर दिया जाना चाहिए कि वह हिन्दी का कुछ बुनियादी ज्ञान प्राप्त कर ले और यह उसकी स्वेच्छा पर छोड़ दिया जाय कि वह उसमें किस सीमा तक प्रगति करना चाहता है। अतएव, समीचीन तो यह होगा कि मिड्ल स्कूलों या सीनियर बेसिक-स्तर से ही हिन्दी लागू कर दी जाय।

दूसरा आयोग है विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग। इसकी सिफारिश है कि—

१. उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में, यथासंभव शीघ्रातिशीघ्र, अंग्रेजी के स्थान पर संस्कृत को छोड़ किसी भारतीय भाषा को स्थान दिया जाय।

२. उच्च माध्यमिक और विश्वविद्यालय-स्तर पर छात्रों को तीन भाषाओं का ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए—प्रादेशिक भाषा, संघीय भाषा और अंग्रेजी। अंग्रेजी का ज्ञान सिर्फ इसलिए कि उसमें लिखित पुस्तकों को पढ़ने की योग्यता प्राप्त हो जाय।

३. उच्च शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा ही हो, पर विकल्प यह रहे कि कुछ या सभी विषयों में शिक्षा का माध्यम संघीय भाषा भी हो।

४. माध्यमिक स्कूलों या विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का अध्ययन इसलिए हो कि छात्र सतत विकसित ज्ञान की जीवंत धारा से संपर्क स्थापित करने में समर्थ बन पाये।

राजभाषा-आयोग की सिफारिशें इस प्रकार हैं—

१. विश्वविद्यालय यह निर्णय करने को स्वतंत्र रहे कि वह अपने यहाँ शिक्षा का माध्यम क्या रखेगा—प्रादेशिक भाषा या हिन्दी।

२. यह उसी पर छोड़ दिया जाय कि अंग्रेजी के हट जाने के बाद वह कब और किन-किन निकायों में किस-किस स्तर तक हिन्दी, और सिर्फ हिन्दी को ही शिक्षा का माध्यम स्वीकार करेगा।

३. यदि कोई छात्र किसी भी विश्वविद्यालय-परीक्षा में हिन्दी का ही माध्यम अपनावे तो सभी विश्वविद्यालयों में उसके समुचित पठन-पाठन और परीक्षण-निरीक्षण की सुविधाएँ दी जायँ।

४. प्रत्येक विश्वविद्यालय उन सभी कॉलेजों को समान स्तर पर सम्बन्धन प्रदान करे, जो कि हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा देने का निश्चय करें।

———

[लेखक का विनीत अनुरोध है कि पाठक इस समस्या को पूरी तरह हृदयंगम करने के निमित्त इसके साथ ही 'राजभाषा'-शीर्षक निबंध भी अवश्य पढ़ें।]

पारिभाषिक शब्द-निर्माण

एमर्सन ने कहा था—Language is a city to which every human being brought a stone. इस विचार के अनुसार भाषाओं के विकास का क्रम शत-प्रतिशत प्रजातांत्रिक होता है। साहित्य में व्यक्तिविशेष के विचारों और प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है, पर साहित्यकार को जिस माध्यम का अनुगमन करना पड़ता है, वह किसी व्यक्तिविशेष की चीज नहीं होता। वह माध्यम—यानी भाषा, शत-प्रतिशत सामाजिक वस्तु है, और यही उसका महत्त्व है। यह जीवन से उद्भूत होती है; उसकी पीड़ा, उसके हर्ष, उसकी आकांक्षाओं, उसकी परिश्रांति, प्रकृति और वातावरण आदि से न केवल रूप-रंग; बल्कि अर्थ, ध्वनि और व्यंजना पाती है। प्रत्येक भाषा उस मंदिर के सदृश है, जिसके भीतर उसके बोलनेवालों की आत्मा अपने निश्छल रूप में सुशोभित रहती है। यही कारण है कि मात्र भाषा के आधार पर हम किसी जाति की क्षमताओं, विचारों, सम्बन्धों, आदान-प्रदान के क्षेत्रों, संस्कारों और एक दूसरी पर के प्रभावों आदि का पता लगा सकते हैं।

प्रत्येक देश या जाति के अपने विचार, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-साहित्य, संस्कृति और शासन की व्यवस्था होती है; और उस देश या जाति की भाषा में तदनुकूल शब्द आते-जाते, बनते-बिगड़ते रहते हैं। जाति अपने कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए या तो अपनी स्वतंत्र मनीषा के अनुकूल शब्दों का निर्माण करती है, या किसी राजनीतिक और सामाजिक कारण के चलते दूसरी भाषा के ऐसे शब्दों को ग्रहण कर लेती है, जिनके बिना उसका काम नहीं चला करता। जब हम स्वतंत्र थे और हमारी मनीषा में जंग नहीं लगा था, तब हमारे दार्शनिक और विचारक, वैज्ञानिक और साहित्यिक, अपने दर्शनों और विचारों के प्रतिपादन एवं प्रचार के निमित्त आवश्यकतानुसार शब्दों का निर्माण करते थे, और कश्मीर से कन्याकुमारी तथा कामरूप से कच्छ तक उन शब्दों के व्यवहार और अर्थ एक-से होते थे। यही कारण है कि दर्शन में; व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष और साहित्यशास्त्र में हजारों की संख्या में ऐसे-ऐसे पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ था कि उनके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ तक में आज हजारों वर्ष बाद भी परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं दिखायी पड़ती। आत्मा, कर्म, मुक्ति, निर्वाण, इन्द्रिय, भक्ति, निग्रह, द्वैत, विशुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, कर्त्ता, सम्बन्ध, दत्तकविधि, तत्सम, तद्भव, देशज, कृदंत, तद्धित, विदूषक, विष्कंभ, भरतवाक्य, नेपथ्य, प्रबंध, निबंध, मुक्तक, कथा, परिकथा, आख्यायिका, गल्प आदि हजारों शब्द हैं, जो हजारों वर्षों से हजारों कोसों तक एक ही प्रकार से एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। स्वभावतः कोई भाषा नये विचार, नये तथ्य, नयी धारणाओं,

परिस्थितियों और व्यवस्थाओं को अपने बोलनेवालों के बीच उपस्थित और अभिव्यक्त करने के प्रयत्न में ही जहाँ एक ओर विकास पाती है, वहीं एक निश्चित सीमा के अन्दर एक रूप और एक अर्थ में प्रयुक्त होने के निमित्त अपने शब्दों को एक विशिष्ट परिभाषा और एक विशिष्ट तंत्र में बाँधती है।

हिन्दी में या किसी भी भारतीय भाषा में पारिभाषिक शब्दों का बेहद अभाव है—यह आज के अंग्रेजीदाँ कहते हैं। आज से तीन-चार सौ वर्ष पूर्व यदि हमारे देश का कोई दार्शनिक या साहित्यशास्त्री ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज गया होता तो वह भी यह कह चुका रहता कि अंग्रेजी में पारिभाषिक शब्दों का बेहद अभाव है। आज भी वाक्यपदीयम्, नाट्यशास्त्र या शृंगारशतक या गीता और किसी भी उपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद उठाकर कोई देख ले, पता लग जायगा कि अंग्रेजी में तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का कितना घोर अकाल है। अंग्रेजी की नकल करने वाले बड़े अभिमान के साथ कहते हैं—रोमांटिक, दादायिज्म, सुररियलिज्म, ट्रेजेडी आदि के लिए हिन्दी या किसी भी भारतीय भाषा में शब्द नहीं। कोई भी भारतीय उसी अभिमान के साथ कह सकता है—अंतरराष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी में भी रस, शृंगार, ऊहा, उपनिषद्, पुराण, भरतवाक्य, आत्मा, परमात्मा आदि के लिए कोई शब्द नहीं हैं। इलियट ऐसा कवि 'शांति' का अंग्रेजी पर्याय ढूँढ़कर नहीं निकाल सका, और पाउण्ड-ऐसा मेधावी 'अंचल' तक का समानार्थक अंग्रेजी शब्द नहीं बना सका। तो यह कहना कि कोई पारिभाषिक शब्द किसी दूसरी भाषा में क्यों नहीं है, और यदि नहीं है तो यह उस भाषा की दुर्बलता है—एक भयंकर मूर्खता है। गलत अंग्रेजी लिखनेवाले लोग भी डा० रघुवीर के रेल और मोटर के स्थानापन्न शब्द 'संयान' और 'वहित्र' पर छींटे कसते हुए कहा करते हैं—यह तो अंग्रेजी का सीधा अनुवाद है। ठीक है, अनुवाद ही है, तो क्या अंग्रेजों ने ऐसा नहीं किया है? हमारे देश में रेल और मोटर नहीं बनीं, इसलिए हमने उनके लिए शब्द गढ़े या समानार्थक शब्द बना लिये; तो इंगलैण्ड में भी 'बैलगाड़ी' नहीं थी, इसलिए अंग्रेजों ने भी उसके लिए वैसा ही एक शब्द बना लिया था—bullock-cart। यह अनुवाद नहीं तो और क्या है? अंग्रेजी के एक हाजीपुरी प्राध्यापक ने तिर्यक् हँसी हँसते हुए एक दिन मुझसे पूछा था—"Silvery के लिए आपके यहाँ कोई शब्द नहीं। रात में बहुत देर तक खोजता रहा, मिला नहीं।" इस "आपके यहाँ" का क्या अर्थ? क्या हिन्दी उनकी भाषा नहीं है, या भारतवर्ष उनका देश नहीं है कि अंग्रेजी-दाँ अपने को यहाँ का नहीं मानते, और न यहाँ की भाषा को अपनी भाषा। ऐसे लोगों को क्या उत्तर दिया जा सकता है? मैंने कहा—"Silver बड़ा भारी शब्द है और वह बनियों के देश में बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हम तो धान पैदा करनेवाले गँवार लोग हैं—धानी रंग हमारे यहाँ है। अंग्रेजी के किसी भी कोश में इसका समानार्थक शब्द आपको मिल जाय तो बताइयेगा।" तीन साल बीत गये, उक्त सज्जन

अब भी मुझे देख कतराकर निकल जाते हैं। यह बुद्धि का दिवालियापन नहीं है तो और क्या है? ऐसे लोग हिन्दी में "डैफोडिल्स" तक को खोजते चलते हैं, पूरी तरह यह विश्वास रखते हुए कि उन्हें 'चैम्बर्स' में 'लंगड़ा आम' तक मिल जायगा।

हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों का अभाव, हिन्दी की दुर्बलता के कारण नहीं; बल्कि १७वीं-१८वीं शताब्दी में अंग्रेज शासकों की उस दुर्नीति के कारण है, जिसके चलते भारतवर्ष की सभी भाषाएँ शिक्षा, शासन और सामान्य सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों से बहिष्कृत कर दी गयी थीं। और, यह वह काल है, जबकि यूरोप में ज्ञान-विज्ञान का अतिशय विकास हुआ, अगणित अनुसंधान और आविष्कार हुए, और तत्सम्बन्धी नये-नये पारिभाषिक शब्द बने। यदि प्रारम्भ से ही हमारी शिक्षा और शासन-व्यवस्था आदि हमारी अपनी ही भाषाओं के माध्यम से होतीं तो हम भी पर्याप्त संख्या में सारे-के-सारे पारिभाषिक शब्द गढ़ चुके होते और आज उनमें एकरूपता भी आ गयी होती। (उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जापान में यही हुआ भी।) पारिभाषिक शब्दों का अभाव भारतवर्ष की सभी भाषाओं में समान रूप से प्राप्त होता है। यह केवल हिन्दी की ही दुर्बलता नहीं कही जा सकती। ज्यों-ज्यों विज्ञान का, शासन-तंत्र आदि का विकास होता गया, त्यों-त्यों यदि वह समस्त विकास भारतीय भाषाओं के माध्यम से हम तक पहुँचाया गया होता तो आज परिस्थिति भिन्न दिखायी पड़ती; और न केवल हिन्दी, बल्कि देश की अन्य प्रादेशिक भाषाएँ भी पग-से-पग मिलाकर चलने के निमित्त—नये विचारों और नये अनुसंधानों-आविष्कारों को आत्मसात् करने के निमित्त या तो पारिभाषिक शब्दों का आयात कर उन्हें अपने अनुरूप बना चुकी रहतीं, नहीं तो स्वयं अपने कोश से ही नये उपसर्गों और नये प्रत्ययों की सहायता से नये शब्द गढ़ चुकी रहतीं।

ऐसा नहीं हो सका, या ऐसा नहीं होने दिया गया; और अचानक १९४७ में हमारे कंधे पर यह भार आ गया कि हम अपनी नवप्राप्त स्वतंत्रता को कायम रखने, सिद्ध करने तथा दृढ़ बनाने के लिए नये शब्द गढ़ें, आयात करें। राजनीति के क्षेत्र में भी हमने छलाँग ही मारी थी। मध्यकालीन सामंतशाही में ही हम परतंत्र बने थे और स्वतंत्र होने के समय साम्यवाद का बिगुल जोर-जोर से फूँका जा रहा था। इस बीच हमारे विचारक विदेशी भाषाओं में ही पढ़ते-सोचते-बोलते और लिखते रहे थे और देश की नब्बे-बानबे प्रतिशत अशिक्षित जनता या तो अष्टयाम-संकीर्त्तन करती रही थी, नहीं तो "रघुपति राघव राजा राम" भजती रही थी। स्वभावतः, हमारी भाषाओं में ये सारे अप्रत्याशित वैज्ञानिक और सामाजिक विकास समा नहीं सके थे, या कुछ सीमा तक ही समा सके थे। इसीलिए, यह समस्या आज इतने विकट रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है।

पारिभाषिक शब्द कहते किसे हैं?

सबसे पहले हम इसपर विचार कर लें कि पारिभाषिक शब्द कहते किसे हैं? किसी भी विषय का ज्ञान किसी-न-किसी अखंडनीय अनुभव, विचार, कल्पना या सिद्धांत

का समुचित रूप से पद्धतिबद्ध और श्रृंखलित वक्तव्य है। इसीलिए उस ज्ञान को व्यक्त और लिपिबद्ध करने के लिए हमें कुछ ऐसे सारयुक्त एवं संक्षिप्त शब्दों की आवश्यकता पड़ती है, जो उस ज्ञान के उद्‌घाटन एवं विवृति के प्रमुख साधन बन जाते हैं। इसलिए जबतक परिभाषा और कथन, ठीक-ठीक, विना किसी उलझन और पेंच के, स्पष्ट रूप से नहीं व्यक्त किये जाते, तबतक न तो अनुमान और तर्क की ही कोई गुंजाइश रहेगी और न कोई निष्कर्ष ही निकल पायगा। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों की विशिष्टताओं को देखते हुए यह संक्षिप्तता और सारयुक्तता अत्यावश्यक बन जाती है। आधुनिक विज्ञान का यह अप्रत्याशित विकास उन कतिपय मेधावी व्यक्तियों की देन नहीं है, जिन्हें अनायास कोई प्रेरणा प्राप्त हो गयी, या बुद्धि की किसी भटकी हुई लहर ने जिन्हें ज्ञान के किसी नये टापू पर पटक दिया ; प्रत्युत , समस्त विश्व में फैले हुए अनेक छोटे-बड़े विज्ञानवेत्ताओं के परस्पर आदान-प्रदान, विचार-विमर्श और अनवरत सामूहिक परिश्रम का फल है। आज वैज्ञानिक अनुसंधान या आविष्कार अकेले किसी न्यूटन की अन्तः-प्रेरणा के रूप में नहीं हो सकता। आज ज्ञान की सीमाएँ उस विशेषीकरण की ओर बढ़ती चली जा रही हैं कि उनमें निष्णात होने के लिए अनेक प्रयोगशालाओं और अगणित प्रयोगों का आश्रय लेना पड़ता है। कोई भी सत्य, तबतक सत्य के रूप में नहीं स्वीकार कर लिया जाता, जबतक कि उसके सभी विशेषज्ञ ठोंक-पीटकर उसे सत्य नहीं स्वीकार कर लेते। इन परिस्थितियों में जहाँ कि अनेक विशेषज्ञों की सहकारिता के बल पर ही ज्ञान का विकास संभव है, शब्दों और वक्तव्यों की संक्षिप्तता, सारयुक्तता और एकरूपता की अत्यधिक व्यावहारिक आवश्यकता उपस्थित हो गयी है।

पारिभाषिक शब्द-निर्माण-कार्य

पारिभाषिक शब्द-निर्माण-कार्य के सम्बन्ध में, आज ही नहीं ; बल्कि १८६० ई० से ही संपूर्ण भारत में अनेकानेक प्रयास हुए हैं। इन सभी प्रयासों को हम साधारणतः छह कोटियों में बाँट सकते हैं—

(अ) **वैयक्तिक**—आधुनिक भारत में पारिभाषिक शब्द-निर्माण की दिशा में कार्य करनेवाले पहले सज्जन हैं प्रो० टी० के गज्जर, जिन्होंने १८६० ई० में बड़ौदा महाराज द्वारा प्रदत्त पचास हजार रुपये की राशि के बल पर गुजराती और मराठी में वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक विषयों पर कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। परन्तु, न जाने क्यों, यह कार्य बीच ही में रुक गया। उधर बंगला में प्रो० विनयकुमार सरकार ने अर्थशास्त्र-संबंधी शब्दों का निर्माण और प्रयोग अपने "ए कालेर धन-दौलत ओ अर्थशास्त्र"-नामक ग्रंथ में किया। हिन्दी में वैयक्तिक प्रयास के रूप में किया गया सर्वाधिक उल्लेखनीय ग्रंथ श्रीसुखसम्पत्तिराय भण्डारी का 'द ट्वेंटिएथ सेंचुरी इंगलिश-हिन्दी डिक्शनरी' या 'बीसवीं शताब्दी अंगरेजी-हिन्दी-कोश' है, जो बड़े परिश्रम और व्यय से प्रकाशित किया गया। यह पाँच खंडों में पूरा हुआ और इसमें एक लाख से अधिक शब्द अंग्रेजी के पर्यायों और विवरणों सहित दिये गये हैं। ज्ञान-विज्ञान के

विभिन्न क्षेत्रों से शब्दों का संग्रह कर अंग्रेजी के अक्षर-क्रम से सुनियोजित रूप में प्रस्तुत किया गया है। जब यह कोश प्रकाशित हुआ तो देश भर के विद्वानों ने इसकी प्रशंसा की और इसे "A landmark in the history of Hindi Literature" बताया। इतना व्यापक, और अंग्रेजी शब्दों के समुचित पारिभाषिक शब्दों से युक्त कोश अभी तक हिन्दी में नहीं प्रस्तुत किया गया था। पण्डित राधाकृष्ण झा और दयाशंकर दुबे ने अर्थशास्त्र-शब्दावली का निर्माण किया और श्रीभगवानदास केला ने अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी शब्दों की बृहत् सूचियाँ प्रकाशित कीं, जिनके कई संस्करण निकले। श्रीगोपालचंद्र सिंह ने कचहरियों में व्यवहृत होनेवाले शब्दों का संचयन और निर्माण किया, श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी ने संस्कृत-बहुल जटिलता लिये एक 'शासन-शब्द-संग्रह' प्रकाशित किया, श्रीसत्यदेव ने भी एक प्रशासकीय शब्दावली तैयार की और श्रीप्रेमनारायण टण्डन ने साहित्यिक-पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया।

(आ) सांस्थिक—सांस्थिक प्रयासों में सबसे पहला उल्लेखनीय कार्य कलकत्ते की वंगीय साहित्य-परिषद्-नामक संस्था ने श्री रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी के तत्त्वावधान में किया और रसायन, भूगोल, ज्योतिष आदि विषयों के शब्द बंगला भाषा में बनाये। पर डा० गज्जर की ही तरह आपसी फूट और मतभेद आदि के चलते पहले तो इसके कार्यों में शिथिलता आयी, फिर बाद चलकर सभी कुछ ठप्प पड़ गया। इसी की कुक्षि से उत्पन्न वंग-साहित्य-सभा ने भी कुछ कार्य किये थे, पर उसकी भी वही दुर्दशा हुई। इसी से प्रेरणा और सहायता लेकर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने १८९८ ई० में भूगोल, ज्योतिष, गणित, अर्थशास्त्र, भौतिक विज्ञान, रसायन और दर्शन-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का बीड़ा उठाया और आठ वर्षों के प्रयत्नों के बाद यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया। इसमें सर्वश्री महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, महावीरप्रसाद द्विवेदी, भगवानदास, पंडित माधवराव सप्रे और ठाकुर प्रसाद प्रभृति विद्वानों ने पर्याप्त सहायता पहुँचायी थी। इसके संशोधन के लिए जो एक उपसमिति संगठित की गयी थी, उसमें प्रो० टी० के० गज्जर, प्रो० एन० बी० रानाडे, प्रो० ए० सी० सान्याल, बाबू भगवती सहाय, पंडित विनायक राव और लाला खुशीराम आदि विभिन्न भाषा-भाषियों के अतिरिक्त और भी कई हिन्दी-भाषी विद्वान् थे। सभा ने १०३३० अंग्रेजी और १९२६९ हिन्दी शब्दों का समावेश किया। इसमें उपर्युक्त गुजराती, मराठी और वंगीय प्रयत्नों का पूर्ण उपयोग किया गया था। हिन्दी में पारिभाषिक शब्द-निर्माण का यह पहला सर्वाधिक सुनियोजित सांस्थिक प्रयत्न था, और इसकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका दूसरा संस्करण भी १९३०-३१ ई० में प्रकाशित हुआ। लगभग इसी समय प्रयाग की विज्ञान-परिषद् ने वैज्ञानिक शब्दों के संचयन का प्रयास किया और वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दकोश के चार खंड प्रकाशित किये। महाराष्ट्र के

शास्त्रीय परिभाषा-मंडल ने पाँच हजार शब्दों से युक्त एक महत्त्वपूर्ण कोश चार खंडों में प्रकाशित किया। पूना के महाराष्ट्र-कोश-मंडल ने भी कुछ कार्य किया और वहीं के 'मराठी लेक्सिकन आफिस' ने शास्त्रीय परिभाषा-कोश की एक बृहत् योजना तैयार की। दिल्ली के अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू की ओर से कुछ प्रयत्न किये गये। बिहार में एक हिन्दुस्तानी कमिटी की स्थापना प्रथम कांग्रेसी मंत्रिमंडल के निर्माण के बाद की गयी थी और देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अबुलकलाम आजाद, डा० सच्चिदानंद सिन्हा, काका कालेलकर, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, डा० अब्दुलहक और डा० ताराचंद इसके सदस्य थे। इस कमिटी ने पाँच वर्षों तक कार्य किया और अपना प्रधान आधार हिन्दी और उर्दू, दोनों में समान रूप से प्रचलित शब्दों का संचयन ही बनाया। १९४२ में इसकी पांडुलिपि ही, न जाने, कहाँ खो गयी। १९४६-४७ ई० में ऑल इण्डिया रेडियो की ओर से एक एयर लेक्सिकन (Air Lexicon) तैयार करने का कार्य प्रारम्भ हुआ, जो बाद चलकर तीन भागों में प्रकाशित हुआ। इसमें डा० विश्वनाथ प्रसाद ने बहुत परिश्रम कर ऐसे बहुत-से पारिभाषिक शब्दों का सन्निवेश किया था, जिनका प्रयोग प्रायः सामयिक विषयों की टीका-टिप्पणी करने तथा समाचार देने में होता है। प्रयाग के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से सबसे पहले डा० सत्यप्रकाश के संपादकत्व में एक 'समाचार-शब्दकोश' प्रकाशित हुआ। पुनः १९४८ में महापंडित राहुल-सांकृत्यायन, श्रीविद्यानिवास मिश्र और श्रीप्रभाकर माचवे के संपादकत्व में १६००० शब्दों से युक्त 'शासन-शब्द-कोश' का प्रकाशन हुआ। सम्मेलन ने चिकित्सा-विज्ञान पर भी कार्य करवाया। सम्मेलन के प्रयत्नों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने देशी भाषाओं और जनपदों से पारिभाषिक शब्दों के संचयन का प्रयास किया है।

सांस्थिक प्रयासों में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य The International Academy of Indian Culture, लाहौर का है, जिसने १९४४ ई० में ही डा० रघुवीर के सम्पादन में The Great English-Indian Dictionary का प्रकाशन किया। इसमें अंग्रेजी के पर्यायवाची शब्द चार लिपियों—देवनागरी, बंगला, तमिल और तेलगू—में दिये गये हैं। देश का विभाजन हो जाने पर इसका कार्यालय नागपुर चला आया और पुनः १९५० में उपर्युक्त कोश का एक बृहत् संहत संस्करण प्रकाशित हुआ। इसमें एक लाख से अधिक शब्द हैं। बृहत् संहत संस्करण में पर्यायवाची शब्द सिर्फ देवनागरी में ही दिये गये हैं। फिर एक संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किया गया।

यह कोश पारिभाषिक शब्द-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण सीमा-चिह्न है। इस दिशा में किये गये अबतक के सभी प्रयत्नों में सबसे अधिक व्यापक और विराट् आयोजन इसे ही माना जाता है। इस कोश में शब्दों का चयन और निर्माण प्राचीन साहित्य के शोधों तथा व्याकरण के सिद्धांतों पर किया गया है, जिसका मूलाधार

संस्कृत भाषा, साहित्य और व्याकरण है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इस कोश के ही शब्द अपने क्षेत्र में अंतिम सिद्ध होंगे, तो भी यह निर्विवाद है कि आगे इस दिशा में जो भी कार्य होंगे, उनमें इस कोश की प्रणालियों का सहारा ही लेना पड़ेगा। इसके प्रकाशन के बाद ही इसके शब्दों का प्रयोग कई क्षेत्रों में होने लग गया और सबसे बड़े गौरव की बात यह हुई कि भारतीय संविधान के जिस हिन्दी-संस्करण को संविधान-सभा ने मान्यता प्रदान की और उसके अध्यक्ष तथा सदस्यों ने जिसपर अपने हस्ताक्षर किये, उसमें डा० रघुवीर के ही शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इन शब्दों को संविधान में स्वीकृत चौदहो राष्ट्रभाषाओं के ३६ लब्धप्रतिष्ठ प्रतिनिधियों ने अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

(इ) राजकीय—राजकीय क्षेत्रों में सबसे पहला कार्य बड़ौदा में हुआ, जहाँ तत्कालीन देशी रजवाड़ी शासन की ओर से 'सयाजी शासन-कल्पतरु' और 'राजव्यवहार-कोश' प्रकाशित हुए थे। इन्हीं पुस्तकों के आधार पर श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी ने संस्कृत-बहुल जटिलता लिये अपना 'शासन-शब्द-संग्रह' तैयार किया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद मध्य-प्रदेश के भूतपूर्व सभाध्यक्ष और मुख्यमंत्री, श्रीघनश्यामदास गुप्त और पंडित रविशंकर शुक्ल की प्रेरणा से वहाँ की सरकार ने एक 'प्रशासन-शब्दावली' तैयार की। पुनः उत्तरप्रदेश की सरकार ने भी 'शासन-शब्द-प्रकाश'-नामक एक काम-चलाऊ कोश प्रकाशित किया। पश्चिम बंगाल की सरकार ने डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्री राजशेखर वसु और श्रीरमेशचन्द्र मजुमदार प्रभृति विद्वानों की सहायता से सरकारी कामों में व्यवहार्य पारिभाषिक शब्दों का एक छोटा कोश तैयार करवाया। और सरकारों के अनुकरण पर बिहार-सरकार ने भी श्रीलक्ष्मी नारायण सिंह 'सुधांशु', श्रीबुद्धिनाथ झा 'कैरव', श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र, शिक्षा-विभाग के सचिव श्रीजगदीशचंद्र माथुर, आई० सी० एस० और नियुक्ति-विभाग के विशेष पदाधिकारी श्रीहंसकुमार तिवारी की एक 'हिन्दी-समिति' संगठित की, जिसने रामलोचन शर्मा 'कंटक' और सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' से सरकारी कार्यालयों में प्रयुक्त लगभग छह हजार शब्दों का एक संकलन "बिहार राजकीय प्रशासन-शब्दावली' के नाम से १६५५ ई० में तैयार कराकर प्रकाशित किया। १६५० ई० में भारत-सरकार ने भी एक 'Board of Scientific Terminology' संगठित की, जिसके अंतर्गत लगभग बीस विशेषज्ञ-समितियाँ आज बारह वर्षों से काम कर रही हैं। यही कार्य हिन्दी-निदेशालय के तत्त्वावधान में इस वर्ष "पारिभाषिक शब्द-संग्रह' नाम से प्रकाश में लाया गया है। इन शब्दों की विषय-वार कई सूचियाँ हिन्दी पर्यायों के साथ समय-समय पर पहले भी प्रकाशित होती रही हैं, पर अब 'ए' से 'के' तक के अंग्रेजी शब्दों के पर्याय कोश के रूप में सामने आये हैं।

(ई) विश्वविद्यालयों—द्वारा किये गये प्रयत्नों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं उस्मानिया विश्वविद्यालय के कार्य। इसने बहुत पहले उर्दू पारिभाषिक शब्दों का एक बृहत् कोश तैयार किया था, जो बहुत हद तक पूर्ण और उपयोगी सिद्ध हुआ था।

यह कोश अरबी-फारसी के आधार पर तैयार हुआ था और इसमें लगभग साठ हजार वैज्ञानिक शब्द थे। इन पारिभाषिक शब्दों के आधार पर उर्दू में हजारों पुस्तकें प्रकाशित हुईं और एक अरसे तक चलीं। बाद चलकर परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल ये सारे प्रयत्न बेकार सिद्ध हुए। अब डा० टोपा के नेतृत्व में यह विश्वविद्यालय अपने अनुवाद तथा प्रकाशन-विभाग की ओर से जहाँ एक ओर हिन्दी के उन शब्दों का सर्वेक्षण करा चुका है, जो तेलुगू, मराठी और कन्नड़ में समान रूप से प्रचलित हैं, वहीं दूसरी ओर उन फारसी, अरबी, उर्दू और विदेशी शब्दों की भी सूचियाँ तैयार करा चुका है, जो हिन्दी, तेलुगू, मराठी और कन्नड़ में प्रचलित हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अंग्रेजी-बंगला में एक 'वैज्ञानिक परिभाषा'-नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया था। महात्मा गांधी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ ने भी १६२० में ही गणित, रसायन, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि विषयों पर पारिभाषिक शब्दकोश अपने शिक्षकों की सहायता से प्रकाशित कराया था, जिसे आज भी गुजरात में पर्याप्त मान्यता प्राप्त है। इनके अतिरिक्त आंध्र विश्वविद्यालय, पूना के डेक्कन कालेज पोस्ट-ग्रेजुएट-रिसर्च-इन्स्टिट्यूट, दिल्ली की जामिया मिलिया, प्रयाग, लखनऊ और दिल्ली के विश्वविद्यालयों तथा कांगड़ी के गुरुकुल द्वारा भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न होता रहा है। १६५० में All India University Board (अखिल भारत अन्तर्विश्वविद्यालय परिषद्) ने डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद के प्रस्ताव पर यह निर्णय किया था कि परिषद् स्वयं सभी विश्वविद्यालयों के सहयोग से पारिभाषिक शब्दावली का कार्य पूरा कर झटपट अपने पाठ्यक्रमों में व्यवहृत करे। डा० विश्वनाथ ने अपने भाषण में इसपर जोर दिया था कि सभा या कोई भी संस्था शब्दों का निर्माण तो कर लेगी, पर यदि वे शब्द सिर्फ कोशों में ही पड़े रहे तो उनसे कोई लाभ नहीं हो सकेगा। उन्होंने एक जुट होकर प्रयोग करने और प्रयोगों के निश्चित संमोदन की अपेक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। पटना विश्वविद्यालय के तत्कालीन उपकुलपति श्रीशार्ङ्गधरसिंह ने कदम बढ़ाया और २८-२६ अक्टूबर, १६५० को पटने में हिन्दीभाषी राज्यों के सभी विश्वविद्यालयों के उप-कुलपतियों का एक सम्मेलन हिन्दी माध्यम तथा पारिभाषिक शब्दों की समस्या के समाधान के निमित्त बुलाया। सम्मेलन ने सभी विश्वविद्यालयों के हिस्से कुछ कार्य बाँट दिये थे। पता नहीं कि और विश्वविद्यालयों में क्या हुआ, पर पटना विश्वविद्यालय ने 'भाषा विज्ञान का शब्दकोश' तथा 'प्रशासकीय शब्दावली' नामक दो कोश-ग्रंथ १६५५-५६ में प्रकाशित किये थे।

(उ) **संपादकीय**—लोग मानें या न मानें, पारिभाषिक शब्द-निर्माण का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उन संपादकों ने किया है, जिन्हें हिन्दी के विभिन्न दैनिक पत्रों में अँग्रेजी में प्राप्त शब्दों का शीघ्रातिशीघ्र अनुवाद प्रस्तुत कर प्रकाशित करना पड़ता है। यह सत्य है कि यह वर्ग अधिकांशतः अर्द्ध शिक्षित, पर अत्यधिक व्यस्त, उप-संपादकों का रहा है, पर उससे भी बड़ा सत्य यह है कि पारिभाषिक शब्द-निर्माण का गुरुतर भार सबसे

पहले इन्हीं संपादकों के दुर्बल कंधों पर आया, और इन्हीं के बनाये शब्द शीघ्रता से जनता तक पहुँचे भी। डाक्टर प्रभाकर माचवे ने बहुत पहले अपने एक लेख में इनके ज्ञान का मजाक उड़ाते हुए लिखा था—"जब कभी एक नया अँग्रेजी शब्द उनके सामने चुनौती देता हुआ आ खड़ा होता है, तो वे रामनारायण लाल के अँग्रेजी-हिन्दी-कोश या अन्य अँग्रेजी-उर्दू या अँग्रेजी-बंगला कोशों की सहायता लेते हैं। किन्तु, जब वहाँ उनका काम नहीं चलता, तो अपने मन से ही किसी तरह शब्दानुवाद कर छाप देते हैं, जो बहुधा अत्यन्त हास्यास्पद होते हैं, जैसे—'चीखते हुए बम (Screaming Bomb) या आकाश घोड़ा (Sky horses) या दग्ध-भू-नीति (Scorched Earth Policy) इत्यादि।" यह लिख देना जितना आसान है, उतना आसान दैनिक पत्रों के संपादकों का कार्य नहीं रहा है। उनकी भी अपनी सीमाएँ हैं, और उन सीमाओं के ही अन्दर जितने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण और प्रचलन उन्होंने किया है, उतना सुखसंपत्ति राय भंडारी और डा० रघुवीर के अतिरिक्त और कोई नहीं कर पाया। और, प्रचलन तथा जन-स्वीकृति का यह सौभाग्य तो उन ऋषियों को भी नहीं प्राप्त हो सका है। शीघ्रता और तात्कालिकता—ये दो ऐसे बंधन हैं, जिनसे संपादक बुरी तरह जकड़े रहते हैं। उन्हें अधिक विचार-विमर्श तथा सोचने-समझने का अवकाश नहीं, और महज आज से बीस वर्ष पूर्व शायद ही किसी हिन्दी दैनिक का उप-संपादक तो क्या, प्रधान संपादक तक एम० ए०, बी० ए० पास हुआ करता था। भारतेन्दु-युग से लेकर पराड़कर इत्यादि तक के संपादकों द्वारा अँग्रेजी के हजारों शब्द हिन्दी में अनुवादित होकर आये और जनता उन्हें अपनाये बैठी है। नीति, राजनीति, कूटनीति, राजदूत, कुमारी, श्रीमती, श्री, सुश्री, सर्वश्री, मित्र-राष्ट्र, धुरीराष्ट्र, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्र, राज्यतंत्र, गणतंत्र, लोकसभा, राज्यसभा, विधान-सभा, संविधान-सभा, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति, राज्यपाल, शिखर-सम्मेलन, आकाशवाणी, पन-बिजली, पंचवर्षीय योजना, सुरक्षा-परिषद्, साधारण सभा, जनमत, बहुमत, अल्पमत, चुनाव, उम्मीदवार, सरकारी पक्ष, विरोधी पक्ष, युद्धपोत, विध्वंसक, अणुबम, उद्जनबम, उड़न तश्तरी, उपग्रह आदि सैकड़ों और हजारों नहीं, लाखों ऐसे शब्द हैं, जिनका निर्माण नहीं तो प्रयोग, सर्वप्रथम संपादकों ने ही किया था और आज जन-समुदाय के बीच यही प्रचलित भी हैं।

(ऊ) **अध्यापकीय**—पारिभाषिक शब्द-निर्माण में इनसे थोड़ा ही कम सहयोग किया है अध्यापक-वर्ग ने। हिन्दी में प्रकाशित होनेवाली किसी भी पाठ्य पुस्तक के अन्त में पारिभाषिक शब्दों का एक परिशिष्ट अवश्य जोड़ दिया जाता रहा है। यह ठीक है कि इनमें विविधता बहुत अधिक है, पर इनकी भी अपनी सीमाएँ हैं। आपस में विचार-विमर्श कर किसी एक सर्वसम्मत मत पर पहुँचने की सुविधा इन्हें भी नहीं थी और प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में आनेवाले छात्र इनके लिए प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते थे। फलतः, अपने विषयों के प्रतिपादन के लिए जो शब्द इन्होंने गढ़े या प्रयुक्त किये,

वे नगरय नहीं माने जा सकते। साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में किये गये श्यामसुन्दर दास के प्रयत्न, भाषाविज्ञान के क्षेत्र में किये गये केशव मिश्र, धीरेन्द्रवर्मा, मंगलदेव शास्त्री, नलिनीमोहन सान्याल, सुनीतिकुमार चटर्जी, सुकुमार सेन और बाबूराम सक्सेना के प्रयत्न, अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भगवानदास केला आदि के प्रयत्न विविध होते हुए भी अनवरत साधना के प्रतिफल हैं। आज उनका विशाल छात्र-पाठक-वर्ग उन्हें ग्रहण कर पूरी तरह पचा भी चुका है।

संपादकों और अध्यापकों द्वारा किये गये प्रयत्नों का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनमें किसी सामूहिक योजना-बद्ध विवेचन का सर्वथा अभाव है और उन्होंने मात्र अपने क्षेत्रों को ही ध्यान में रखकर शब्द गढ़े हैं। इसलिए उनमें एकरूपता नहीं आ पायी। इनके प्रयत्न प्रचलित इसलिए हो गये कि उनके निर्माण के पीछे आवश्यकता का और चलन के पीछे तात्कालिकता का जोर था।

कतिपय निर्माण-पद्धतियाँ

पारिभाषिक शब्दों की निर्माण-पद्धति क्या हो, इस विषय में 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' है। विभिन्न विद्वानों एवं संस्थाओं द्वारा अपनायी गयी सभी पद्धतियों को हम निम्नलिखित कोटियों में बाँट सकते हैं—

(१) पहली पद्धति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित कोश के विद्वान् संपादकों की है। उनका कहना है कि "पारिभाषिक शब्द खोजने की अपेक्षा उन्हें आप-से-आप उगने और बढ़ने देना चाहिये। आवश्यकता आविष्कार की जननी ही नहीं, दाई भी होती है। जहाँ बिल्कुल आवश्यक हो, जैसे उच्च शिक्षा, कठिन वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद आदि में, वहाँ विशेषज्ञों का सहारा लिया जा सकता है। परन्तु, सर्वत्र दृष्टि जनता के अधिकाधिक लाभ की ही रखी जाय।......पारिभाषिक शब्द भी आखिर जन-साधारण के प्रयोग के लिए ही तो बन रहे हैं।......अतः, कोई भी शब्द, चाहे वह अहिन्दी प्रांतों का हो, अँग्रेजी का हो, या अन्य विदेशी भाषा का, यदि वह बहुप्रचलित है और वह यथार्थ परिभाषा दे सकता है तो उसे यथासंभव लेना चाहिये।... परन्तु, इन जन-प्रचलित शब्दों के लेने में यह ध्यान रखा जाये कि ये शब्द सारे भारत की दृष्टि से लिये जायँ।......सभी अप्रचलित नये शब्द संस्कृत से लिये जायँ। परन्तु, उसमें भी उच्चारण-सौकर्य का ध्यान रखा जाये।......अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को ज्यों का त्यों ले लिया जाय। जो अन्तर्राष्ट्रीय शब्द वस्तुओं के साथ जनता तक पहुँच गये हैं, उन्हें ले लेना है, जैसे टेलीफोन, रेडियो, इंजीनियर, डाक्टर, सबमैरीन, फौज के पद, आयुध नाम।......पर जो अँग्रेजी शब्द वस्तु के साथ जनता तक पहुँच गये हैं, उनके लिए संस्कृत शब्द गढ़ना आवश्यक है—जैसे रेल, टाइपराइटर; टिकिट, सिगनल आदि। परन्तु, जहाँ संस्कृत शब्द और देशज शब्द की स्पर्द्धा हो, देशज शब्द को प्रधानता दी जाय।" (प्रभाकर माचवे)

अंग्रेजी या अन्य पारिभाषिक शब्दों के पर्याय के सम्बन्ध में इनका मत है कि "किसी भी अँग्रेजी या अन्य पारिभाषिक शब्द का पर्यायवाची पहले प्रचलित देशज शब्दों में देखें। यदि न हो तो फिर नया शब्द बनाया जाय, जिसमें शब्द को प्रयोग में लानेवाले वर्ग या जन-साधारण का ध्यान रखा जाय। जहाँ केवल सैद्धांतिक अथवा विज्ञान-विषयक शब्दावली हो (जैसे वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान आदि में) वहाँ संस्कृत से सहायता लेना आवश्यक है। इसमें इन बातों का ध्यान रखा जावे :—

(अ) समान व्युत्पत्तिवाले शब्दों के ग्रहण में एकता का ध्यान रखा जाय, परन्तु वह एकता यांत्रिक न होकर भाषा के विकास में जैसी विकास की स्वतंत्रता देखी जाती है, वैसी ही हो।

(आ) शब्दों के निर्माण में समास करते समय संस्कृत-असंस्कृत का कोई विचार न रखा जाय, केवल यह ध्यान अवश्य रखा जाय कि वह जन-साधारण को खटकनेवाला न हो।

(इ) बड़े सामासिक, उच्चारण-क्लिष्ट शब्दों की अपेक्षा समानार्थी सरल शब्द अधिक उपयोगी होंगे।

(२) दूसरी पद्धति डाक्टर रघुवीर की है। वे लिखते हैं कि हम Borrowing Languages में विश्वास नहीं करते, हमें अपनी भाषाओं को इस योग्य बनाना है कि वे Building Languages बन सकें। और ऐसा हम संस्कृत की ही सहायता से कर सकते हैं। क्योंकि—"Sanskrit which is in the status of a mother to the most Indian languages" और "Words derived or taken from Sanskrit are therefore least likely to have the air of exotics in our tongue, they have far greater chances of smooth absorption than words taken from any other language.". और, अंत में उनका यह भी कथन है कि संस्कृत में शब्द-निर्माण की अपरिमित क्षमता और अद्वितीय योग्यता है। उपसर्ग और प्रत्यय का मेल कर एक मूल से सैकड़ों शब्द बनाये जा सकते हैं और उनमें एकरूपता बरती जा सकती है, जहाँ कि देशी भाषाओं में न तो वह सामर्थ्य है और न बल। दूसरी बात यह है कि संस्कृत शब्दों को अपनाने से हमारे पारिभाषिक शब्दों को मडगास्कर से लेकर फिलिपाइन तक व्यापकता मिल सकती है। संस्कृत शब्दों के ग्रहण से कार्य इतना सरल हो जाता है कि थोड़े परिश्रम से ही हम सभी प्रचलित अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के पर्याय बना ले सकते हैं। उदाहरणतः—

Law	—विधि	Legal	—वैध
Legalist	—विधिपरायण	Lawless	—विधिहीन
Legislative	—विधायी	Legislator	—विधायक
Law-maker	—विधिकर्त्ता		
Court	—धर्माधिकरण	High-Court	-महाधर्माधिकरण
Supreme Court	—सर्वोच्चाधिकरण	Civil Court	— न्यायाधिकरण
Criminal Court	— दंडाधिकरण	Small Causes Court	— अवर धर्माधिकरण
Accounts	—गणन	Accontant	— गाणनिक
Accountant-General	— महागाणनिक		आदि,

इसके अतिरिक्त, यदि हम Accounts के लिए जन-प्रचलित शब्द 'हिसाब' रखें तो Accountant के लिए 'हिसाब-रक्षक' रखना पड़ेगा, but we hardly ever reached as for as the "Accountant-General"

(३) तीसरी पद्धति भारत सरकार द्वारा १९५० में नियुक्त Board of Scientific Terminology की है। उसका कहना है "as far as possible international scientific and technical terms should be used in all books written in Hindi and other principal languages of India. International Terms of Geology, Zoology and Botany should be adopted as such,...........The symbols, signs and formulae used in Mathematics and other sciences should be used in Hindi,...........In preparing dictionaries of scientific terminology the trnsliteration of the International Terms should be given in Devanagari, and then the original in Roman Script in brackets, wherever necessary, a translation and explanation of the terms will also be given." यही पद्धति विश्वविद्यालय-आयोग और केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शदात्री-समिति द्वारा भी समर्थित है। २४ अक्टूबर, १९६१ को केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली द्वारा उद्घाटित वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग ने भी जो सिफारिशें की हैं, उनके पीछे भी लगभग यही पद्धति कार्य कर रही है। इसका भी यही कहना है कि जहाँ तक संभव हो, अंतर्राष्ट्रीय शब्दों का अंग्रेजी रूप स्वीकार किया जाय और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल उनका लिप्यन्तरण किया जाय। आयोग द्वारा घोषित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को ज्यों का त्यों सभी भारतीय भाषाओं में अपना लिया जाय। कौन-सी शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय मानी जायगी, इसके सम्बन्ध में उपर्युक्त आयोग ने यह निश्चय किया है कि तत्त्वों तथा यौगिकों के नाम (हाइड्रोजन,कार्बन आक्साइड आदि), बाट और माप की इकाइयों के द्योतक शब्द (डाइन, कैलोरी, फैरेड आदि), स्थिरांक (पाइ, जी आदि), ऐसे नये शब्द जो अत्यन्त प्रचलित हो गये हैं (रेडियो, पैट्रोल, रेडार आदि), गणित-प्रक्रिया में प्रयुक्त अक्षर, अंक, प्रतीक-चिह्न और सूत्र (साइन, कोसाइन, आदि) और वनस्पति-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान तथा भूगर्भ-शास्त्र की द्विनाम-शब्दावली आदि अंतर्राष्ट्रीय माने जायँगे। फिर भी इस आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि ज्यामिति की आकृतियों में देवनागरी लिपि का प्रयोग किया जाय, सरलता से समझ में आनेवाले शब्दों का चुनाव किया जाय, अप्रचलित शब्दों को भरसक न लिया जाय और समस्त भारतीय भाषाओं में एकरूपता लाने की दृष्टि से अधिक-से-अधिक प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त समान शब्दों का चयन किया जाय और शब्दों के रूप संस्कृत धातुओं से बनाये जायँ। इस आयोग के प्रधान सदस्य हैं—डा० दौलत सिंह कोठारी (अध्यक्ष), डा० बाबूराम-सक्सेना, डा० निहालकरण सेठी, डा० अल्लादी रामकृष्णन्, श्री रमाप्रसन्न नायक और डा० विश्वनाथ प्रसाद (सचिव)।

(४) पारिभाषिक शब्द-निर्माण के लिए प्रथम राजभाषा-आयोग ने भी कुछ सुझाव दिये हैं, जो राहुलजी द्वारा गृहीत पद्धति तथा डा० विश्वनाथ प्रसाद के सुझावों से बहुत हद तक मिलते हैं—The technicians, artisans, and crafts-men skilled and unskilled, plying different trends and engaged in different crafts, or exercising their respective professions, have, doubtless in the course of these decades evolved their own 'dialect' in their regional language for their usual occasions......probably in many cases adaptations or even 'vulgarisation' of English terms......The new terminological ezpressions may be evolved by stages—that is to say, first in respect of secondary schools, then in respect of Universities and so on."......

'अंतर्राष्ट्रीयता' की जल्पना

ऊपर सरकारी क्षेत्रों में जिन International Scientific Terms की बार-बार दुहाई दी जाती रही है, वह अंग्रेजी को टिकाये रखने का एक बहाना मात्र है। सच्ची बात यह है कि अंतर्राष्ट्रीय शब्द कहकर जो अंग्रेजी, जर्मन या फ्रेंच शब्दों की दुहाई दी जाती है, वे केवल पश्चिमी यूरोप तक ही सीमित हैं। पूर्वी यूरोप, रूस, चीन, जापान, मध्यपूर्व, दक्षिणपूर्व और सुदूरपूर्व में वे शब्द एकदम प्रचलित नहीं हैं। हमारे यहाँ इस सम्बन्ध में अंतर्राष्ट्रीय शब्द का जो प्रयोग दिया जाता है, उसका अर्थ अंग्रेजी

छोड़कर और कुछ नहीं हैं। इन अंग्रेजी-प्रेमियों को तोते की तरह रटना छोड़कर वस्तुस्थिति से परिचित होना चाहिये। सामान्य अर्थ में अंतर्राष्ट्रीय तो हम उसी भाषा को कहते हैं, जो अपने राष्ट्र के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र या राष्ट्रों में भी बोली-समझी जाती हो। इस दृष्टि से हिन्दी भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा मानी जा सकती है; क्योंकि उसी की एक शैली पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा है और उसकी शब्दावली सिंहल, स्याम, बर्मा, हिन्देशिया और पाकिस्तान में समान रूप से व्यवहृत है। चीनी और जापानी भाषा के भी बहुत-से शब्द कोरिया, मंचूरिया और फिलिपाइन आदि कई देशों में समान रूप से प्रचलित हैं। डा० विश्वनाथ प्रसाद कहते हैं—"ऐसे पारिभाषिक शब्दों की संख्या अंग्रेजी में बहुत ही कम है, जो फ्रेंच और जर्मन में समान रूप से प्रचलित हों। ऐसे शब्दों में यदि कहीं हिज्जे या वर्णविन्यास का साम्य मिला तो ध्वनि, स्वराघात और उच्चारण में इतना भेद है कि उच्चारित शब्द, उस भाषा का जो जानकार नहीं हो; उसकी समझ में शायद ही आवे। Inocculation के लिए फ्रेंच में भी यही शब्द प्रचलित है, पर उसका उच्चारण है 'इनाकूलेसियों' और जर्मन में इसके लिए Impfung शब्द का प्रयोग है। फ्रेंच और अंग्रेजी में स्वर-यंत्र के लिए Larynx है, तो जर्मन में Kehlkoph है। अंग्रेजी शब्द Vellum के लिए फ्रेंच में Veilin है, और जर्मन में Klospergament है।" यही अंग्रेजी की अंतर्राष्ट्रीयता की पोल है। अंग्रेजी-दाँ अमेरिका में अंग्रेजी शब्दों के प्रचलन का भी प्रश्न उठाते हैं, पर वह बात भी बहुत अंशों में गलत है। हिज्जे तो उनके स्पष्टतः भिन्न होते जा रहे हैं, साथ-साथ, अंग्रेजी से बिलकुल अलग उनके नये पारिभाषिक शब्द भी बनते जा रहे हैं। भाषाविज्ञान का कोई भी सचेष्ट छात्र इससे परिचित है।

कतिपय गलतफहमियाँ

बहुत पहले स्वर्गीय प्रेमचंद ने लिखा था—"हमारी समझ में तो यह आता है कि नये सिरे से पारिभाषिक शब्द बनाने की जगह कहीं अच्छा यह होगा कि अंग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में कुछ आवश्यक परिवर्तन करके उन्हीं को ग्रहण कर लिया जाय......यदि हमारी भाषा में बटन, लालटेन और बाइसिकिल—जैसे सैकड़ों विदेशी शब्द खप सकते हैं, तो फिर पारिभाषिक शब्दों को ले लेने में कौन-सी बात बाधक हो सकती है?" प्रेमचंद 'पारिभाषिक शब्द' का प्रयोग करते हुए भी उन शब्दों के उदाहरण देते हैं, जो पारिभाषिक नहीं हैं। पारिभाषिक शब्द, सामान्य शब्द से भिन्न होते हैं। आज, साधारणतः, लोग प्रेमचंद की ही तरह दोनों को घुला-मिलाकर कुछ इसी प्रकार के सतही फतवे देने की आदत बना बैठे हैं। ऐसे व्यक्तियों को यह स्मरण रखना चाहिये कि पारिभाषिक शब्द साधारण बोलचाल के नहीं होते; वे सिर्फ विशेषज्ञों के लिए होते हैं, जनसाधारण के लिए नहीं। यह उनका भारी भ्रम है कि अंग्रेजी अखबार धड़ल्ले से पढ़-समझ लेनेवाले अंग्रेज, अंग्रेजी भौतिक विज्ञान या रसायन-

शास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों को भी विना किसी दिक्कत के समझ लेते होंगे। वहाँ 'इज' और 'वाज' आदि शब्दों को छोड़कर उनके हाथ कुछ नहीं लगा करता। बाइसिकिल बनानेवाला अंग्रेज मिस्त्री Solar cycle, metonic cycle और Cyclic substitution से माथा खुरचकर भी कुछ नहीं निकाल पायगा। ऐसे लोग भौतिकी, रसायन, गणित, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, आदि किसी भी शाखा की कोई साधारण पुस्तक उठाकर देख लें, उन्हें पता लग जायगा कि उनके पल्ले क्या पड़ता है। अंग्रेजी का कौन ऐसा प्राध्यापक है, जो Azardirachta Indica और Curcuma Longa का अर्थ बता सके? पर, अंग्रेजी में एक छोटा-सा पत्र भी शुद्ध रूप में नहीं लिख सकनेवाला वनस्पति-शास्त्री तत्क्षण उनका अर्थ बता देगा—नीम और हल्दी। टुटपुँजिये डाक्टर के टकाही प्रेसक्रिप्सन पर लिखित शब्दों में से ९५ प्रतिशत न तो अल्डूस हक्सले की समझ में आयँगे और न जुलियन हक्सले की समझ में, पर भारत के किसी भी दवाखाने का साधारण से साधारण कर्मचारी भी उन्हें उसी तरह नजर डालते ही समझ लेता है जिस तरह बरबैंक साहब बोटेनी को और रसेल साहब फिलासफी को समझ लेते हैं। हम शिक्षित भारतीयों की मनीषा पर अंग्रेजी संस्कार इस तरह सवार हैं कि उसका पल्ला पकड़ लेना हम अब भी अपनी 'जिट्' जमाने के लिए आवश्यक समझते हैं, क्योंकि उससे शासन और श्रेष्ठंमन्यता की गंध आती है। उसी का परिणाम है कि हिन्दी पारिभाषिक शब्द हमें कर्ण-कटु, कृत्रिम और असंतोषप्रद दिखायी पड़ने लगते हैं। थोड़ी गम्भीरता से सोचने पर वस्तुस्थिति का पता लग जायगा कि न जाने, कितने हजार शब्दों का हमें निर्माण करना है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वे सभी शब्द सरल, श्रुतिमधुर और सुकर हों। वस्तुतः, हमारे शब्द भद्दे और कठिन नहीं हैं; उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे अपने हैं; और हम भारतीय अपनों को—अपनी सभ्यता-संस्कार, भाषा-संस्कृति को—वास्तविक महत्त्व देने के आदी तो कभी रहे नहीं।

दूसरी गलतफहमी है हमारे राजनीतिज्ञों की। वे समझते हैं कि उनको सभी विषयों पर बोलने का जन्मजात अधिकार प्राप्त है, सभी समस्याओं में टांग अड़ाने का विशेषाधिकार प्राप्त है। इस आचरण से वे सभी निर्णयों पर अपने राजनीतिक पूर्वाग्रह लादते चलते हैं। "गांधीवादी या कांग्रेसी का आग्रह रहेगा कि भाषा हिन्दुस्तानी हो—यानी अर्द्धनारी-नटेश्वर के समान अर्द्ध उर्दू, अर्द्ध हिन्दी। यथा हमें थर्मामीटर के लिए पारिभाषिक शब्द बनाना हो तो गर्मी या उष्णता को उर्दू में कहेंगे आतिश और हिन्दी शब्द होगा मापक—तो जैसे आतिशमापक या फैसब-ए-ऊष्मा देनेवाला यंत्र।...हिन्दूसभावादी और अन्य हिन्दुत्वनिष्ठ व्यक्ति यथा डा० रघुवीर और मौलिचंद्र शर्मा आदि के आग्रह हैं कि शब्द एकदम संस्कृतनिष्ठ हों। विदेशी शब्द बहिष्कृत किये जायँ। फौलाद को शुद्ध लौह कहा जाय, क्वीनाइन को ज्वरान्तक, गिरवी को भू-प्राधि, जमानत को प्रतिभू।" (प्रभाकर माचवे)

तीसरी गलतफहमी है हमारा यह समझ लेना कि ये पारिभाषिक शब्द हमारे लिए, हमारी पीढ़ी के लिए ही हैं। "हमें भूलना न चाहिये कि जो शब्दावली तैयार की जा रही है, वह इस पीढ़ी के लिए नहीं है, बल्कि आनेवाली पीढियों के लिए है। जबतक अँगरेजी का स्थान भारतीय भाषाएँ पूर्णत: ग्रहण करेंगी, तबतक हममें से बहुतेरे अपना कार्यकाल समाप्त कर अवकाश प्राप्त कर चुके रहेंगे, साथ ही भाषागत समस्याओं से मुक्त हो चुके रहेंगे। हमारे संस्कार हमारे अभ्यास के अनुसार बन चुके हैं, किन्तु आनेवाली पीढ़ियों के भाषागत संस्कार तथा अभ्यास बद्धमूल नहीं हुए हैं, वे पूर्वाग्रह से भी रहित हैं। इसलिए, हम देखते हैं कि नववयस्क बच्चे काफी सुगमता और सुविधा से हिन्दी शब्दों को सीख रहे हैं। आरम्भ से 'फीजिक्स' सुनने के अभ्यस्त हमारे कानों को 'भौतिकी' भले ही कर्कश लगे, पर बच्चे को इसमें कोई अस्वाभाविकता या विचित्रता नहीं दीखती। इसके प्रतिकूल यही शब्द उसे अधिक स्वाभाविक, परिचित एवं सरल मालूम पड़ता है। 'भूत', 'पंचभूत' कौन नहीं जानता ? फिर, उससे भौतिकी बना लेने में क्या उलझन है ? (श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा)

हमें क्या करना है ?

इस विकट समस्या के समाधान के लिए सबसे पहले हमें जो करना है, वह यह है कि हमें 'अन्तर्राष्ट्रीय' का मोह छोड़कर अपने ही घर की ओर देखना है। अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रीयता से पलायन नहीं है, उसका प्रसरण है। हम संकुचित दृष्टिकोण अपनाने को नहीं कहते, पर उसके साथ हम यथार्थ दृष्टिकोण अपनाने को तो कहेंगे ही। हमें अपने घर को अंधकार में रखकर मस्जिद में दिया जलाने का ठीका नहीं ले लेना चाहिये, सिर्फ इसलिए कि कोई इमाम हमें दुआयें देगा। सह-अस्तित्व और पंचशील का सारा ढकोसला हम गोआ और उत्तरी सीमाओं पर देख चुके हैं। इसलिए अनिवार्य यह है कि यदि समस्या सिर्फ हमारी है तो समाधान भी हमारा ही होना चाहिये— हमारी संस्कृति-सभ्यता-संस्कार-स्वभाव के अनुकूल।

पर इसका अर्थ यह नहीं कि अनेकानेक सम्पर्कों के प्रभाव से जो विदेशी शब्द जनसाधारण तक में प्रचलित हो गये हैं, हम उनका सर्वथा बहिष्कार कर दें। न तो डा० रघुवीर की तरह इंच के लिए 'प्रांगुल', मील के लिए 'क्रोशक' और लालटेन के लिए 'वानदीय' ग्रहण कर लेना आवश्यक है और न उस्मानिया विश्वविद्यालय की तरह 'एफिनिटी' और 'अनालौजी' जैसे अंग्रेजी शब्दों को हू-बहू ग्रहण कर लेना अनिवार्य। हमें विचार कर लेना चाहिये कि हम किन शब्दों को अंग्रेजी रूप में अपनावें और किनके हिन्दी पर्याय तैयार करें। साथ-साथ यह भी कि अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को हम अपनी भाषा की ध्वनि और व्याकरण के अनुकूल ग्रहण करें—यानी, जहाँ एक अंग्रेजी शब्द को विशेषण, क्रियापद आदि रूपों में अभिव्यक्त करने का प्रश्न हो, वहाँ हम अंग्रेजी मूल शब्द को तो ग्रहण कर लें, पर और रूप हम अपनी भाषा के स्वभाव

और व्याकरण के अनुशासन में लाकर प्रयोग के अनुकूल बना लें। इस सम्बन्ध में डा० रघुवीर ने जिस संस्कृत-परम्परा तथा भाषा-वैज्ञानिक नियमों का अनुसरण किया है, वे अपरिहार्य होते हुए भी परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं। संस्कृत के साथ-साथ हमें हिन्दी-व्याकरण और भाषावैज्ञानिक नियमों की दृष्टि से भी यह विचार कर लेना चाहिये कि हम किन हिन्दी प्रत्ययों और उपसर्गों का किन रूपों और अर्थों के लिए व्यवहार करें।

हमारे सब-के-सब पारिभाषिक शब्द या तो हजारों वर्ष पुराने संस्कृत रूपों के अनुकूल बनाये जा रहे हैं, या नहीं तो हजार कोस दूर की भाषा—अंग्रेजी के अनुरूप। उनका, वर्त्तमान हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं से भी गहरा सम्बन्ध होना चाहिये। भरसक हमारा प्रयास यह होना चाहिये कि हमारे नवनिर्मित शब्द हमारी राष्ट्रभाषाओं के प्रचलित शब्दों और व्याकरण के अनुसार बनें। मराठी में थर्मामीटर के लिए तापनली, सिनेमा के लिए बोलपट, रेडियो के लिए नभोवाणी, मेगाफोन के लिए मेघाफोन, टाइपराइटिंग के लिए टंकलेखन, शार्टहैण्ड के लिए शीघ्र-लेखन ; गुजराती में टेलीफोन के लिए दूरगू और सर्कुलेटिंग लाइब्रेरी के लिए फिरता पुस्तकालय आदि शब्द प्रचलित हैं। इनका प्रयोग अखिल भारतीय स्तर पर किया जा सकता है। उसी तरह हिन्दी में Solid के लिए घन या संघात की अपेक्षा ठोस शब्द अधिक अच्छा समझा जा सकता। ये वे शब्द हैं, जो अनायास बन गये हैं और प्रयास करने पर भी नहीं अव्यवहृत रह सकते। इस दृष्टिकोण से भारत की सभी साहित्यिक भाषाओं का उचित सर्वेक्षण हो, या नहीं तो तत्काल उनके विशेषज्ञों की राय प्राप्त की जाय। इस तरह सभी भाषाओं में समान रूप से प्रचलित शब्दों का भी पता लग जायगा, हमारे कोशों का विस्तार होगा, और राष्ट्रीय एकता की भावना बद्धमूल होगी।

हमें अपनी लोकभाषाओं की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, उनमें भविष्य की राष्ट्रभाषाओं के बीज निहित हैं। किसानों, मजदूरों तथा अन्य श्रमजीवियों की बोलियों में उद्योग-धंधे, कला-कौशल और सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द किसी भी साहित्यिक भाषा में नहीं मिलेंगे। रंगों के सम्बन्ध में ही देखिये—धानी, बैंगनी, आसमानी, चितकबरा, धौरा, चरका आदि पचासों शब्द हैं, जो देहातों में प्रतिक्षण प्रचलित होते रहते हैं और उनके साहित्यिक पर्याय अनुपलब्ध हैं।

इस सबका समन्वयन होने पर जो पारिभाषिक शब्दावली बनेगी, वह न केवल आज के हिन्दी-पंडितों और जनसाधारण के लिए ; बल्कि सम्पूर्ण भारत के पंडितों और साधारण के लिए, अगले कई सौ वर्षों तक के लिए समीचीन, सरल और संतोषप्रद सिद्ध होगी।

संस्कृत अपरिहार्य क्यों है ?

पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के लिए देशी भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत का भी सहारा लेना कई कारणों से अनिवार्य हो जाता है। वह हमारी आज की लगभग सभी समुन्नत भाषा-गंगाओं की गंगोत्री है। दूसरी ओर, संसार की ऐसी तीन-चार भाषाओं में से वह एक है, जिसमें शब्द-निर्माण की अपरिमित क्षमता और असाधारण योग्यता है। उपसर्ग और प्रत्ययों का भेद कर वह एक मूल से सैकड़ों शब्द बना सकती है, और सबमें एकरूपता बरत सकती है। अंग्रेजी का 'रजिस्टर' शब्द भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक शिक्षितों के बीच प्रचलित है, और उसके दो समानार्थी शब्द ग्रामों और अशिक्षितों के बीच प्रचलित हैं—'बही' और 'खाता'। इन शब्दों को छोड़ जब हम संस्कृत का 'पंजी' शब्द ग्रहण कर लेते हैं तो सुननेवाले मुँह बिदका लेते हैं। मुँह बिदका लेनेवालों के सामने अभी एक ही शब्द है—'रजिस्टर', पर 'पंजी' प्रयोग करनेवालों के सामने अनेक ऐसे शब्द हैं, जो रजिस्टर से सम्बद्ध हैं—

Register (क्रिया रूप)	पंजीयन
Registered	पंजीयित
Registrator	पंजीयक
Registrar	पंजीकार
Registrant	पंजीयनार्थी
Registration	पंजीयन (संज्ञा)
Registering-clerk	पंजीयन-लिपिक

अब यदि रजिस्टर के लिए हम 'बही' या 'खाता' शब्द रखते हैं तो क्रिया-रूप में हम क्या प्रयोग में रखेंगे? 'खाता' का तो देहातों में एक क्रियारूप प्रचलित है भी—'खतियाना', पर उसका अर्थ थोड़ा भिन्न है, और उसका गहरा सम्बन्ध सर्वेक्षण-सम्बन्धी पत्रों—'खतियान' से है। और बही से तो स्वतंत्र क्रियारूप बनते नहीं देखा गया। इसी तरह, दूसरे शब्दों के सम्बन्ध में भी वही कठिनाई है। पर संस्कृत का 'पंजी' शब्द रख लेने से वही एकरूपता और सरलता बनी रह जायगी, जो अंग्रेजी में है। और, जो कहते हैं कि 'पंजी' शब्द प्रचलित नहीं है, वह मिथिला के किसी भी गाँव में चले जायँ—इसका उत्तर उन्हें मिल जायगा। वहाँ एक वर्ग ही है, जो पिछले सैकड़ों वर्षों से 'पंजीकार' कहलाता है और विवाह-जन्म-मृत्यु आदि का विधिवत् पंजीयन करता है। हम अपने विशेषज्ञों की सदाशयता में आस्था तो रखें।

उपयुक्त शिक्षा और यथोचित अभ्यास से सब-कुछ हो सकता है। जो भारतीय विद्यार्थी अंग्रेजी शब्दों के अनुकूल अपनी जीभ को मरोड़ सकता है और संपूर्ण अंग्रेजी कोश को कंठाग्र कर सकता है, वह अपेक्षाकृत सुपरिचित और संस्कारोचित शब्दों को भी याद कर लेगा, बोल लेगा। संक्रांति-काल में जन्मे, बढ़े और पले हमलोगों की

अपेक्षा हमारे बच्चे ऐसे शब्द अधिक संख्या में हस्तामलक किये बैठे हैं। और, इस तरह हम पायँगे कि अगली पीढ़ी तक उनके लिए अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द उतने ही कठिन हो जायँगे जितने कि आज हमारे लिए हिन्दी पारिभाषिक शब्द हैं। आवश्यकता है कि हम संपूर्ण भारत को दृष्टि में रखकर एक सर्वसम्मत पारिभाषिक शब्द-कोश बना लें और विना किसी छल-छद्म के एक निश्चित तिथि से सभी जगह या क्रम से, उसे लागू करें।

देवनागरी लिपि-सुधार

भारतवर्ष में लगभग दस प्रधान लिपियाँ हैं, जिनमें सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रचलित लिपि देवनागरी है। इसका समुचित विकास दसवीं शताब्दी से माना जा सकता है, जबकि यह वर्त्तमान हिन्दी-क्षेत्र के अतिरिक्त अहिन्दी क्षेत्रों में भी प्रयुक्त होती थी। इसीका कुछ परिवर्तित रूप बंगाल की बँगला लिपि, पंजाब और कश्मीर की शारदा और गुरुमुखी लिपियों, गुजराती, उड़िया, असमी आदि उत्तर भारत की सभी लिपियों में प्राप्त होता है। विद्वानों का कहना है कि नागरी लिपि का प्रयोग उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में पहले हुआ। इसलिए, इस लिपि का वर्त्तमान स्वरूप अनेक समयानुकूल परिवर्त्तनों और सुविधानुसार परिष्कारों-सुधारों के पश्चात् ही निर्मित हुआ है।

भारतवर्ष की लगभग सभी लिपियाँ, या तो सीधे यहाँ की सबसे प्राचीन लिपि ब्राह्मी से ही निकली हैं, नहीं तो उससे प्रभावापन्न हैं। इस प्रकार सभी सहोदरा ही मानी जा सकती हैं। दक्षिण भारत की भी प्रचलित लिपियाँ, जो कि रूप और आकृति में देवनागरी से सर्वथा भिन्न मालूम पड़ती हैं, आंतरिक रूप से ब्राह्मी से सम्बद्ध होने के कारण देवनागरी की ही बहनें हैं।

इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि इसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। किसी भी लिपि की उत्कृष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि लिखित वस्तु ठीक उसी प्रकार पढ़ी जाय; उसमें कोइ उलझन, अस्पष्टता या गलती की संभावना न हो। और, इस दृष्टि से देवनागरी विश्व की सर्वोत्कृष्ट लिपि है। सरलता और सुन्दरता की दृष्टि से भी यह अद्वितीय है। भारत की संविधान-सभा ने इस लिपि के इन्हीं सब गुणों को दृष्टि में रखकर इसे राष्ट्रीय लिपि की संज्ञा दी है। इसी लिपि में संस्कृत भी लिखी जाती है, जिसमें प्राचीन भारतवर्ष का संपूर्ण व्यक्तित्व अभिव्यक्त हुआ है।

किसी भी राष्ट्र की एकता और दृढ़ता के लिए यह अनिवार्य है कि वहाँ एक भाषा और एक लिपि हो। संविधान-सभा की राष्ट्रभाषा-समिति के सम्मुख उपस्थित एक भी प्रतिवेदन में इस अनिवार्यता की उपेक्षा नहीं की गयी है; और एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसने यह नहीं स्वीकारा हो कि इस दृष्टि से भी भाषा के रूप में हिन्दी और लिपि के रूप में देवनागरी का स्थान निर्विवादतः सर्वोपरि है। पर, इसका अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा निर्दोष है।

सुधार की आवश्यकताएँ

जब देवनागरी में लिखित हिन्दी, भारत की राजभाषा घोषित की गयी और तदनुरूप उत्तरप्रदेश, बिहार, पंजाब, मध्यप्रदेश और राजस्थान की प्रादेशिक सरकारों ने इसे शीघ्रतिशीघ्र शासन-व्यवस्था में व्यवहृत करने का निश्चय किया, तब यह अनिवार्य हो गया कि परिवर्तित परिस्थितियों और यांत्रिक साधनों के अनुकूल इस लिपि में कुछ ऐसे सुधार किये जायँ, जिससे कि यह अपनी प्राचीनता, सरलता और सुन्दरता का निर्वाह करते हुए भी कतिपय नवीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ सिद्ध हो सके। सुधार की आवश्यकता का दूसरा प्रधान कारण यह है कि प्रजातांत्रिक शासन-व्यवस्था की सफलता के निमित्त शिक्षा-प्रसार की बड़ी-बड़ी योजनाएँ सभी प्रदेशों में तैयार की जा रही हैं और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने का भी प्रयत्न किया जा रहा है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना कार्यान्वित की जानेवाली थी। इसके सफल कार्यान्वयन के लिए अपरिमित संख्या में पाठ्यपुस्तकों, पत्रों और पर्चों का प्रकाशन होना था, जो कि विभिन्न आकार-प्रकार, रूप-रंग, और छोटे-बड़े टाइपों में प्रकाशित होनेवाले थे। समाचारपत्रों की बढ़ती हुई संख्या का ी तकाजा हो रहा था कि देवनागरी लिपि में कुछ ऐसे सुधार अवश्य ही किये जायँ, जिनसे उनके प्रकाशन में असुविधा और विलंब कम-से-कम हो। इसके लिए मुद्रण-सम्बन्धी यंत्रों को लेकर सुधार करना जरूरी था। अभी मुद्रण के लिए सबसे अच्छा यंत्र रोटरी माना जाता है, और उसके लिए मोनो और लाइनो-टाइप-संग्रथन आवश्यक हो जाता है। समाचार-पत्र, विशेषकर दैनिक, टेलीप्रिंटर के विना काम नहीं कर सकते और नागरी में टेलीप्रिंटर नहीं है; क्योंकि देवनागरी के टंकन और मुद्रण में प्रत्येक पंक्ति के लिए तीन पंक्तियाँ संग्रथित करनी पड़ती हैं। मध्य की पंक्ति अक्षरों की रहती है, ऊपर की पंक्ति ि, ी, े, ै, ो, ौ, ँ, और ं के लिए तथा नीचे की पंक्ति ु, ू, ृ, ्, मात्राओं के लिए। कभी-कभी चार पंक्तियों की नियोजना भी करनी पड़ती है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति 'ट्रूमैन' के लिए ऐसी ही कठिनाई उपस्थित हो जाती है। संग्रथन में, सात सौ से लेकर नौ सौ तक के बीच में स्वतंत्र मुद्राओं की आवश्यकता पड़ जाती है, जिन्हें अभी अधिकतर हाथ से उठाकर यथास्थान रखना पड़ता है। इस कारण बहुत अधिक समय, परिश्रम और व्यय लगता है। हिन्दी के इतने अधिक वर्णों, मात्राओं, संयुक्तों और पंक्तियों का मुद्रण लाइनो टाइप, टाइपराइटर और टेलीप्रिंटर द्वारा असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

हिन्दी में कोई अच्छा मोर्सकोड नहीं बन पाया है। इसीलिए उसमें तार आदि भेजना कठिन है। डाक-तार-विभाग ने यद्यपि इस दिशा में कुछ प्रगति अवश्य प्रदर्शित की है, फिर भी नागरी की उपर्युक्त त्रुटियों के कारण उसमें भी काफी विलंब हो जाया करता है।

फलतः देवनागरी लिपि में सुधार की जो प्राथमिक आवश्यकताएँ उभरीं, वह वर्त्तमान अंग्रेजी टाइपराइटर को देखकर। पाठक देखेंगे कि अधिकांश योजनाएँ अपने मूल रूप में इसी टाइपराइटर से सम्बद्ध हैं और सुधारकों ने सर्वप्रथम यही प्रयोग किया है कि टाइपराइटर यंत्र के अनुकूल लिपि में कैसे परिवर्तन लाये जायँ। होना यह था कि हमारी लिपि के अनुकूल टाइपराइटर बनते, पर नारा यह दिया गया कि टाइपराइटर के अनुकूल लिपि बने। लिपि और टाइपराइटर की वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि सभी चिह्नों, संकेतों और मात्राओं को स्थान मिलना तो कठिन है ही, टंकन में गति लाना तो और भी कठिन है। इस गति-मंदता का सबसे बड़ा कारण मात्राएँ और संयुक्त वर्ण हैं; और मात्राओं को कभी बायें (जैसे ि), कभी दायें (जैसे ी आदि), कभी ऊपर (जैसे े, ै आदि) और कभी नीचे (जैसे ु, ू, आदि) डालना है। प्रचलित टाइपराइटर पर यह कसरत कठिन है, और यदि की भी जाय तो गति नहीं आ सकती।

कतिपय उल्लेखनीय प्रस्ताव

(१) **राहुलजी का प्रस्ताव :**—१९३७-३८ ई० के आस-पास ही राहुलजी ने अपनी स्वतंत्र मेधा के अनुरूप देवनागरी लिपि-सुधार-सम्बन्धी कतिपय प्रस्ताव उपस्थित किये थे, जो इस प्रकार थे—

(अ) अ की बारहखड़ी का प्रयोग हो—जैसे अ आ अि अी अु अू अे अै अो अौ अं अः।

(आ) ष का उच्चारण तालव्य के ही समान होने लग गया है, इसलिए वर्णमाला से उसे बहिष्कृत कर दिया जाय और उसके स्थान पर 'श' का ही प्रयोग किया जाय।

(इ) 'र्', '्र' और 'ृ' हटा दिये जायँ, और उनके बदले समान रूप से 'र' का ही प्रयोग किया जाय।

(ई) ड़ को भी हटा दिया जाय, उसके बदले दक्षिणी भाषाओं के 'ळ' का प्रयोग चले।

(उ) क्ष के बदले 'क्‌श' और 'ज्ञ' के बदले 'ज्‌ञ' का प्रयोग चले।

(ऊ) संयुक्त अक्षरों को बनाने के लिए संयोज्य अक्षरों के नीचे '०' चिह्न लगाया जाय।

इन सुझावों पर सिर्फ राहुलजी ही अमल करते रहे इस ईमानदारी के साथ कि नवम्बर १९३८ में बिहार प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से दिया गया उनका अभिभाषण तक इस 'नयी, सुधरी हुई लिपि' में ही छापा गया। उनकी कुछ पुस्तकें भी 'अ' की बारहखड़ी में ही प्रकाशित हुईं। बाद चलकर उन्होंने भी इसका परित्याग कर दिया।

राहुलजी के प्रस्तावों के अनुकूल नमूना

हिनदी भाशा के सरवांश में अुननत होने का समय आ गया है। भाशा की अुननति का मतलब है, जाति की अुननति। हमारे परानत में साकशरता का आनदोलन चल रहा है। कुछ ही बरशों में चनद बूढ़ों को छोड़कर हमें सबको साकशर बनाना है। और, फिर अिस साकशर जनता के सामने हमें अुपयोगी साहितय रखना है। कला-संबनधी साहितय ही नहीं, अब अुनके लिये हमें करिशि-विजञान, गराम-अुदयोग तथा दूसरे अुपयोगी विशय के सुगम-सुगम गरनथ तैयार करने हैं। विदेशी भाशाओं में अिन विशयों के हजारों गरनथ बन चुके हैं। लेकिन हिनदी में गरामीण और किसान जनता के लिअे अुपयोगी गरनथों की बहुत कमी है।…… हमारी जाति की तरह हमारी भाशा का भी भविशय अुजजवल है, अिसमें जरा भी सनदेह की गुंजायश नहीं। लेकिन अिसके साथ-ही-साथ हमारा दायितव बढ़ जाता है; और अपनी जिममेवारियों के अनुसार हमें और योगय बनने की आवशयकता है।

[बिहारप्रांतीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से दिये गये राहुलजी के अभिभाषण का 'उपसंहार']

(२) **हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का प्रस्ताव** :—सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन' इन्दौर में, १६३५ ई० में, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ था। इसी अधिवेशन में काका कालेलकर के संयोजन में एक देवनागरीलिपि-सुधार-उप-समिति संगठित हुई थी, जिसमें अजमेर के श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा, लाहौर के श्री ए० सी० वुलनर, कलकत्ते के श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी और श्रीहरिजी गोविल, मद्रास के श्री पिशरोटी, प्रयाग के श्रीबाबूराम सक्सेना, वर्धा के श्रीकिशोरीलाल मश्रूवाला और पूने के श्रीशंकर रामचन्द्र दांते सदस्य मनोनीत किये गये थे। यदा-कदा विशेष आमंत्रण पर लाहौर के श्री लक्ष्मणस्वरूप और श्री रघुवीर, काशी के श्री मुकुंददास गुप्त और केदारनाथ, प्रयाग के श्री पुरुषोत्तम दास टंडन और श्री रणजीत सीताराम पंडित और पूने के श्री यशवंतराव दांते भी उपस्थित हुए थे। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् सम्मेलन ने चौदह सुझाव उपस्थित किये, जो निम्नलिखित हैं—

(क) लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं है। छपाई में साधारण रीति से शिरोरेखा लगाना ही नियम रहे। किन्तु विशेष स्थानों में अक्षरों की विभिन्नता प्रकट करने के लिए शिरोरेखाहीन अक्षर भी प्रयुक्त हो सकते हैं। सम्मेलन की

सिफारिश है कि विशेष या छोटे अक्षरों में जहाँ शिरोरेखा होने से छपाई की स्पष्टता में कमी आ जाती हो, वहाँ शिरोरेखा-विहीन अक्षरों का प्रयोग करना अच्छा होगा।

(ख) प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारणक्रम से लिखा जाय।

(य) जबतक कोई संतोषजनक रूप सामने न आये, तबतक 'इ' की मात्रा अपवाद रूप से वर्त्तमान पद्धति के अनुसार ही 'ि' लिखी जाय, यथा—'शिर'।

(र) ए, ऐ, की मात्राएँ वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर जरा हटा कर, वर्त्तमान पद्धति के अनुसार ऊपर लगायी जायँ, यथा देवता, अनेक। ओ और औ भी ऊपर के सिद्धांत के अनुसार लिखे जायँ, यथा—अोला, अौरत।

(ल) उ, ऊ, ऋ, की मात्राएँ अक्षर के बाद आयें और पंक्ति में ही लिखी जायँ, यथा—कुटिल, पूजा, सृष्टि।

(व) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न भी अक्षर के बाद ऊपर लिखे जायँ, यथा—अंश।

(श) रेफ से व्यक्त होनेवाला अर्द्ध 'र' उच्चारणक्रम से योग्य जगह पर लिखा जाय, यथा—धर्म।

(ष) संयुक्ताक्षर में द्वितीय 'र' सामान्य रूप से लिखा जाय, जैसे—प्र, त्र।

(स) संयुक्ताक्षर में भी सर्वत्र वर्ण उच्चारणक्रम से एक के पीछे एक लिखे जायँ, यथा—द्‌वारका (द्वारका नहीं) विद्‌वत्ता (विद्वत्ता नहीं)।

(ग) स्वरों और मात्राओं में, समानता तथा सामंजस्य करने के लिए 'इ ई उ ऊ' के वर्त्तमान रूप छोड़कर केवल 'अ' में ही इन स्वरों की मात्राएँ लगाकर इन स्वरों के मूल स्वरूप का बोध कराया जाय अर्थात् अ की बारहखड़ी की जाय, यथा अ, आ, अि, अी, अु, अू, अृ, अे अै, ओ, औ, अं, अः।

(घ) दक्षिण की लिपियों के स्वरों में ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ के स्वरूप आते हैं, उनके लिए मात्रा इस प्रकार लगायी जाय, यथा अॆ, अॊ।

(ङ) पूर्ण अनुस्वार के स्थान पर '०' लगाया जाय, और अनुनासिक के लिए केवल बिंदी '·' लिखी जाय, यथा—सि०ह, चांद। व्यंजन के पूर्व हलन्त 'ङ ञ ण न म' की जगह पर, जहाँ प्रतिकूलता न हो (यथा वाङ्मय, तन्मय), अनुस्वार लिख जाय; यथा च०चल, प०थ, प०प आदि।

(च) छपने में अक्षरों के नीचे बाईं ओर यदि अनुकूल स्थान पर बिन्दी लगायी जाय, तो उसका अभिप्राय होगा कि उस अक्षर की ध्वनि उस अक्षर की मूल ध्वनि से भिन्न है। उस ध्वनि का निर्णय प्रचलन के अनुसार होगा। यथा फारसी क़, ख़, ग़, ज़, फ़; मराठी च़, सिंधी ज़ इत्यादि।

(छ) विराम चिह्न आजकल सब भारतीय भाषाओं में जो प्रचलित हैं, वे ही कायम रखे जायँ। पूर्ण विराम का चिह्न '।' रहे।

(ज) अंकों के स्वरूप इस प्रकार रहें—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

(झ) वर्त्तमान ख के स्वरूप में परिवर्त्तन करना आवश्यक है। उसके स्थान पर 'ཁ' स्वीकार किया जाय।

(ञ) अ, झ, ण, की जगह बम्बई के अ, झ, ण रखे जायँ और ल, श, की जगह हिन्दी के रूप ल, श रखे जायँ। 'क्ष' का 'क्ष' रूप प्रचलित किया जाय। बीजगणित आदि वैज्ञानिक साहित्य में संज्ञा रूप 'क्ष' आ सकता है।

(ट) मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलगू आदि भाषाओं में विशिष्ट ध्वनि के लिए जो ळ अक्षर प्रयुक्त होता है, वही रखा जाय। ड या ल से व्यक्त न किया जाय।

(ठ) ज्ञ के उच्चारण में प्रान्तीय भिन्नता होने से ज्ञ का रूप जैसा है, वैसा ही रखा जाय। ओ३म् के ओ३म् और ॐ दोनों रूप चलें। श्री के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि श्री के साथ प्राचीन श्री रूप भी रखा जाय।

(ड) संयुक्त अक्षरों को बनाने के लिए जिन वर्णों में खड़ी पाई अंतिम भाग में है, जैसे—ख, ग, घ, च, ज, ञ, ण, त, थ, ध, न, प, ब, भ, म, य, ल, व, श, ष, स उनका संयोज्य रूप खड़ी पाई हटाकर समझा जाय, यथा, ख़, ग, ६, च, ज, त, थ, न, प, ठ, इत्यादि। क और फ का वर्त्तमान संयोज्य रूप 'क' 'फ' स्वीकृत किया जाय। जिन अक्षरों में खड़ी पाई अंतिम भाग में नहीं है, उनका संयोज्य रूप संयोजक चिह्न (^) लगा कर समझा जाय। संयोजक चिह्न पिछले अक्षर से मिला रहे, यथा–वि^दया, विठ^ठल, उच्छ्^वास, बुड^ढा, ब्रह^मा।

(ढ) शिरोरेखा हटाकर लिखने में 'भ' और 'ध' को म और घ से पृथक् करने के हेतु निम्नलिखित रूप स्वीकार हों—भ, ध। सम्मेलन के सुझावों का व्यावहारिक प्रयोग राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा और दक्षिण भारत भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति द्वारा संचालित परीक्षाओं तथा वहाँ से प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों में धड़ल्ले से हुआ। राष्ट्रपिता का आशीर्वाद इसे प्राप्त था ही। किन्तु, न जाने क्यों, हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में ये सुझाव स्वीकृत न हो सके। फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह पहली सुधरी हुई लिपि थी, जिसका प्रचार (एक सीमित क्षेत्र में ही सही) हो सका।

(३) श्री श्रीनिवास का प्रस्ताव :—यह प्रस्ताव काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत किया गया था, यद्यपि यह श्रीनिवास-नामक एक व्यक्ति की ही कृति है। सभा ने सर्वश्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, वासुदेवशरण अग्रवाल, रामचंद्र वर्मा केशवप्रसाद मिश्र, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णानंद और धीरेन्द्र वर्मा की एक लिपि-सुधार-समिति संगठित की थी, जिसका प्रथम अधिवेशन ज्येष्ठ २४, २५ संवत् २००२

को हुआ था। इसी समिति के सम्मुख श्रीनिवास ने अपना यह प्रस्ताव उपस्थित किया था। श्रीनिवास के प्रस्ताव के प्रधान बिन्दु निम्नलिखित हैं—

(क) प्रत्येक स्वर वर्ण का पूर्वार्द्ध समान रूप से 'ऊ-' हो, जो निमित्त मात्र रहे।

(ख) आंग्ल शब्द at और all में जो स्वर उच्चरित होते हैं, उनके लिए वर्ण बढ़ाये जायँ।

(ग) स्वर वर्णों का उत्तरार्द्ध (मात्रा) भिन्न हो, जिसे उस स्वर की मात्रा माना जाय।

(घ) 'अ', 'आ' स्वरवर्णों का उत्तरार्द्ध (मात्रा) उनके पूर्वार्द्ध के बराबर रखा जाय; किन्तु जो स्वर जिह्वा की नोंक से उच्चरित होते हैं, जैसे—ई, ए, उनके वर्णों का उत्तरार्द्ध (मात्रा) पंक्ति से ऊपर उठा हो तथा जो स्वर जिह्वामूल से उच्चरित होते हैं, जैसे—ऊ, ओ, उनके वर्णों का उत्तरार्द्ध (मात्रा) नीचे उतरा हो, जैसे रोमक अक्षरों में a, b और p के उत्तरार्द्ध क्रमशः पंक्ति से सम, ऊपर उठे और नीचे उतरे होते हैं।

(ङ) जिस स्वर-संकेत या मात्रा में '॒' चिह्न लगाया जाय, उसका उच्चारण—'॒' चिह्न-रहित स्वर-संकेत या मात्रा से—आधा समझना चाहिये। इस '॒' चिह्न का अर्द्धक शब्द से व्यवहार किया जाय।

(च) स्वर-वर्ण में ध्वनि-क्रम के अनुसार उपयुक्त मात्राओं को लगाकर संध्यक्षर बनाया जाय।

(छ) मात्रा अस्वर-व्यंजन (वह व्यंजन जो खड़ी रेखा-रहित है) के पश्चात् लगायी जाय—पीछे, ऊपर, नीचे नहीं।

(ज) प्रत्येक अकारांत व्यंजन का उत्तरार्द्ध पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त हो; रेखा-रहित होने पर शुद्ध व्यंजन अथवा अस्वर माना जाय।

(झ) संयुक्त अक्षर ध्वनि-क्रम से वर्ण के पश्चात् उपयुक्त मात्रा रखकर बनाया जाय। पंक्ति में पहले अस्वर व्यंजनों को रखा जाय, फिर मात्रा को बगल में, ऊपर-नीचे नहीं।

(ञ) प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण में एक-सा चिह्न '॰' लगाकर उस वर्ग का महाप्राण वर्ण व्यक्त किया जाय, जैसे—'प' से 'फ'।

(ट) प्रथम तीन वर्गों के तीसरे वर्णों में और पश्चात् के दोनों वर्गों के प्रचलित प्रथानुसार प्रथम वर्णों में अनुस्वार '०' चिह्न लगाकर उस वर्ग का पंचम वर्ण बनाया जाय, जैसे—'प' से 'म' होता है।

(ठ) 'क' का रूप 'क' (जैसा 'क्त' में है), 'श' का रूप 'श्' और 'र' का रूप '्र' (जैसा 'श्र' में होता है) केवल एक रूप प्रत्येक स्थल पर माना जाय।

(ड) 'ड' और 'ह' में रूप-लाघव किया जाय और उन्हें पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त किया जाय।

(ढ) 'क', ट, ड, द, ह, प्रत्येक अकारांत वर्ण पूर्ण खड़ी रेखा से युक्त रखा जाय।

(ण) F, Zh, Z के लिए वर्ण बढ़ाये जायँ।

श्री श्रीनिवास का दावा है—"उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुकूल केवल १२ स्वर-चिह्न और २६ व्यंजन-चिह्नों से संस्कृत, हिन्दी तथा भारत एवं विशाल भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी और फारसी-अरबी के उच्चारण शुद्ध व्यक्त किये जा सकेंगे। इस प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि का मुद्रण यंत्रों द्वारा सहज ही किया जा सकता है। इसमें मुद्राओं की संख्या कम होने से हाथ से जोड़ने (कम्पोजिंग) में भी पहले की अपेक्षा सरलता तथा त्वरा-दोनों प्राप्त हो जायँगी।"

सभा द्वारा नियोजित लिपि-समिति ने अन्य प्रस्तावों के साथ-साथ श्रीनिवास के प्रस्ताव पर भी विचार किया और उसे उनका यह प्रयत्न 'विशेष संगत प्रतीत हुआ।' श्रीनिवास ने समूचे 'अ' की बारह खड़ी नहीं की है, जो विज्ञान और व्यवहार—दोनों ही दृष्टि से भ्रामक और अशुद्ध है। ये 'अ' के असंकेतित अथवा निरर्थक अंश 'ं-' के साथ भिन्न-भिन्न उत्तरार्द्ध (मात्राओं) का प्रयोग करके स्वरों का बोध कराते हैं। ऐसा करने से स्वरों में समानता भी आ गयी है और प्रत्येक स्वर का लिपिगत रूप भी भिन्न हो गया है। इनकी स्वरलिपि में एकमात्रिक ह्रस्व और द्विमात्रिक दीर्घ-परम्परा का निर्वाह भी है। श्री श्रीनिवास प्रत्येक वर्ण की खड़ी रेखा को पूर्ण या अपूर्ण स्वर की मात्रा मानते हैं और उनके प्रयोग से वर्ण को सस्वर और अप्रयोग से अस्वर समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों में महाप्राण का कल्पित चिह्न लगाकर ये द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का बोध कराते हैं। पंचम वर्णों की आकृति भी ये भिन्न नहीं रखते, अपने-अपने वर्ग के किसी अल्पप्राण वर्ण में अनुस्वार का चिह्न लगाकर उन्हें व्यक्त करते हैं, जैसे—'प' में अनुस्वार का चिह्न '०' लगाकर 'म' होता है।

समिति ने श्रीनिवास की प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि पर इस प्रकार विचार व्यक्त कर निर्णय दिया—"यद्यपि ये कल्पनाएँ नवीन हैं और प्राचीन रूपों से इनमें पार्थक्य बहुत है, तथापि टाइपराइटर या लाइनो टाइप द्वारा मुद्रण में इनसे बड़ी सुगमता आ जाती है। इस सम्बन्ध के कतिपय अन्य सुझावों से इनका यह सुझाव सर्वथा सरल और व्यवस्थित है, इसमें सन्देह नहीं। इन सुझावों में समिति को दो बातें खटकती हैं। एक तो महाप्राण चिह्न इतना सूक्ष्म है कि उसके स्पष्ट न होने पर 'भाप', 'बाप' हो जायगा और दूसरे, पंचम वर्ण लिखने में अनुस्वार का चिह्न किस अल्पप्राण में जोड़ा जाय, यह अनिश्चित है। श्री श्रीनिवास से समिति अनुरोध करती है कि वे इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करें।" [नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ५३, अंक १, वैशाख-आषाढ़, सं० २००५]

श्रीनिवास की प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि की वर्णमाला

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१										
२										
३										
४										
५										
६										

वर्णमाला की कुंजी

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	अ	अ	आ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ए
	अर्धक		अर्धक						अर्धक	
२	ओ	ओ	action	at	ought	all	ऋ	अं	अः	अँ
	अर्धक		अर्धक	दीर्घ	अर्धक	दीर्घ				
३	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
४	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
५	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श
६		स	ह	Z	F	treasure	ळ	क्ष	श्र	ज्ञ

(४) **डा० पन्नालाल का प्रस्ताव**—प्रयाग के डा० पन्नालाल ने सुधार के नौ सुझाव उपस्थित किये, जिनमें प्रधान ये हैं—

(अ) दीर्घ 'ई' की मात्रा ज्यों-की-त्यों रहे, यथा 'दीन', किन्तु ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी ओर ही इस प्रकार लगायी जाय, यथा 'दीन'

(आ) 'र' में हल् लगाकर रेफ का काम लिया जाय, जैसे—समर्थ (समर्थ)

(इ) पंचमाक्षरों को निकाल दिया जाय और उनका काम अनुस्वार से लिया जाय।

(ई) पूर्ण अनुस्वार के लिए '०' का प्रयोग हो और अनुनासिक के लिए ' ' ' बिंदी का।

(उ) ख का रूप बदल दिया जाय।

(ऊ) अ, ण, और ६ में एकरूपता बरती जाय।

(ए) भ के लिए भ और ध के लिए ध रूप स्वीकार किया जाय।

(५) **डा० गोरखप्रसाद का प्रस्ताव**—प्रयाग-विश्वविद्यालय के डा० गोरखप्रसाद ने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किये—

(अ) उ, ऊ, ए, ऐ और अं की मात्राओं को थोड़ा दाहिने हटाकर लगाया जाय।

(आ) छोटे अक्षरों की छपाई में शिरोरेखा नहीं डाली जाय। देवनागरी के अक्षरों में इतना घुमाव-फिराव है कि बहुत छोटे अक्षर बनाने पर वे स्याही से भर जाते हैं। शिरोरेखा हटाने से ६ प्वाइंट के छोटे अक्षर भी स्पष्ट पढ़े जा सकेंगे।

(इ) अक्षरों को सदा एक की बगल में एक रखकर संयुक्ताक्षर बनाये जायँ। अपवाद केवल 'र' के लिए रहे।

(ई) र वाले संयुक्ताक्षर वर्त्तमान रूप में ही रहें—यथा धर्म, प्रेम, राष्ट्र।

(६) **विनोबा भावे का प्रस्ताव**—गांधीजी के शिष्य और प्रसिद्ध सन्त विनोबा भावे ने भी कतिपय सुझाव उपस्थित किये हैं और वे बड़ी दृढ़ता के साथ अपने पत्र 'भूदान-यज्ञ' के सम्पादकीय में इसी सुधरी हुई लिपि का प्रयोग भी कर रहे हैं। उनके सुझाव ये हैं—

(अ) अ की बारहखड़ी का प्रयोग हो।

(आ) 'ि' और ी, ी और ी की तरह प्रयुक्त हों।

(इ) मात्राएँ दाहिनी ओर हटाकर लगायी जायँ।

(उ) ख, ध, म, ज्ञ और क्ष, भ, ध, भ, ज्ञ और क्ष की तरह प्रयुक्त हों।

(ऊ) सभी संयुक्ताक्षर हलन्त लगाकर ही बनाये जायँ।

(ए) '॑', '्र', '' आदि का पयोग र में हलन्त लगाकर किया जाय।

(ऐ) अनुस्वार के लिए '०' और अनुनासिक के लिए ' ' ' बिन्दी लगायी जाय।

इन छह प्रधान प्रस्तावों के अतिरिक्त लगभग चालीस और व्यक्तियों ने भी अपने-अपने सुझाव उपस्थित किये हैं। उनमें से कुछेक के नाम हैं—सर्वश्री कृपानाथ मिश्र (पटना), एम० डी मनोहर (बम्बई), भोलानाथ शर्मा (बरेली), मोतीलाल गुट्ट (जयपुर), जगन्नाथ जोशी (नैनीताल), छोटेलाल शर्मा (कानपुर), रा० र० खांडिलकर (संपादक—आज), कामता प्रसाद सागरीय (जबलपुर), अवधनन्दन (त्रिचनापली), रामकृष्ण चौधरी (बम्बई), सुशीलराम (दिल्ली), गोपाल गणेश दुबे (ग्वालियर) और बी० एस० कोलाकर (बम्बई)। इन सभी सुझावों पर एक सरसरी नजर डालते हुए डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है–"दुर्भाग्य से इन सुधारकों में कई ऐसे व्यक्ति भी थे, जो न तो नागरी के इतिहास एवं परम्परा से ही परिचित थे और न वर्णात्मक तथा अक्षरात्मक लिपि के अंतर को ही जानते थे। हाँ, इनमें कुछ लोग ऐसे अवश्य थे, जिन्हें टाइप तथा छपाई आदि का पूरा ज्ञान था और इस दृष्टि से वे लिपि-सुधार के सम्बन्ध में जो राय देते थे, उसमें पर्याप्त मात्रा में व्यावहारिकता थी।"–(हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास)

(७) **नरेन्द्रदेव-समिति** :—१५ अगस्त, १९४७ से "सहसा नई आशाओं और नई परिस्थितियों में नये प्रकार से काम करने की कल्पना" से प्रेरित होकर उत्तर-प्रदेश सरकार ने स्वर्गीय नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में ३१ जुलाई, १९४७ को एक देवनागरी लिपि-सुधार-समिति संगठित की, और उसे आदेश दिया कि वह—

(अ) नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित प्रतिसंस्कार के सुझावों की परीक्षा करे,

(आ) संग्रथन (Composing), टंकन (Typing) तथा साधारण व्यवहार के लिए इसकी उपयुक्तता पर विवरण दे,

(इ) संस्कृत के लिए इसकी उपयुक्तता पर विवरण उपस्थित करे,

(ई) प्रचलित देवनागरी लिपि में परिवर्तन की वांछनीयता पर विचार करे और

(उ) परिवर्तित लिपि में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं (मराठी आदि) के लिखे जाने की सुविधा और उपयुक्तता पर भी विचार करे।

समिति में आचार्य के अतिरिक्त डा० धीरेन्द्र वर्मा (प्रयाग-विश्वविद्यालय), पं० रामशंकर द्विवेदी (लखनऊ विश्वविद्यालय), पं० चंद्रशेखर शास्त्री (प्रिंसिपल, संस्कृत-महाविद्यालय, कानपुर), पं० भाऊ शास्त्री वझे (बनारस), डा० मंगलदेव शास्त्री (गवर्नमेंट संस्कृत कॉलिज) और रायबहादुर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी (विशेष कार्यकर अधिकारी, शिक्षा-विभाग), ये छह सदस्य थे। समिति की कुल नौ बैठकें हुईं और उसका पूरा विवरण २१ मई, १९४९ को अध्यक्ष और सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित होकर सरकार के पास भेज दिया गया। अंत समय में चतुर्वेदीजी के स्थान पर श्रीभगवतीशरण सिंह नियुक्त किये गये थे।

नरेन्द्रदेव-समिति ने पहले उपस्थित सुझावों पर विचार करना शुरू किया। सभी सुझावों की छानबीन करना, यह भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य था; क्योंकि बिना इसके समिति कोई अपना नवीन और सर्वसम्मत सुझाव उपस्थित करने की स्थिति में नहीं आ सकती थी।

उपस्थित सुझावों की आलोचना

[नरेन्द्रदेव-समिति के विवरण के आधार पर]

(१) समिति ने सर्वप्रथम श्री श्रीनिवास द्वारा उपस्थित और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि पर विचार करना शुरू किया और निश्चय किया—स्वरों की आकृति के विषय में जिस एकरूपता की आवश्यकता का अनुभव श्रीनिवासजी ने किया है, उसकी उपयोगिता समिति आवश्यक नहीं समझती। जबतक व्याकरण-विज्ञान के आधार पर विभिन्न स्वरों की स्वतंत्र सत्ता मानते रहेंगे तबतक उनका विभिन्न रूपों में प्रकट किया जाना भी वैज्ञानिक और सरल होगा। समिति 'अ', 'इ', 'ए' की स्वतंत्र सत्ता मानती है और 'ए' को भी भिन्न रूप से लिखा जाना आवश्यक समझती है। समिति जहाँ-कहीं भी प्रचलित अक्षरों के रूप में परिवर्तन का विरोध करेगी, वहाँ वह अपने उस सिद्धांत के अनुसार ही काम करेगी, जिसके अन्तर्गत उसने रूप-परिवर्तन को अनावश्यक और अहितकर माना है तथा इस बात का अनुरोध किया है कि यथासंभव रूप-परिवर्तन न किया जाय।····मात्राविधान के सम्बन्ध में समिति नागरी के प्रचलित मात्राविधान को ही उत्तम समझती है; किन्तु मुद्रण की सुविधा के लिए इसमें परिवर्तन आवश्यक है। श्रीनिवासजी के परिवर्तन में प्रचलित रूप से भेद हो जाता है।···श्रीनिवासजी के एकमात्रिक, द्विमात्रिक आदि का भेद समिति को इसलिए मान्य नहीं हुआ कि यह हमें अक्षरों के उन रूपों को ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है, जो प्रचलित रूपों से सर्वथा भिन्न हैं।···प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण में एक-सा चिह्न लगाकर उसका महाप्राण रूप बनाया जाय—इस सिद्धांत को समिति इसलिए स्वीकार नहीं कर सकी कि इसका अर्थ होगा क च ट त प में महाप्राण का ॒ लगाकर ख छ ठ थ फ बनाना, और ग ज ड द ब में वैसा ही चिह्न लगाकर घ झ ढ ध भ बनाना। ऐसा करने में सर्वप्रथम कठिनाई तो यह है कि फ को छोड़कर इस प्रकार बनाये गये सभी महाप्राण अक्षर इस समय के प्रचलित महाप्राण वर्णों से रूप में सर्वथा भिन्न होते। टाइपराइटर पर यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती कि अभी तक एक ही बार में टाइप होने-वाले महाप्राण वर्ण तब दो बार दो मुद्रियों के दबाने से बनते और टाइपराइटर की त्वरा में वृद्धि के बदले और भी मंदता आ जाती।···पंचम वर्णों के विषय में भी दिये गये सुझाव प्रचलित रूप से एकदम पृथक् हैं, साथ ही उनके अनुस्वारयुक्त और अननुस्वारयुक्त रूपों में पर्याप्त भ्रम की संभावना है।

(२) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सुझावों पर जब नरेन्द्रदेव-समिति ने विचार करना शुरू किया तो उसने सम्मेलन के प्रवक्ता डा० बाबूराम सक्सेना के भी विचार सुने। सक्सेना साहब ने बताया कि इन निश्चयों को अपनाने का अनुरोध सम्मेलन ने भविष्य का विचार कर और राष्ट्रीयता को बनाये रखने की आवश्यकता का अनुभव करके ही किया है। प्रस्तावित लिपि प्रचलित लिपि से तो भिन्न होती ही है, देखना यह है कि प्रचलित लिपि में वैज्ञानिकता की जो थोड़ी-बहुत कमी है, वह न रहे। सम्मेलन के सुझावों में स्वरों और उनकी मात्राओं में सामञ्जस्य स्थापित कर दिया गया है और जिन अक्षरों में भ्रम पड़ने की संभावना थी, उनका रूप भ्रमरहित कर दिया गया है। समिति ने सम्मेलन के अधिकांश सुझावों से कहीं पूर्णतः और कहीं अंशतः सहमति प्रकट की। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि सम्मेलन के सुझाव बहुत अधिक व्यावहारिक, वैज्ञानिक, तर्क-सम्मत, सुविधाजनक और परम्परा से अविच्छिन्न थे। दूसरे, उसका प्रचार भी धड़ल्ले से हो रहा था। प्रश्न था सिर्फ अ की बारहखड़ी को लेकर। वर्धा की राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति इसे प्रयोग में ले आ चुकी थी। राहुलजी, विनोबा भावे आदि इसके समर्थक थे। मराठी के लिए भी स्वरों का यह रूप प्रचलित हो रहा था। विरोधी था तो केवल भारत का उत्तरापथ, यानी स्वयं हिन्दी-प्रदेश। काका साहब कालेलकर इसके सबसे बड़े समर्थक थे और वे "इसके लिए कुछ भी बलिदान करने को प्रस्तुत थे।" फलतः समिति ने बहुत सोच-विचारकर यह निश्चय किया कि "हम इस व्यवहार का विरोध नहीं करते हैं और ऐसे रूप के व्यवहार करनेवालों की इच्छा पर यह प्रश्न छोड़ देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि सिद्धान्ततः 'अ' की बारहखड़ी को न मानते हुए भी राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हमने यह प्रश्न व्यावहारिकता पर छोड़ दिया—कि जिनकी जैसी इच्छा हो, वे वैसा लिखें।"

(३) समिति ने डा० पन्नालाल के सुझावों को भी "बहुत ही उपयोगी और आवश्यक" माना, क्योंकि उनके सभी सुझाव नागरी को लिखने, छापने और टाइप करने में और भी अधिक सरल और सुबोध बनाने से ही सम्बद्ध थे। उनका प्रधान दृष्टिकोण यह था कि नागरी में ऐसे परिवर्तन न हों, जो उसे उस नागरी से एकदम भिन्न कर दें, जो संस्कृत लिखने में व्यवहृत होती रही है। फिर भी, 'र' में हल लगाकर रेफ़ का काम लेने सम्बन्धी जो उनका सुझाव था, वह भ्रमोत्पादक था। हल् के टूट जाने का डर बना रहेगा और उस दिशा में लोग 'समर्‌थ' को 'समरथ' ही पढ़ेंगे। वर्त्तमान पीढ़ी प्रचलित उच्चारण के अनुकूल उसे भले ही 'समर्थ' पढ़ ले, पर आनेवाली पीढ़ी तो उसे 'समरथ' ही पढ़ेगी। दूसरा मतभेद पंचमाक्षर निकाल देने के सम्बन्ध में है। इससे संस्कृत लिखने में घोर असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा।

(४) डा० गोरख प्रसाद के सुझाव अधिकतर टाइप और संग्रथन को दृष्टि में रखकर तैयार किये गये हैं। छोटे प्वांइट के शिरोरेखाहीन अक्षरों के सम्बन्ध में उनके

सुझाव तर्कसम्मत अवश्य हैं, पर उससे छपाई में अक्षरों की एकरूपता खंडित हो जाती है।

(५) श्री मोतीलाल गुर्टू ने विश्वलिपि के नाम से एक सर्वथा नवीन लिपि का आविष्कार किया है, जिसमें कुल २० संकेत हैं। उनका दावा है कि इन्हीं संकेतों के आधार पर संसार की समस्त भाषाएँ लिखी जा सकती हैं। यह एक सर्वथा नयी लिपि है, पुरानी देवनागरी लिपि से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं।

नरेन्द्रदेव-समिति के कतिपय विचार, निश्चय और सुझाव

नरेन्द्रदेव-समिति का संगठन देवनागरी-लिपि-सुधार के निमित्त किया गया अबतक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न था, पर उसकी भी कुछ अपनी सीमाएँ थीं। सबसे बड़ा नियंत्रण था उसपर सरकारी अधिकारादेश का, जिसकी कुछ सुनिश्चित शर्तें ऊपर दी गयी हैं। एक तो उसे यह कहकर बाँध दिया गया कि वह नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तावित प्रतिसंस्कार के सुझावों की ही परीक्षा करे, पुनः 'साधारण व्यवहार' के लिए भी उसकी उपयुक्तता पर विवरण दे। स्पष्ट ही श्रीनिवास के सुझाव "उपयोगी, तर्कसम्मत और वैज्ञानिक" हैं, पर 'साधारण व्यवहार' में वे जो कठिनाइयाँ उपस्थित करेंगे, वह तो कल्पना करने की ही बात है। इन अक्षरों में लिखी भाषा को फिर से सीखना-पढ़ना अनिवार्य हो जायगा। अधिकारादेश संख्या तीन में 'संस्कृत के लिए इसकी उपयुक्तता' की बात कही गयी है। स्पष्ट है --इन अक्षरों के व्यवहार से संस्कृत का अबतक का लिखा-छपा पूरा वाङ्मय हमारे लिए एकदम अजनबी बन जाता और उसके व्याकरण-विज्ञान की रक्षा तो इस लिपि के व्यवहार से एकदम असम्भव हो जाती।

इन कतिपय सीमाओं से बँधकर उपर्युक्त समिति ने अपने सुझावों को दो भागों में बाँटा--नकारात्मक और स्वीकारात्मक।

नकारात्मक निश्चय इस प्रकार थे—

(१) निश्चय हुआ कि श्रीनिवासजी के एकमात्रिक और द्विमात्रिक आदि स्वरों के भेद समिति को मान्य नहीं हो सकते।

(२) 'अ' की बारहखड़ी नहीं बनायी जा सकती।

(३) 'इ' की मात्रा को छोड़कर अन्य मात्राओं के वर्त्तमान स्वरूप में परिवर्त्तन न किया जाय।

(४) किसी व्यंजन के नीचे कोई दूसरा व्यंजन वर्ण न लगाया जाय।

(५) नागरी लिपि में आमूल परिवर्त्तन अवांछनीय है। केवल मशीन की सुविधा के लिए कोई अवांछनीय परिवर्त्तन न किये जायँ।

स्वीकारात्मक सुझावों को भी समिति ने दो भागों में विभक्त किया--सिद्धान्तगत और रूपगत। सिद्धान्तगत अनुरोध इस प्रकार के थे--

(१) मुद्रण और टाइपराइटिंग की सुविधा के लिए आवश्यकतानुसार मात्राओं को थोड़ा हटाकर केवल दाहिनी ओर ही बगल में ऊपर और नीचे लगाया जाय।

(२) शुद्ध अनुस्वार के स्थान पर '०' शून्य लगाया जाय। व्यंजन के हलन्त ङ्, ञ्, ण्, न्, म् की जगह पर जहाँ प्रतिकूलता नहीं हो (यथा वाङ्मय, तन्मय) शून्य लिखा जाय। अनुनासिक स्वर के लिए ' ' ' बिंदी का प्रयोग हो।

(३) शिरोरेखा लगायी जाय।

(४) ऋ, ऌ की मात्राएँ भी अन्य मात्राओं के ही सदृश थोड़ा हटाकर दाहिनी ओर नीचे लगायी जायँ।

(५) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त है, उनका आधा रूप, खड़ी पाई निकालकर बनाया जाय।

(६) जिन वर्णों का उत्तरार्द्ध खड़ी पाई युक्त नहीं है, उनका आधा रूप 'क' और 'फ' को छोड़कर हल् चिह्न ' ् ' मात्राओं के ही समान बगल में नीचे की ओर लगाकर बनाया जाय।

(७) ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी ओर लगायी जाय।

रूपगत सुझावों के अन्तर्गत निम्नलिखित अनुरोध थे--

(१) स्वरों में "अ" का रूप केवल 'अ' रहेगा।

(२) व्यंजनों में "छ, झ, ण, ध, भ, र, ल और ह" के रूप 'छ, झ, ण, ध, भ, ल, र और ह' रहेंगे।

(३) मात्राओं में ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप होगा। ी

(४) क्ष और त्र के स्थान पर क्ष और त्र से काम लिया जायगा।

(५) विशेष अक्षर श्र, ओ३म् तथा ळ होंगे।

(६) विराम-चिह्न यथासंभव वे सब ले लिये जायँ, जो इस समय अंग्रेजी में प्रचलित हैं। केवल पूर्णविराम के लिए खड़ी पाई स्वीकार की जाय। यथा।, -, —, , ;, :, !, ?

नरेन्द्रदेव-समिति ने यथासंभव अलिपष्ठ सुधार ही किया, पर प्रकारांतर से उसने नागरी-लिपि के स्थिरीकरण का भी प्रयास किया। कई वर्णों के जो दो रूप प्रचलित थे, उनमें से उसने एक की ही स्वीकृति दी, जिनमें से अधिकांश महाराष्ट्र और गुजरात में प्रचलित हैं।

राज्य-मंत्रि-सम्मेलन के सुझाव:—उत्तरप्रदेश-सरकार यहीं चुप नहीं बैठी ? उसने नागरी-लिपि-सुधार-सम्बन्धी सुझावों पर विचार करने के लिए २८-२९ नवम्बर, १९५३ ई० को लखनऊ में विभिन्न राज्यों के मंत्रियों तथा कतिपय चुने हुए

विद्वानों की एक सभा की। प्रकारान्तर से उसका एक उद्देश्य यह भी रहा हो कि इस प्रकार समस्त देश में देवनागरी लिपि का प्रचार हो, सुझावों को राष्ट्रव्यापी मान्यता प्राप्त हो जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की एक प्रधान आधार-शिला रखी जा सके। इसमें ६७ शासनाधिकारी और अहिन्दीभाषी विद्वान् पधारे। हिन्दी के सभी गण्य-मान्य विद्वान् भी उपस्थित थे। इसकी अध्यक्षता उप-राष्ट्रपति (अब राष्ट्रपति) डा० राधाकृष्णन ने की। अतिथियों का स्वागत करते हुए तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत ने कहा—"The leadership, mature experience and talent that are assembled here will no doubt, under the chairmanship of such an esteemed scholar as Dr. Radhakrishnan, find a satisfactory solution of the problem of evolving a reformed script for Devanagari". उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने सम्मेलन का उद्‌घाटन करते हुए राष्ट्रभाषा हिन्दी और राष्ट्रलिपि देवनागरी के राष्ट्रीय महत्त्व पर प्रकाश डाला और कहा—"The Devanagari Script, as it is, is simple, beautiful and precise. Only the needs of printing, typewriting and other mechanical methods of communication require that its drawbacks should be removed or minimised without affecting its distinctive quality. ...If Gujerati and Bengali come to be written in the Devanagari script, the unity of script throughout North India will make for closer contact, breaking down linguistic barriers."

अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए डा० राधाकृष्णन ने देवनागरी लिपि के राष्ट्रीय महत्त्व पर प्रकाश डाला, और कहा कि दक्षिण-भारतीय भाषाओं की कतिपय ध्वनियों के लिए भी इस लिपि में निर्धारित चिह्न होने चाहिये। साथ-साथ हमें इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि—"Mechanical needs should not control changes of script. Shapes of letters change in course of decades and even in centuries".

इन भाषणों के पश्चात् सम्मेलन ने जो सुझाव स्थिर किये, वे निम्नलिखित थे—

(१) अ, झ, ण, ल और श का ही प्रयोग हो। इन अक्षरों के दूसरे प्रचलित रूपों का प्रयोग नहीं किया जाय

(२) ख, छ, ध, और भ के बदले ख, छ, ध, और भ का प्रयोग हो।

(३) मराठी में प्रचलित ळ चिह्न देवनागरी में सम्मिलित कर लिया जाय।

(४) शिरोरेखा का व्यवहार जारी रहे। जो शिरोरेखा-विहीन लिखा करते हैं, वे उसका व्यवहार नहीं भी कर सकते हैं।

(५) ह्रस्व 'इ' की मात्रा दाहिनी ओर लगायी जाय और वह इस प्रकार की हो 'ी'।

(६) अनुस्वार और अनुनासिक के वर्त्तमान रूपों का ही प्रयोग हो। एक को त्याग देने का सुझाव स्वीकार न किया जाय।

(७) अंग्रेजी के पूर्णविराम और कोलन को छोड़कर सभी विराम-चिह्न स्वीकृत कर लिये जायँ। पूर्णविराम के लिए पाई का ही व्यवहार चले।

(८) संयुक्ताक्षर दो प्रकार से बनाये जायँ—(अ) जहाँ संभव हो, अक्षर के अंतवाली खड़ी रेखा को हटाकर या (आ) संयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षर के अंत में ' ् ' हलन्त लगाकर। क, फ और ह को यदि किसी अक्षर के आरम्भ में संयुक्त करना हो तो इसके लिए विना हलन्त का प्रयोग किये, वर्त्तमान प्रचलित ढंग ही काम में लाया जाय।

जनवरी, १९५५ ई० में भारत-सरकार ने इस सम्मेलन के उपर्युक्त निश्चयों को स्वीकार कर लिया और सुझाव दिया कि राज्य की सरकारें भी अपने कार्यों में इसी संशोधित रूप का व्यवहार करे। पर, राज्य-सरकारों से जो उत्तर आये, उनसे ज्ञात हुआ कि अनेक राज्यों को लखनऊ के राज्य-मंत्रि-सम्मेलन के निश्चय पूरी तरह स्वीकार नहीं हैं। हिन्दी-प्रदेश में ही इस सम्मेलन के निश्चयों का उचित स्वागत नहीं हुआ। उत्तरप्रदेश-सरकार ने तो इसपर अमल कर लाखों की संख्या में पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित कर दी थीं। बाद चलकर व्यावहारिक कठिनाइयाँ स्पष्ट होने लगीं। जनता इसे शंका की दृष्टि से ही देखती रही और ह्रस्व 'इ' की मात्रा तथा 'र' के साथ संयुक्त वर्णों के रूप को देखकर बुरी तरह भड़कती रही। फलतः अक्टूबर, १९५७ में उत्तरप्रदेश-सरकार ने एक और सम्मेलन इस विषय पर पुनर्विचार करके के लिए बुलाया, जिसने राज्यमंत्रि-सम्मेलन के निश्चयों में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करने की सिफारिश की।

भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने तब पुनः इस प्रश्न पर विचार किया और निश्चय किया कि इसे शिक्षा-मंत्रियों के एक सम्मेलन के सामने विचारार्थ उपस्थित किया जाय। पर उसके पूर्व न जाने, किसके दिमाग में लहर आयी कि यह निश्चय हुआ—विशेषज्ञों का भी एक सम्मेलन पहले बुला लिया जाय, जिससे राजनीतिज्ञ शिक्षा-मंत्रियों को उचित प्रकाश और निर्देश मिल सके। फलतः अगस्त, १९५९ में दोनों सम्मेलन हुए, जिनमें देवनागरी का निम्नलिखित संशोधित रूप स्वीकार किया गया। अब इसी संशोधित रूप को कार्यान्वित किया जा रहा है।

भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत संशोधित देवनागरी लिपि

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः।

मात्राएँ—ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ ं ः।

व्यंजन—क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह ड़ ढ़ ळ

क्ष त्र ज्ञ श्र

अंक — १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

स्पष्टीकरण—हिन्दी में दीर्घ ॠ का प्रयोग नहीं होता, अतः इसे स्वरों में सम्मिलित नहीं किया गया। खड़ी पाईवाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई को हटाकर ही बनाया जाय। क और फ के संयुक्ताक्षर बनाने का वर्त्तमान ढंग ही कायम रहेगा। ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ और द के संयुक्ताक्षर हल् चिह्न लगाकर ही बनाये जायँ। संयुक्त 'र' के पुराने तीनों रूप यथावत् रहेंगे—यथा प्रकार, धर्म, राष्ट्र। श्र का पुराना रूप जैसा श्री में है, वैसा ही कायम रहेगा। त्र के स्थान पर अब 'त' और 'र' का संयुक्त अक्षर 'त्र' रहेगा। ह का संयुक्त रूप वर्त्तमान प्रणाली के साथ ही हल् चिह्न लगाकर भी किया जा सकेगा। यथा—चिह्न और चिह्न (चिह्न नहीं)। संस्कृत में संयुक्ताक्षर पुरानी शैली में भी लिखे जा सकेंगे।

अन्य निश्चय जो १९५३ में हुए थे, वे ही कायम रहेंगे। यथा :—

शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहेगा। फुलस्टाप को छोड़कर शेष विराम आदि चिह्न वही ग्रहण कर लिये जायँ, जो अंग्रेजी में प्रचलित हैं। विसर्ग के चिह्न को ही कोलन का चिह्न मान लिया जाय। पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई का प्रयोग किया जाय। अनुस्वार और अनुनासिक—दोनों प्रचलित रहेंगे।

———

टंकन तथा मुद्रण

आज के इस यांत्रिक युग में लिपि, टंकन तथा मुद्रण की समस्याओं के बीच गहरा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन्हीं यांत्रिक सुविधाओं के चलते कुछ लोग हमें देननागरी लिपि को छोड़ रोमन लिपि अंगीकार करने का परामर्श देते हैं। यह कहना गलत भी नहीं माना जा सकता कि हमारी लिपि ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से जितनी ही युक्तियुक्त है, यांत्रिकता की दृष्टि से उतनी ही अनुपयुक्त; पर उसके साथ हमें यह भी ध्यान में रखना है कि यंत्र साधन हैं, साध्य नहीं। हमारे वैज्ञानिक और अभियन्ता अभी स्वतंत्र रूप से न तो सोच सकते हैं और न कार्य कर सकते हैं। सच्ची बात यह है कि वे विदेशी यंत्रों को सामने रखकर ही अपना कोई यंत्र बनाते हैं। वे टाइपराइटर के लिए ऐसा मुद्रीपटल प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो प्रचलित अंग्रेजी टाइपराइटरों के मुद्रीपटलों के परिवर्तन मात्र से तैयार हो जाय।

हिन्दी टाइपराइटर के सम्बन्ध में अभी तक निम्नलिखित छह प्रधान सुझाव हैं :—

(१) नागरी-प्रचारिणी सभा का प्रस्तावित मुद्रीपटल जो श्री श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस टाइपराइटर के लिए पहले तो हमें श्रीनिवासजी द्वारा प्रस्तावित प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि (देखिये 'देवनागरी-लिपि-सुधार'-शीर्षक निबंध) को मान्यता देनी होगी। इस लिपि की उपयोगिता पर हम पहले विचार कर चुके हैं। यदि इस लिपि को टंकन-सम्बन्धी सुविधाओं को दृष्टि में रखकर हम मान्यता भी प्रदान कर दें तो हम पायेंगे कि इसमें कुछ ऐसे दोष रह जाते हैं कि हम किसी भी परिस्थिति में उन्हें टाल नहीं सकते। सबसे पहली बात इस मुद्रीपटल को लेकर यह सामने आती है कि इसमें प्रत्येक चाभी के साथ आधे अक्षर ही टंकित हो पायेंगे; क्योंकि प्रत्येक अक्षर का आधा रूप ही इस मुद्रीपटल पर दिया हुआ है। फलतः पूरा अक्षर टाइप करने के लिए उस अक्षर का मात्रावाला उत्तरार्द्ध यानी खड़ी पाई, फिर से लगानी पड़ेगी। इस ढंग से टाइप करने में समय ठीक दूना लग जायगा। दूसरी बात यह कि इसमें आवश्यक विराम-चिह्न और विशेष चिह्न भी नहीं हैं। किसी भी दूसरे टाइपराइटर में इससे अधिक विशेष और विराम-चिह्न प्रबन्धित हैं। इन दोषों के अतिरिक्त एक विशेषता इसमें यह है कि अचल मुद्रियों का प्रयोग बचाया गया है, इससे दूसरी दिशा में कुछ समय की बचत हो जाती है।

(२) अजंता (उडस्टाक कंपनी) का मुद्रीपटल :– इसमें ४४ मुद्रियाँ हैं; किन्तु ६६ अक्षर आसानी से टाइप किये जा सकते हैं। यह टेब्यूलेटर के साथ है और इसमें जितने आवश्यक अक्षर या चिह्न हैं, सब आ गये हैं। इसका पटल इस प्रकार बनाया

गया है कि इसमें छापने की प्रक्रिया में अधिक-से-अधिक तेजी आती है। जिन कार्यालयों में इस टाइपराइटर का प्रयोग होता है, उनका कहना है कि इससे प्रति मिनट पचास शब्द बड़ी सुविधा से टाइप किये जा रहे हैं। इसमें 'क्ष' है, 'क' और 'ष' को मिलाकर 'क्ष' बनाने की जरूरत नहीं पड़ती। बास्केट शिफ्ट है, जिससे मुद्रीपटल दबता है, कैरेज नहीं उठता। इससे उँगलियों पर जोर नहीं पड़ता। अक्षर के ऊपर या नीचे लगाने के लिए बिन्दु है, जिससे 'ड़' 'ढ़' 'ग़' 'ज़' आदि भी टाइप किये जा सकते हैं। अंकों को छापने के लिए 'शिफ्ट' को उठाने की जरूरत नहीं पड़ती। अंग्रेजी टाइपराइटरों की तरह रिबन आटोमेटिक है, जो अपने-आप घूमता रहता है। इसके अक्षर छोटे होते हुए भी साफ और स्पष्ट हैं, जिससे सिंगिल स्पेसिंग में भी छपी हुई चीज बिल्कुल साफ पढ़ी जा सकती है। विराम 'मृतकुंजी' है, जिससे खड़ी लकीर बड़ी आसानी से खींची जा सकती है। इसमें , । . ( ) ? : ,,—ये आठों विराम-चिन्ह तथा ि ी ॅ ॆ ो ौ छह मात्राओं की स्वतंत्र कुंजियाँ भी हैं।

अजंता का मुद्रीपटल

पहली लाइन	झ	“	:	ऋ	?	द्	—	ज्ञ	ε	(	)	%
१२ मुद्रियाँ	श्र	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	ए
दूसरी लाइन	ध्	भ्	च्	त्	ॆ	़	ट	ड	स्	ए	ड	
११ मुद्रियाँ	ध	भ	च	त	ु	ू	थ	ग	स	ो	ौ	
तीसरी लाइन	फ	क्	स्	घ्	न्	उ	/	`	इ	य	छ	
११ मुद्रियाँ	ब	क	स	ा	न	ज	\	ॆ	ि	ी	र	
चौथी लाइन	ख्	प्	श्	ठ	ढ	०	त्र	ल्	,	:		
१० मुद्रियाँ	ख	प	श	ह	अ	व	द	ल	।			

(३) **ओलिवेत्ति का मुद्रीपटल** :–इसमें 'अ' की बारहखड़ी के सिद्धांत के आधार पर ढाई मुद्री की बचत की गयी है फिर भी इसमें पैंतालीस मुद्रियाँ हैं। इसमें 'द्द' 'द्ध' 'द्य' के लिए अलग कुंजी है। एक ही कुंजी में दो बिन्दियाँ हैं, ऊपर की बिन्दी उर्दू नुक्ता है, नीचेवाली अनुस्वार। यह कुंजी पहली लाइन की अंतिम बारहवीं कुंजी है। दूसरी लाइन की १० वीं कुंजी में ऊपर 'र' और 'उ' के पेट में लगनेवाली मात्रा है, नीचे ह्रस्व 'उ' की मात्रा। उसी लाइन की ११ वीं कुंजी में ऊपर अर्द्धचन्द्र और नीचे दीर्घ ऊ की मात्रा है। तीसरी लाइन की दसवीं कुंजी में ऊपर रेफ है, नीचे 'ए' की मात्रा। उसी लाइन की ग्यारहवीं कुंजी में ऊपर, अक्षर के नीचे की ओर जुड़नेवाला अर्ध 'र' है, नीचे 'ऐ' की मात्रा। चौथी लाइन की अंतिम दसवीं कुंजी में ऊपर 'ऋ' की मात्रा है, नीचे हलंत का चिह्न। तीसरी लाइन की दूसरी कुंजी 'मृतकुंजी' है,

फलतः इसके प्रयोग से 'कैरिज' अपने स्थान से स्वयं हटती नहीं। इसमें ऊपर जो बिन्दी है, वह दशमलव का चिह्न है या अंग्रेजी पूर्ण विराम का। दूसरी लाइन की छठी कुंजी में ऊपर अक्षरों तथा वाक्यों के बीच की लकीर हाइफन है, नीचे आकार मात्रा। तीसरी लाइन की पहली कुंजी में ऊपर विसर्ग का चिह्न है, जिसे 'कोलन' के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। चौथी लाइन की पाँचवीं कुंजी में ऊपर वाक्यों के बीच लगाने की निरन्तर-सूचक रेखा है। इसके पोर्टेबुल और स्टूडियो यंत्र पर पहली लाइन की पहली कुंजी तथा दूसरी लाइन की अंतिम कुंजी जिसमें 'ह्' 'द्व' 'द्ध' और पूर्ण विराम हैं, नहीं दी जातीं।

ओलिवेत्ति का मुद्रीपटल

पहली लाइन	ह्	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	.
१२ मुद्रियाँ	द्व	द्य	श्र	घ	ठ	छ	ग	ड	ट	ढ	ज्ञ	.
दूसरी लाइन	ण्	प्	म्	त्	क्	—	”	/	इ	्	˘	द्ध
१२ मुद्रियाँ	ण	प	म	त	क	ा	ि	ी	ज	ॆ	ॄ	।
तीसरी लाइन	:	०	न्	ध	(	भ	स्	ल्	)	ँ	/	
११ मुद्रियाँ	झ	व	न	य	ह	र	स	ल	द	़	्	
चौथी लाइन	ष्	ख्	च्	फ	—	श्	ऋ	?	%	ॅ		
१० मुद्रियाँ	ष	ख	च	ब	थ	श	अ	,	उ	़		

(४) अंडरउड टाइपराटर के मुद्रीपटल में ज्ञ ह द्ध त्त द्व य रू तथा ह्य के लिए स्वतंत्र कुंजियाँ हैं। इसमें कुल ४६ कुंजियाँ हैं। सभी विराम-चिह्न नहीं हैं।

अंडरउड का मुद्रीपटल

पहली लाइन	१	२	३	४	५	६	७	८	९	०	—	
११ मुद्रियाँ	ज्ञ	ह	घ	द्ध	छ	ट	ठ	ड	ढ	(	)	
दूसरी लाइन	त्त	ब्	ञ्	च्	त्	ॆ	ॄ	थ्	ग्	द्द	इ	ए
१२ मुद्रियाँ	त्र	्	भ	च	त	ॅ	ु	थ	ग	्	य	उ
तीसरी लाइन	द्व	क्	म्	ा	न्	ज्	व्	प्	ी	स्	रू	.
१२ मुद्रियाँ	ग	क	म	ा	न	ज	व	प	ि	स	र	.
चौथी लाइन	/	ँ	श्	ह्य	ऋ	ख्	य्	/	ल्	:	श्र	
११ मुद्रियाँ	\	़	श	ह	अ	ख	द	?	ल	न	।	

इस मुद्रीपटल का सबसे बड़ा दोष यह है कि एक 'ओ' छापने के लिए 'अ' 'ा' 'े' तीन बार कुंजी दबानी पड़ती है, और यदि कहीं 'झो' छापना हो तो 'भ' 'ृ' 'ा' 'े' चार बार कुंजी दबानी पड़ेगी। यद्यपि यह दोष कुछ अंशों में ओलिवेत्ति में भी है, पर वहाँ 'झ' अलग कुंजी है। इसमें न तो 'झ' है, और न 'फ'। ओलिवेत्ति की अपेक्षा इसकी त्वरा में अधिक व्याघात पहुँचते हैं।

(५) रेमिंगटन टाइपराइटर के मुद्रीपटल में भी वही अंडरउडवाले सारे दोष हैं। विराम-चिह्नों के प्रयोग में बड़ी कठिनाई होती है; फ्र, फ, के छापने में कई बार कुंजियाँ दबानी पड़ती हैं। इसमें भी कुल ४६ कुंजियाँ हैं।

रेमिंगटन का मुद्रीपटल

पहली लाइन	१	२	३	४	५	:	६	७	८	९	०	
११ मुद्रियाँ	ज्ञ	द्द	घ	द्ध	छ		ट	ठ	ड	ढ	ण	
दूसरी लाइन	त्त	६	≠	च	ट	ँ	ू	ह्र	ग	द	इ	ए
१२ मुद्रियाँ	त्र	ध	भ	च	त	ॆ	ु	थ	ग	त्त	य	उ
तीसरी लाइन	फ	क	म	ञ	न	ज	ठ	ट	ी	स्र	रू	ौ
१२ मुद्रियाँ	ब	क	म	ा	न	ज	व	प	ि	स	र	ो
चौथी लाइन	/	ृ	श	ह्य	ऋ	ख	घ	ह	ल	:	श्र	
११ मुद्रियाँ	.	॰	श	ह	अ	ख	द	ष	ल	)	।	

रेमिंगटन में ो, ौ के लिए अंडरउड के ठीक विपरीत स्वतंत्र मुद्री हैं। इसमें 'ञ' के लिए जगह है। फिर भी अंडरउड की अपेक्षा इसपर छापने में कुछ अधिक गति आ जाती है।

(६) **श्रीअजित सिंह का प्रस्ताव**:—श्रीअजित सिंह के प्रस्ताव की विशेषता यह है कि उन्होंने मुद्रीपटल में स्वतंत्ररूप से कार्य कर नागरी-सम्बन्धी कठिनाइयों को ध्यान में रखकर चिर-अपेक्षित आमूल यांत्रिक परिवर्त्तन किये हैं।

पहले हम इनके यांत्रिक परिवर्त्तन पर विचार करें। आपने अपने टाइपराइटर में एक 'स्पेसबार' और बनाया है, जिसकी विशेषता यह है कि इसे छूने मात्र से ही इसके पास की लगी हुई खड़ी पाई अलग हो जाती है। इनके मुद्रीपटल पर खड़ी पाईवाले सभी अक्षरों के आधे रूप ही दिये गये हैं और इस प्रकार इन्होंने २२ स्थानों की बचत कर ली है। उपर्युक्त स्पेसबार की सहायता से इस खड़ी पाई की योजना ही इस मुद्री-पटल की सबसे बड़ी विशेषता है। होता यह है कि टाइपराइटर पर उस आधे अक्षर की चाभी दबाते ही उसका पूरा रूप टाइप हो जाता है। कारण यह है कि जब यह आधा अक्षर ऊपर उठता है तो टाइप करने के पूर्व उस नयी लगी खड़ी पाई को साथ ले जाकर कागज पर एक साथ बैठता है और इस प्रकार पूरा रूप छप जाता है। किंतु यदि किसी अक्षर का आधा रूप ही टाइप करना पड़ा तो स्पेसबार को छू भर दिया जाता है और खड़ी पाई अलग हो जाती है। फलतः उसका आधा रूप ही टाइप होता है। वस्तुतः यह मौलिक सूझ का ही परिणाम है। इससे अगणित लाभ हुए, जो किसी भी टाइपराइटर में नहीं उपलब्ध हैं। ४२ मुद्रियों के पटल पर कुल १०६ प्रकार के विभिन्न अक्षरों, सामान्य चिह्नों और विशेष चिह्नों का समावेश संभव हो सका है, यद्यपि इसमें कुल ४६ मुद्रियाँ हैं।

इसकी दूसरी विशेषता मात्राओं के लगाने की है। मात्राएँ अक्षर टाइप करने के बाद विना 'शिफ्ट की' दबाये टाइप होती चली जाती हैं।

अजित सिंह का मुद्रीपटल

पहली लाइन	१	२	३	४	५	६	७	८	६	०	+	
११ मुद्रियाँ	द्दद	श्र	ट	षष	णण	ड	थथ	खख	घघ	झझ	=	
दूसरी लाइन	*	%	त्र	द्	द्य	̥	̂	द्म	द्द	इ	˘	में
१२ मुद्रियाँ	भभ	बब	तत	नन	सस	ु	`	मम	द	अ	`	हैं
तीसरी लाइन	छ	ठ	क्र	क	रू	ी	ए	ह्म	द्व	/	:	ऋ
१२ मुद्रियाँ	चच	गग	यय	क	र	ि	ा	ह	वव	शश	ॱ	ट्र
चौथी लाइन	ॆ	द्ध	ऊ	फ	उ			ौ	(	)	˙	?
११ मुद्रियाँ	़	धध	झझ	पप	जज	लल		ो	,	।	.	—

स्पेस बार
हाफ बार

इस मुद्रीपटल में बीच के स्थान में पूरे अक्षर बायीं ओर रखे हुए हैं, जिसका यह अर्थ है कि इन्हें टाइप करने में शिफ्ट नहीं दबानी पड़ती। इन अक्षरों का आधा रूप इन्हीं की बगल में दाहिनी ओर दिया हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि ये भी विना शिफ्ट को दबाये टाइप किये जायँगे, किन्तु इनके आधे ही रूप को प्राप्त करने के लिए नीचे के स्पेस बार को किसी भी अंगूठे से हल्के छू भर देना पड़ेगा। केवल 'क' अक्षर ही ऐसा है, जिसका आधा रूप ऊपर के स्थान में रखा गया है (तीसरी लाइन की चौथी मुद्री); क्योंकि इसकी आवश्यकता कम पड़ती है। ऊपर के स्थान पर रखे हुए सभी अक्षर, अंक, मात्राएँ, चिह्न और संकेत शिफ्ट दबाने से छापे जा सकेंगे।

इस प्रकार हम पाते हैं कि इसमें यदि सभी लाइनों की अंतिम कुंजी को बाद दे दें, तो केवल ४२ मुद्रियाँ हैं। पूरे अक्षरों के लिए शिफ्ट की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्येक कुंजी केवल दो अक्षर या चिह्न समाविष्ट करती है, पर हम कुल १०६ अक्षर, विराम और विशेष चिह्न छाप सकते हैं। और, सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी त्वरा अंग्रेजी टाइपराइटरों के बराबर ही पड़ती है। स्वयं अजित सिंह ने बताया है कि 'प्रेमकृष्ण' को प्रचलित टाइपराइटरों पर टाइप करने में ८ बार चाभी दबानी पड़ती है जबकि पाँच ही अक्षर टाइप करने होते हैं। अंग्रेजी में इसी नाम को 'Prem Krishna' टाइप करने में ग्यारह बार चाभी दबानी पड़ती है और ग्यारह अक्षर भी टाइप करने पड़ते हैं। इसलिए, श्री सिंह का कहना है कि किसी भी अंग्रेजी टाइपराइटर का इस योजना के अनुरूप यांत्रिक परिवर्त्तन कर देने मात्र से ही कागज, परिश्रम और राष्ट्रीय धन की अपरिमित बचत हो सकेगी।

इन छह सुझावों के अतिरिक्त श्रीवेंकटलाल ओझा, श्री डी० डी० त्रिवेदी, श्रीजगन्नाथ जोशी और श्रीकृपानाथ मिश्र के भी सुझाव हैं, जिनमें उपर्युक्त सुझावों से भिन्न कोई नयी बात नहीं है।

देवनागरी लिपि सुधार-समिति के निश्चय (टंकण-संबंधी)

उत्तर-प्रदेश सरकार ने देवनागरी लिपि-सुधार के निमित्त आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में जो समिति नियुक्त की थी, उसकी एक टाइपराइटर-उपसमिति भी थी, जिसके तीन सदस्य थे—आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा श्रीभगवतीशरण सिंह। इसकी बैठक पहली अप्रैल, १९४९ को हुई और इसने सभी योजनाओं पर अच्छी तरह विचार करने के पश्चात् निम्नलिखित निश्चय किये :—

(१) श्रीअजित सिंह की योजना अधिक उपादेय होगी और इसका प्रयोग होना चाहिए। किन्तु समिति यह सिफारिश करती है कि सरकार (अ) या तो अजित सिंह से पेटेंट खरीद ले या (आ) अजित सिंह से उन शर्तों के सम्बन्ध में, जो वे टाइप बनानेवालों से करेंगे, विधिवत् लिखा-पढ़ी कर ले।

पर न जाने क्यों, यह सारी-की-सारी योजना एकदम ठप पड़ गयी और इसकी कोई भी चर्चा नहीं हुई।

फूलवदन सिंह का सुझाव

उत्तर-प्रदेश सरकार के सूचना-विभाग के हिन्दी स्टेनोग्राफर श्रीफूलवदन सिंह ने नरेन्द्रदेव-समिति के सम्मुख अपना एक सुझाव भेजा था, जिसमें एक टाइपिस्ट के व्यावहारिक अनुभवों का उल्लेख है। उन्होंने भी उपर्युक्त सभी टाइपराइटरों और तत्सम्बन्धी सुझावों पर तुलनात्मक रूप से विचार प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं कि यद्यपि आजकल हिन्दी टाइप करने में अधिकतर रेमिंगटन टाइपराइटर का ही प्रयोग होता है, किन्तु व्यवहार में उस मशीन में यह एक बहुत बड़ी असुविधा पायी जाती है कि उसके स्टैंडर्ड और पोर्टेबुल—दोनों मशीनों के ही मुद्रीपटल में भी आपस में कई अक्षरों का अन्तर है। इस अन्तर के कारण पोर्टेबुल पर टाइप करनेवाले व्यक्ति के लिए स्टैंडर्ड पर टाइप करने में दिक्कत होती है। उसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ होती हैं और स्पीड कतई नहीं हो पाती। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इसी कम्पनी के दोनों अंग्रेजी टाइपराइटरों में यह भेद नहीं रखा गया है। हिन्दी टाइपिस्टों के लिए तब और भी महान् विपत्ति का सामना करना पड़ जायगा जबकि एक ही चीज टाइप करने के लिए उसे तीन अथवा चार तरह के बोर्डों का अभ्यास करना पड़ेगा, जो किसी भी दशा में संभव नहीं हो सकता। यदि एक हिन्दी टाइपिस्ट किसी कार्यालय में काम करता है और कुछ वर्षों बाद उसका किसी दूसरे कार्यालय में स्थानान्तरण हो गया अथवा जहाँ पर वह काम करता है, वहाँ से हटाकर किसी आवश्यक कार्य के लिए किसी बड़े अफसर का काम करने को लगाया गया और वहाँ उसे दूसरी मशीन से टाइप करना पड़ा

तो उसके लिए बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ जायगा और बहुत सँभाल-सँभालकर टाइप करने पर, एक तो वह देर से टाइप कर सकेगा और दूसरे, अशुद्धियों का अधिक होना भी स्वाभाविक ही है।

फूलवदनसिंहजी का मत है कि (१) अगर की-बोर्ड के अक्षर इस प्रकार से रखे जायँ कि जितने ही अधिक प्रयोग में आनेवाले अक्षर हैं, उतने ही सहूलियत के स्थानों में रखे जायँ और जितने कम प्रयोग में आनेवाले अक्षर हैं, उनको उतने ही दूर के स्थानों में सेट किया जाय तो हिन्दी टाइपराइटिंग की स्पीड बढ़ाने में काफी सहूलियत हो सकती है। किन्तु इस समय प्रचलित मशीनों का ध्यान रखते हुए कार्यालयों में काम करने की सुविधा और टाइप करनेवालों की आसानी का भी उचित ध्यान रखते हुए निम्नलिखित की-बोर्ड रखा जाना अत्यावश्यक है—

पहली लाइन	१	२	३	४	५	·	६	७	८	९	०	
११ मुद्रियाँ	ज्ञ	द्द	घ	द्ध	छ	.	ट	ठ	ड	ढ	ण	
दूसरी लाइन	त्त	ट्ट	ॅ	्	्	े	ॄ	्	्	्	इ	ए
१२ मुद्रियाँ	त्र	ध	भ	च	त	`	ु	थ	ग	त्त	य	उ
तीसरी लाइन	द्व	क	म	?	;	ज	०	्	ी	्	रू	(
१२ मुद्रियाँ	ब	क्र	म	ा	न	ज	व	प	ि	स	र	)
चौथी लाइन	/	ॆ	श	:	ऋ	ख	ध्य	ह	ल	—	श्र	
११ मुद्रियाँ	\	ॄ	श	ह	अ	ख	द	ष	ल	न	।	

इससे बहुत मिलता-जुलता अण्डरउड मशीन का बोर्ड है। फूलवदनसिंहजी का मत है कि (२) अगर उक्त की-बोर्ड के अनुसार मशीन में सुधार कर दिया जायगा तो इसमें शक नहीं कि आजकल इस्तेमाल में आनेवाली रेमिंगटन हिन्दी टाइपराइटर मशीन से कहीं अधिक यह अंडरउड की मशीन उपयोगी साबित होगी।

हिन्दी वर्णों का प्रयोग

हिन्दी वर्णमाला के किन वर्णों का प्रयोग अधिक होता है और किनका कम, इस बात की जानकारी कई दृष्टियों से लाभकर हो सकती है। हिन्दी टाइपराइटर आदि के वर्णों के क्रम को बिठाने में इससे उचित सहायता मिल सकती है। इसी उद्देश्य से डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने कुछ गद्य रचनाओं में से कुल मिलकार एक हजार अक्षर अपने विद्यार्थियों को बाँटकर उनका विश्लेषण अपने सामने कराया और उसका परिणाम अपने एक लेख (हिन्दी वर्णों का प्रयोग) में प्रकाशित किया। इस प्रयोग में विशेष ध्यान लिपि-चिह्नों पर दिया गया है, ध्वनियों पर नहीं। इससे इसकी व्यावहारिकता असंदिग्ध ही कही जायगी।

इस अध्ययन से जो रोचक परिणाम निकले, वे निम्नलिखित हैं—(१) हिन्दी शब्दों में वर्णों की संख्या का औसत लगभग दो है (शब्द-संख्या ४५१, अक्षर-संख्या १००)। इसका कारण कदाचित् एकाक्षरी कारक-चिह्नों का अधिक प्रयोग है। ये पृथक् शब्द गिने गये हैं। (२) क्योंकि प्रत्येक वर्ण में साधारणतया एक स्वर तथा एक या अधिक व्यंजन होता है इस कारण १००० वर्णों में लगभग दुगुनी ध्वनियाँ १६०६ मिलती हैं। (३) हिन्दी में सबसे अधिक प्रयुक्त वर्ण क है, सबसे अधिक प्रयुक्त ध्वनि अ है, तथा सबसे कम प्रयुक्त वर्ण अथवा ध्वनि ढ है। (४) स्वरों में पूर्ण स्वर-चिह्नों की अपेक्षा मात्रा-चिह्नों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। किन्तु व्यंजनों में हलंत व्यंजनों की अपेक्षा पूर्ण व्यंजनों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। (५) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्ण स्वरों का क्रम निम्नलिखित होगा—अ इ उ आ ई औ ए ऐ ओ ऊ ऋ। मात्रा-चिह्नों का क्रम निम्नलिखित होगा अ (अर्थात् मात्रा का अभाव) आ इ ई ओ ऐ उ ए ऊ औ ऋ। समस्त हिन्दी वर्ण-समूह में स्वर-ध्वनियों के प्रयोग का क्रम निम्नलिखित होगा अ आ इ ई औ उ ऐ ए ओ ऊ ऋ। किसी तरह भी गणना की जाय, स्वरों में अ का स्थान सर्वप्रथम और ऋ का अंतिम रहता है। (६) प्रयोग की दृष्टि से पंचवर्गों का क्रम निम्नलिखित है तवर्ग, कवर्ग, पवर्ग, चवर्ग, टवर्ग। अंतस्थ तथा ऊष्म वर्गों को सम्मिलित कर लेने से तवर्ग से भी पहले क्रम से अंतस्थ तथा ऊष्म का स्थान पड़ता है। (७) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से व्यंजनों का क्रम निम्नलिखित होगा :—१०० से अधिक क र। ५१ से १०० तक ह स न त म य। ११ से ५० तक प द व ल ज ग थ श व ख ष भ और १ से १० तक च ध ट छ ण ढ़ ठ घ फ ङ ञ ङ् ड़।

हिन्दी टाइपराइटर बनानेवालों को इस अध्ययन से लाभ उठाना ही चाहिये और काफी विचार कर अधिक प्रयोग में आनेवाले अक्षरों को उसी क्रम से सहूलियत के स्थानों पर रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे टाइपराइटर वैज्ञानिक तो बनेगा ही, साथ-ही-साथ स्पीड बढ़ाने में भी काफी सुविधा होगी।

श्रीअजित सिंह के सुझावों और प्रयोगों से यह सिद्ध होता है कि यदि हमारे वैज्ञानिक और अभियंता अपने सामने अंग्रेजी टाइपराइटर न रखकर स्वतंत्र रूप से विचारने की कोशिश करें तो हमारी लिपि की सुविधा और प्रवृत्ति के अनुसार टाइपराइटर बन सकते हैं, तथा उसमें भी वही गति लायी जा सकती है, जो कि अंग्रेजी टाइपराइटरों में है।

मुद्रण-सम्बन्धी समस्याएँ

अन्य विशेषताओं के बावजूद, यह स्पष्ट है कि देवनागरी-लिपि के मुद्रण में प्रत्येक पंक्ति के लिए तीन पंक्तियाँ संग्रथित (कम्पोज) करनी पड़ती हैं—मध्य की पंक्ति वर्ण के लिए, ऊपर और नीचे की मात्राओं के लिए। अन्यथा एक टाइप पर दूसरा टाइप आंशिक रूप से चढ़ाकर संग्रथित करना पड़ता है। इस कठिनाई के अतिरिक्त लगभग ७०० स्वतंत्र टाइपों की आवश्यकता होती है, जिन्हें अभी अधिकांश मुद्रणालयों में हाथ से उठाकर यथास्थान रखना पड़ता है। इस कारण बहुत अधिक समय, परिश्रम और द्रव्य लगता है, साथ ही साथ लाइनोटाइप आदि यंत्रों द्वारा इतने अधिक वर्णों का मुद्रण कठिन हो जाता है।

अभी तक मुद्रण के प्रत्येक फाउन्ट में लगभग ७०० से अधिक तरह के अक्षरों का रखना आवश्यक होता है। कर्न अक्षरों (अर्थात् जिनमें चूल कटे होते हैं) का प्रत्येक फाउन्ट में रखना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए क दो प्रकार का होता है—एक चूल कटा और दूसरा विना चूल कटा। 'शक' संग्रथित करते समय विना चूल कटा क लगता है, पर 'अर्क' संग्रथित करते समय चूल कटे क की आवश्यकता पड़ती है। पुनः, हाथ द्वारा संग्रथन में अभी तक चार खाने का केस हुआ करता है और उनमें उपर्युक्त ७०० से अधिक तरह के अक्षरों और चिह्नों की व्यवस्था करनी पड़ती है। जो संग्रथक इन केसों पर काम करता है, उसे अपने हाथ को बायें, सामने और दाहिने घुमाना पड़ता है। सतत अभ्यास से वे जानते हैं कि किस खाने में कौन अक्षर या मात्रा पड़ी है और वे आँखें मूँदकर बायें हाथ में रखे स्टिक में उन्हीं टाइपों को दाहिने हाथ से उठाकर रखते चले जाते हैं।

दूसरे प्रकार का संग्रथन मोनो कहलाता है, जिसमें एक टाइपराइटर रहता है। पहले एक विशेष प्रकार के कागज पर टाइप कर लिया जाता है। इस टाइप में कतिपय सांकेतिक छेद बनते चले जाते हैं। पुनः एक दूसरी मशीन में उसे लगा दिया जाता है, जिसमें तदनुरूप अक्षर ढलते चले जाते हैं। इसमें मात्राएँ हाथ-संग्रथन की तरह ही अलग से लगती चली जाती हैं, जो इतनी हल्की पड़ती हैं कि स्याही पोतने के रौलर के थोड़े-से दवाब से ही या तो टूट जाती हैं, या नहीं तो छिटककर दूर जा निकलती हैं।

तीसरे प्रकार का संग्रथन लाइनो कहलाता है, जिसकी विधि मोनो की ही होती है; किन्तु अन्तर यह रहता है कि मोनो में अलग-अलग अक्षर ढलते हैं, पर लाइनो में अलग-अलग लाइन ढलती है। इसमें मात्राएँ साथ जुटी रहती हैं, इसलिए उनके टूटने या छिटक जाने का भय नहीं रहता।

हिन्दी के अधिकांश मुद्रणालयों में अभी हाथ-संग्रथन ही चालू है। चार केस रहने पर संग्रथक को दूर-दूर तक हाथ बढ़ाना पड़ता है। संग्रथक अधिकतर ऐसे लोग होते हैं, जिनका ज्ञान अपर प्राइमरी या अधिक-से-अधिक मिडल स्कूल तक का ही रहता है। वे सिर्फ लिखे अक्षरों को देखते चलते हैं और उनके अभ्यस्त हाथ खानों से टाइप निकाल-निकालकर स्टिक में रखते जाते हैं। यदि हस्तलिपि अस्पष्ट हुई तो गलती की संभावना बढ़ जाती है। फिर, हाथ से संग्रथित करने में बहुत-सी अशुद्धियाँ इसलिए भी होती हैं कि केस के खानों में टाइप बहुधा गलत स्थानों में रखे जाते हैं। संग्रथक टाइप को पहचानकर नहीं उठाते, उनके हाथ सिर्फ खानों को पहचानते हैं। उनमें ठीक टाइप रखा रहा तो संग्रथन ठीक उतरेगा, गलत टाइप रखा रहा तो संग्रथन गलत हो जायगा। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि खानों में टाइप ठीक-ठीक रखे जायँ। लेकिन यह काम वितरकों (डिस्ट्रीब्यूटरों) द्वारा होता है। वे पहले के संग्रथित और छपे हुए फर्मों से (छपाई हो जाने के बाद) उसे थोड़ा-थोड़ा करके बायें हाथ में उठाते हैं और मैटर को पढ़-पढ़कर दाहिने हाथ से बड़ी फुर्ती से टाइपों के खाली खानों में डालते चले जाते हैं। यह काम बड़ी तेजी से किया जाता है—इस तरह कि स्वयं वितरक इस कार्य को 'फेंकना' कहकर ही पुकारते हैं। पैसों की बचत के विचार से यह काम नौसिखुए संग्रथकों को या सिर्फ अक्षर-ज्ञान प्राप्त किये हुए लड़कों को दिया जाता है, जिसके चलते कम-से-कम पचीस प्रतिशत टाइप गलत खानों में 'फेंक' दिये जाते हैं।

डा० गोरख प्रसाद के प्रस्ताव (संग्रथन-सम्बन्धी)

संग्रथन में परिष्कार लाने के लिए डा० गोरख प्रसाद ने जो प्रस्ताव उपस्थित किये हैं, उनमें पहला यह है कि उ, ऊ, ए, ऐ और अं की मात्राओं को अर्थात् ु ू े ै और ं को थोड़ा-सा दाहिनी ओर हटाकर लगाया जाय, जिससे हिन्दी-संग्रथन बहुत सरल हो जायगा और इस प्रकार ७०० के बदले कुल १५०, या यदि सभी वर्त्तमान संयुक्ताक्षर रखे जायँ तो कुल २०० टाइपों से संग्रथन हो जाया करेगा। यदि यह नवीन पद्धति स्वीकार कर ली जाय तो चार केसों की जगह केवल दो केसों से ही काम चल जा सकेगा। डाक्टर साहब के अनुसार उनके दोनों केस इस प्रकार के होंगे—

अपर केस

			ह्द	द्व	ह्म	द्ध	द्य	ङ्	ढ़	ट्ट	ट्ठ	ड्ड			
		`	ऋ	कृ	शृ	ह्ल	ह्न	रु	रू	हु	हू	०	य		
,	;	[illegible]	!	?	[illegible]	^	॰	[illegible]	[illegible]	भ	[illegible]	[illegible]	[illegible]	फ	[illegible]
ट्र	ड्र	क्र	त्र	भ्र	म्र	व्र	ज्र	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
क्र	्र	ग्र	त्र	द्र	प्र	श्र	ख्र	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	स	ह
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	१	२	३	४	५	६	७	८
ो	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	६	०	।	,	(	[	[illegible]	—

लोअर केस

ख	घ	च	छ	ज	झ	ि	ां	ट	ठ	ड	ढ	थ	ध	फ	भ
उ	ग	ए	ने	·	:	ा		में		मैं	हैं	॰	^	ो	ौ
ऊ	ब	क		द				मे		श	ष	ि	ी	ों	ौं
इ														ीं	िं
ई	ल	म		न		है		से	के	ये	पे	ह	स	एन क्वाड	एम क्वाड
ज्ञ															
त्त	व	य		त		थिक स्पेस		अ		र		ऋ	।	क्वाड	
ण												।	।		

अपर केस में १०२ टाइप हैं और लोअर केस में ७१ हैं। इस प्रकार डा० गोरख प्रसाद के प्रस्तावानुसार कुल १७३ खानों के दो केसों से संग्रथन का काम बड़ी खूबी से चल सकता है। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा नियुक्त देवनागरीलिपि-सुधार-समिति ने अपनी एक विशेष संग्रथन-उपसमिति निर्वाचित की थी, जिसकी बैठक २५ अगस्त, १९४८ को इंडियन प्रेस में हुई थी। इस उपसमिति के सदस्य थे श्रीहरिकेशव घोष, मैनेजर, इंडियन प्रेस; श्रीकृष्णप्रसाद दर, मैनेजर, लॉ जर्नल प्रेस; श्रीमहादेव जोशी, मैनेजर, लीडर प्रेस, डा० गोरख प्रसाद तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा। इनकी उपस्थिति में कतिपय संग्रथकों की परीक्षा दोनों प्रकार के केसों पर की गयी। पहला संग्रथक था सरजू, जिसने दो केस के आधार पर दस दिनों तक प्रति-दिन एक पैराग्राफ संग्रथित करने का अभ्यास किया था। दूसरा संग्रथक था बाबूलाल, जिसने दो केस के आधार पर (जिसमें १९९ टाइप थे) केवल दो दिन वही पैराग्राफ संग्रथित करने का अभ्यास किया था। तीसरा संग्रथक था जगन्नाथ, जिसने चार केस के आधार पर (जिसमें ४५५ टाइप थे) लगभग १५ वर्ष तक संग्रथन का अभ्यास किया था। इस परीक्षा का परिणाम निम्नलिखित हुआ :—

(क) सरजू ने ३८ पंक्तियों का पैराग्राफ दो केसों के आधार पर ४९ मिनट में संग्रथित किया और उसने प्रूफ की ११ भूलें कीं।

(ख) बाबूलाल ने वही पैराग्राफ दो केसों के आधार पर ५३ मिनट में संग्रथित किया और ३० भूलें कीं। यहाँ यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि इस संग्रथक को नये केस का अभ्यास केवल दो दिनों का था।

(ग) जगन्नाथ ने वही पैराग्राफ चार केसों के आधार पर ६५ मिनट में संग्रथित किया तथा २१ भूलें कीं। हमें स्मरण रखना है कि इस संग्रथक को इन्हीं केसों पर काम करने का लगभग १५ वर्षों का अभ्यास था।

निष्कर्ष यह निकला कि नयी पद्धति की अपेक्षा पुरानी पद्धति में लगभग तीस प्रतिशत समय संग्रथन में अधिक लगता है। नयी पद्धति से संग्रथन करनेवाले संग्रथकों का अभ्यास कुछ दिनों का ही था, जहाँ कि पुरानी पद्धति से संग्रथन करनेवाले संग्रथक का अभ्यास वर्षों का था। इसलिए पर्याप्त अभ्यास हो जाने पर दो केसों के आधार पर संग्रथन की तेजी और भी बढ़ सकती है। ठीक उसी हिसाब से व्यय भी कम पड़ेगा—कम-से-कम ३० प्रतिशत। पुनः, ४५५ टाइप के स्थान पर २०० टाइप हो जाने से प्रेस चलानेवालों का टाइप खरीदने एवं केस बनाने आदि का व्यय आधे से भी कम हो जायगा। स्थान की समस्या भी कम हो जायगी। केवल दो केस हो जाने में संग्रथक पर शारीरिक तथा मानसिक श्रम अपेक्षाकृत कम होगा, अतः भूलें भी कम होंगीं। उसी प्रकार टाइप डिस्ट्रिब्यूट करने में भी श्रम, व्यय तथा भूलों में कमी होगी।

इस प्रकार इस नवीन पद्धति के अनुसार पुराने चार केसों में केवल दो केसों की जरूरत होगी, साथ-ही-साथ उ, ऊ, ए, ऐ की मात्रावाले सभी अक्षर अर्थात्

कु, कू, के, कै इत्यादि हट जायँगे। कर्नवाले सभी अक्षर भी समाप्त हो जायँगे तथा उन संयुक्त अक्षरों की, जैसे क्र, च्च इत्यादि की कोई जरूरत नहीं रह जायगी। इसलिए देवनागरीलिपि-सुधार-समिति ने इस नवीन पद्धति को मान्यता देते हुए यह सुझाव दिया कि उ, ऊ, ए, ऐ और अं की मात्राओं को थोड़ा-सा दाहिनी ओर हटाकर लगाया जाय, जिससे कर्नवाले टाइपों की और कु, कू, के, कै आदि अखंड टाइपों की आवश्यकता ही नहीं पड़े। साथ-साथ ु ू े ै के साथ छोटी-सी शिरोरेखा भी रहे (जैसे ु ू े ै) जिससे इन मात्राओं को अक्षरों की बगल में संग्रथित करने से शिरोरेखा टूटी हुई न दिखायी पड़े। लाइनो टाइप में मात्राएँ इसी स्थिति में रहती भी हैं।

कागज और शिरोरेखा का प्रश्न

कतिपय विशेषज्ञों ने यह शंका उठायी कि मात्राओं को कुछ परे हटाकर लगाने से कागज का खर्च बढ़ जायगा। इसकी भी जाँच की गयी और पाया गया कि यदि मात्राओं को तिरछे नहीं ढालकर, उनकी आकृतियों को फिर से 'डिजाइन' किया जाय तो उन्हें दाहिनी ओर हटाकर लगाने पर भी बहुत अधिक अतिरिक्त स्थान की आवश्यता नहीं पड़ेगी। दूसरी ओर जब इन मात्राओं को फिर से 'डिजाइन' किया जायगा तब अक्षरों के नीचे इतना स्थान छोड़ने की आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि मात्राएँ बगल से लगेंगी। इस प्रकार टाइपों के पहले-जैसे बड़े रहने पर भी प्रति इंच अधिक पंक्तियाँ आ सकेंगी। फलतः चौड़ाई की क्षति लम्बाई की दिशा में पूर्ण हो जायगी, अर्थात् यद्यपि प्रत्येक पंक्ति में कुछ कम अक्षर आयँगे तथापि प्रत्येक पृष्ठ में कुछ पंक्तियाँ अधिक आ जायँगी।

विशेषज्ञों ने दूसरी आशंका यह प्रकट की कि शिरोरेखा विच्छिन्न हो जायगी, कम-से-कम उन स्थानों पर जहाँ दाहिनी ओर लगनेवाली मात्राएँ रहेंगी। पर यह शंका भी निर्मूल है; क्योंकि जब मात्राओं को फिर से 'डिजाइन' किया जायगा तब ु ू े ै इन चार मात्राओं के साथ छोटी-छोटी चार शिरोरेखाएँ भी रहेंगी। इसपर शिरोरेखा अविच्छिन्न दिखायी पड़ेगी।

टाइप में सुधार

हिन्दी के टाइप बहुधा अपने नाप के हिसाब से जैसे १२ प्वाइंट, ग्रेट, ४ लाइन पाइका, ६ लाइन पाइका, इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। अक्सर ये प्रचलित नाम नाप का ठीक आधार नहीं बताते। जैसे ६ लाइन पाइका नाम से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि टाइप कम्पोज किये जाने पर ६ लाइन पाइका अर्थात् १ इंच स्थान लेगा, परंतु यदि इस टाइप में चार, पाँच या अधिक लाइनें संग्रथित करनी हों तो यह ज्ञात होगा कि प्रत्येक २ लाइनों के बीच में काफी लेड दिये विना इस टाइप का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि किया जायगा तो दो लाइनों के बीच में आमने-सामनेवाली मात्राएँ आपस में सट जायँगी।

नागरी टाइप बनावट में एक हद से ज्यादा छोटे नहीं हो सकते। क्योंकि इनमें जितनी जगह मूल अक्षर के लिए रखी जाती है, करीब-करीब उतनी ही जगह अक्षर के ऊपर लगनेवाली मात्राओं तथा नीचे लगनेवाली मात्राओं—दोनों को मिला-कर देनी पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि अंग्रेजी का १० प्वाइंट का टाइप हम आसानी से पढ़ सकते हैं, तो नागरी के उतने ही प्वाइंट के टाइप पढ़ने में हमें दिक्कत होगी। क्योंकि नागरी में दस प्वाइंट का टाइप—यानी मूल अक्षर पाँच प्वाइंट हो जाता है और ढाई प्वाइंट जगह ऊपर लगनेवाली मात्राओं तथा ढाई प्वाइंट जगह नीचे लगनेवाली मात्राओं में जाती है। इसमें भी हर अक्षर के सिर पर जो रेखा रहती है, वह उसे और छोटा बनाने में सहायक होती है। गुजराती अक्षरों के नागरी अक्षरों से बड़ा लगने का कारण उनका शिरोरेखा-रहित होना ही है।

यह प्रश्न नरेन्द्रदेव-समिति के सम्मुख भी आया था और विशेषज्ञों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि ८ प्वाइंट से कम नाप के छोटे अक्षरों से संग्रथित करने में शिरोरेखाविहीन अक्षरों से काम लिया जाय। इस प्रस्ताव के समर्थन में डाक्टर गोरख प्रसाद का कहना है कि देवनागरी के अक्षरों में इतना घुमाव-फिराव है कि बहुत छोटे अक्षर बनाने पर वे स्याही से भर जाते हैं। कहने को ८ प्वाइंट के देवनागरी टाइप बने हैं; परन्तु उनके संग्रथित करने में मात्राओं के बढ़े रहने के कारण पंक्तियों के बीच 'लेड' लगाना आवश्यक होता है, अर्थात् थोड़ा स्थान छोड़ना ही पड़ता है। इसलिए वे वस्तुतः ८ प्वाइंट के टाइप नहीं माने जा सकते। क्योंकि यदि टाइप वस्तुतः ८ प्वाइंट के हों तो प्रत्येक इंच में ९ पंक्तियाँ आनी चाहिये, जो कि हिन्दी पुस्तकों में असंभव है। सबसे घना संग्रथन आप्टे के अंग्रेजी-संस्कृत कोश में है, पर वहाँ भी ९ प्वाइंट के अक्षर हैं और एक इंच में ८ पंक्तियाँ हैं। शिरोरेखा हटा देने से ६ प्वाइंट का संग्रथन भी वैसी ही सुगमता से पढ़ा जा सकेगा, जैसी सुगमता से वर्तमान ९ प्वाइंट का। डाक्टर साहब ने ब्लाक बनाकर शिरोरेखायुक्त और शिरोरेखाविहीन ६ प्वाइंट के अक्षरों के नमूने प्रदर्शित भी किये थे। नरेन्द्रदेव-समिति ने किसी भी परिस्थिति में शिरोरेखा-विहीन अक्षरों को स्वीकृति नहीं दी, पर इतना अवश्य कहा कि जिन अक्षरों में 'लूप' अधिक हैं, उनके लूपों को यथासंभव कम करने की चेष्टा अवश्य की जाय, जिससे शिरोरेखायुक्त होने पर भी वे छोटे नाप के बन सकें और स्पष्ट रूप से पढ़े जा सकें।

———

राजभाषा

[पाठकों से अनुरोध है कि वे इस निबंध के साथ 'शिक्षा का माध्यम'-शीर्षक निबंध अवश्य पढ़ें ।]

लगभग एक हजार वर्षों से भारत का अधिकांश राजकार्य कतिपय ऐसी भाषाओं में चलता रहा है, जो या तो घोड़े की पीठ पर यहाँ लायी गयी हैं या जहाज पर; उनका बड़ा ही गहरा सम्बन्ध या तो भाले की नोंक से रहा है या बंदूक की नली से। वे सदैव लादी जाती रही हैं। जनता ने राजकार्य के लिए भले ही उन्हें स्वीकार कर लिया हो, पर जीवन के और महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में वह सदैव अपनी राष्ट्रभाषाओं का ही प्रयोग करती रही। यही कारण है कि राज्य द्वारा सतत उपेक्षित रहने के बावजूद उन राष्ट्रभाषाओं में विशाल और कई दृष्टियों से अतुलनीय शक्ति-साहित्य का निर्माण अनवरत होता रहा। हमारी राष्ट्रभाषाओं और राजभाषाओं में वही अन्तर रहा है, जो कि बेली के पौधों और गमलों में शोभित होनेवाले करोटन में है। एक से भारत की झोपड़ी-झोपड़ी मँह-मँह करती रही है, और दूसरे से दीवाने-खास और बंगलों की ही शोभा बढ़ती रही है।

राजभाषा की समस्या का बड़ा ही गहरा सम्बन्ध उस 'राष्ट्रभाषा' (राष्ट्रभाषा यानी अंतःप्रांतीय भाषा) से है, जिसकी आवश्यकता की अनुभूति सर्वप्रथम विदेशियों और अ-हिन्दी-भाषी भारतीयों ने की। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना एकदम गलत है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आंदोलन हिन्दीवालों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया। डा० भोलानाथ तिवारी ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दीवाले तो हिन्दी का प्रयोग करते थे, उसके आधार पर चारों ओर अपने देश में घूम लेते थे, और उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी, इसीलिए राष्ट्रभाषा की समस्या पर उनका ध्यान कभी गया ही नहीं। ठीक इसके विपरीत, जब कोई अहिन्दी-भाषी भारतीय अपने प्रदेश से बाहर जाता था तो उसके सामने यह प्रश्न स्वभावतः आता था कि वह दूसरों को कैसे समझाये और उन्हें कैसे समझे। दूसरा वर्ग था विदेशियों का, जो पहले व्यापार करने आया था। उसे कोई एक ऐसी भाषा चाहिये थी जिसे जान लेने से वह संपूर्ण भारत में अपना काम चला लेता। इन विदेशियों ने भी अनुभव किया कि भारत की बोलचाल की भाषा 'हिन्दुस्तानी' है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दक्षिण भारत, गुजरात, बंगाल आदि इलाकों में भी व्यापार करनेवाले विदेशियों ने सर्वप्रथम जिस भाषा को सीखने का प्रयत्न किया, वह 'हिन्दुस्तानी' थी। १७०४ ई० में तुरोनेसिस ने डच भाषा में हिन्दी का पहला व्याकरण प्रस्तुत किया, १७१५ ई० में जॉन जोशुआ केटेलर ने पुनः डच भाषा में ही दूसरा व्याकरण प्रस्तुत किया। यद्यपि इनका कार्य-व्यापार

दक्षिण भारत में था, फिर भी 'हिन्दुस्तानी' का जानना उनके लिए इतना आवश्यक प्रतीत हुआ कि डच मालिकों की सुविधा के लिए उन्होंने हौलेंड से अनेक व्याकरण प्रकाशित किये। इनका अनुवाद लैटिन में भी हुआ, जो उस समय समस्त यूरोप की सांस्कृतिक भाषा थी। हैमिल्टन-नामक पर्यटक ने १७२७ ई० में लिखा था कि मुगल-राज्य की सामान्य भाषा 'हिन्दुस्तानी' है ; और हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मुगल-राज्य केवल हिन्दी-प्रदेशों तक ही सीमित नहीं था, वह बंगाल से लेकर गुजरात और सिंध तथा कश्मीर से लेकर आंध्र तक फैला था। नतीजा यह हुआ कि विदेशियों ने १७०४ ई० से लेकर १८५७ ई० तक के अन्दर हिन्दी या हिन्दुस्तानी के लगभग चालीस व्याकरण विभिन्न विदेशी भाषाओं में तैयार किये । और, यह भी आश्चर्य की बात है कि इनमें से अधिकांश अहिन्दी-भाषी प्रांतों में निर्मित हुए थे।

भारतीयों द्वारा इस समस्या पर विचार करने का क्रम निश्चयात्मक रूप से उन प्रदेशों में ही शुरू हुआ, जहाँ कि सर्वप्रथम विदेशी सम्पर्क के चलते धार्मिक और राजनीतिक जागृति आयी। इन धार्मिक और राजनीतिक सुधारकों ने यह बराबर अनुभव किया कि जनता में अपने विचारों के प्रतिपादन के लिए किसी ऐसी भाषा का अवलंबन लेना अत्यावश्यक है, जिसमें अखिलदेशीय होने की सर्वाधिक सम्भावनाएँ हों। यह जागृति सर्वप्रथम बम्बई और बंगाल में आयी, और यही कारण है कि अखिलदेशीय स्तर पर सर्वाधिक प्रचलित भाषा की ओर सबसे पहले ध्यान वहीं के नेताओं का गया। 'आधुनिक जागृति के अग्रदूत' राजा राममोहन राय का ध्यान इस ओर गया और यद्यपि उनका कार्यक्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था तथापि १८१५ ई० में उन्होंने अपना वेदांत-सूत्र हिन्दी में प्रकाशित कराया था और अपने पत्र 'वंगदूत' का एक हिन्दी-संस्करण भी वे निकालते थे। बम्बई के फ्रीचर्च कॉलेज के अध्यापक श्री पेठे ने १८६४ ई० में 'राष्ट्रभाषा' नाम की एक पुस्तक मराठी में लिखी थी, जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था कि भारत के लिए एक भाषा आवश्यक है और वह हिन्दी है। ब्रह्मसमाज के अप्रतिम नेता केशवचंद्र सेन ने १८७५ ई० में लिखा था—"यदि भारतवर्ष एक ना हइले, भारतवर्षे एकता ना हय, तबे ताहार उपाय कि? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार कराइ उपाय। एखाने जतो गुलि भाषा प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र-ई प्रचलित। एइ हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे।" इन्हीं केशवचंद्र सेन ने संस्कृत में ही भाषण देनेवाले गुजराती सुधारक स्वामी दयानंद को बताया कि यदि आप पूरे भारत को अपनी बात सुनाना चाहते हैं तो हिन्दी सीखिये और उसीका प्रयोग कीजिये। स्वामीजी ने ४८ वर्ष की उम्र में हिन्दी सीखी और तब अपने सभी भाषण और ग्रंथ हिन्दी में ही तैयार किये। १८७८ ई० में बंकिमचंद्र ने लिखा—"हिन्दी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल-साधन। केवल बांगला ओ इंग्रेजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासी.......

सहित तुलना करिले, बांगला ओ इंग्रेजी रूप जनलोक बलिते ओ बुझिते पारे ना। बांगलार न्याय जे हिन्दिर उन्नति हइतेछे ना, इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिन्दी भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जाहारा ऐक्यबन्धन संस्थापन करिते पारिबेन, ताहारा इ प्रकृत भारतबंधु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन जतो दिन परे-इ हउक, मनोरथ पूर्ण हइबे।'' श्रीभूदेव मुखोपाध्याय ने अपनी 'आचार-प्रबंध'-नामक पुस्तक में लिखा है—''भारतवासीर चलित भाषा गुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी इ प्रधान एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त महादेशव्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहा के अवलम्बन करिया-इ कोनो दूरवर्त्ती भविष्य काले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।'' इन्होंने ही डाक्टर ग्रियर्सन से लोहा लेकर बिहार की कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरीलिपि को स्थान दिलाया था और १८७७ ई० में ही उपेक्षित हिन्दी की विपन्नावस्था का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा था—''मुसलमानों को अपनी फारसी भाषा पर ममता है; कायस्थ उसीसे प्रेम रखते हैं; क्योंकि अनेक पीढ़ियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा अपने बल-पराक्रम के लिए फारसी ही का मुँह जोहती है; हिन्दी भाषा का कहीं ठिकाना नहीं। बिहार में संस्कृत तो ऐसी बहिष्कृत हो गयी जैसी बंगाल से भी नहीं हुई। हिन्दी है जीवित; क्योंकि इसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती।'' गांधीजी ने १६०६ में ही 'हिन्द स्वराज्य ऐण्ड होमरूल' में लिखा—''A universal language for India should be Hindi.......If we can do this, we can drive the English Language out of the field in a short time.''

निष्कर्ष यह कि भारत की राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में सोचना उन्हीं लोगों ने शुरू किया था, जिनको उसकी आवश्यकता मालूम पड़ती थी। हिन्दी-भाषी लोगों को इसकी आवश्यकता उतने उत्कट रूप में कभी नहीं मालूम पड़ी। दूसरे प्रान्तों के लोग जब कभी अपनी सीमा से बाहर निकलने की चेष्टा करते थे, उन्हें इस समस्या का सामना करना ही पड़ जाता था, हिन्दी-भाषियों के सामने यह समस्या कभी नहीं उपस्थित हुई, वे बड़े मजे में सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपना काम हिन्दी के माध्यम से ही चला लेते थे।

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी

हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी-संघर्ष हमारे इतिहास की कई महत्त्वपूर्ण विडंबनाओं का समष्टिगत रूप है। यह संघर्ष अपने जन्म और विकास के लिए तथा असामयिक अंत के लिए भी कतिपय अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों का ऋणी रहा है। यही कारण है कि जैसे-जैसे हमारी राजनीति साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ती गयी, तैसे-तैसे इस संघर्ष ने भी साम्प्रदायिक रंग पकड़ा। यह हमारे इतिहास की बहुत बड़ी विडंबना है कि हिन्दी-उर्दू-संघर्ष का उग्रतम रूप तब उपस्थित हुआ जब हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए सबसे अधिक प्रयत्न किये जा रहे थे। और, यह क्या साधारण विडंबना थी कि हिन्दीवाले

कहते थे कि हमारी भाषा के निर्माण और विकास में मुसलमानों का भी हाथ रहा है, और उर्दू वाले कहते थे कि उनकी भाषा के भी निर्माण और विकास में हिन्दुओं का हाथ रहा है ; पर अंतःकरण से दोनों दल कट्टर धार्मिक थे। हिन्दी-उर्दू के संघर्ष के नाम पर हिन्दू-इस्लाम का संघर्ष चल रहा था। इसमें एक ही प्रमुख अपवाद थे, सर तेजबहादुर सप्रू।

राजभाषा या राष्ट्रभाषा की समस्या पर लोगों ने फिर से तब विचार करना शुरू किया, जब हमारा राष्ट्रीय आंदोलन परिपक्व हो चुका था और अखिलभारतीय स्तर पर यह आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी कि हम ऐसी सर्वसम्मत स्वदेशी भाषा में अपने विचारों का आदान-प्रदान करें, जिसे कि देश की अधिकांश जनता समझती हो। हमारा राष्ट्रीय आंदोलन अब चंद बुद्धिजीवियों के चंगुल से निकलकर जनव्यापी होने के लिए कुलबुला रहा था और उधर, महात्मा गांधी ने प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ही सभी विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का नारा दे दिया था। इसमें कोई तुक नहीं था कि हम मैनेचेस्टर के बने कपड़ों को तो जला दें, पर भाषा के क्षेत्र में अंग्रेजी का ही प्रयोग करते चलें। इसीलिए गांधीजी ने १९२१ ई० में 'यंग इण्डिया' में लिखा—"To get rid of the infatuation for English is one of the essentials of Swaraj."

हिन्दी-उर्दू-संघर्ष की पूर्वपीठिका

१७९८ ई० में वेलेज्ली भारत का गवर्नर-जेनरल बनकर आया, और आते ही उसने कम्पनी के नौकरों के लिए देशी भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य करार दिया। १८०० ई० में इसी उद्देश्य से कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गयी। इस कॉलेज का उद्देश्य जन-साधारण की संस्कृति, प्रवृत्ति और साहित्य का ज्ञान अर्जित कर कंपनी की जड़ को मजबूत बनाना था। इस समय तक कंपनी यह समझने लगी थी कि उसे मुगल-साम्राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करना है। इसीलिए समय रहते वह अपने को इसके योग्य बना लेना चाहती थी। इस कॉलेज के अध्यक्ष थे डाक्टर जॉन गिलक्राइस्ट।

कम्पनी ने 'भाखा' और 'हिन्दुस्तानी'—दो भाषाएँ स्वीकार कीं। 'भाखा' खड़ी बोली का वह रूप थी, जिसमें संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द अधिक रहते थे, और जनता का विशाल जनसमुदाय जिसे अनायास समझता और बोलता था। हिन्दुस्तानी खड़ी बोली का वह रूप थी, जिसमें फारसी शब्दों की अधिकता रहती थी और उसके लिए फारसी लिपि और शैली का प्रयोग होता था। लाला लल्लूलाल (जो गुजराती थे) भाखा के लिए और मौलवी हफीजउद्दीन हिन्दुस्तानी के लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार करने को नियुक्त किये गये थे। १८०१ ई० में यह नियम बना दिया गया कि ऐसा कोई भी आदमी तबतक कंपनी में नौकरी नहीं पा सकता, जबतक कि वह इस कॉलेज की कानून और भाषा की परीक्षाएँ न पास कर ले।

सतत उपेक्षा के कारण हिन्दी में उस समय गद्यात्मक रचनाएँ नहीं थीं, और गिलक्राइस्ट को ऐसे गद्य की आवश्यकता पड़ी, जिससे वे कतिपय अनिवार्य ज्ञान संपादित कर सकें। उन्होंने पिछली राजसत्ता और पिछले शासकवर्ग की भाषा की ओर ताका। यह भाषा फारसी या फ़ारसी-प्रधान उर्दू थी, जिसका सम्बन्ध साधारण जनता से नहीं था। पर, साधारण जनता ऐसी नहीं थी कि व्यापारी अंग्रेज उसे महत्त्व न दें। 'भाखा' सीखने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी कि कंपनी के लोगों को शिक्षित समुदाय के बाहर भी काम करना पड़ता था।

गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी-सम्बन्धी दृष्टिकोण क्या था, वह इसी से ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा के लेखकों और कवियों में मीर, दर्द, सौदा, मिसकीन आदि की प्रधान रूप से गणना की है, जो अरबी-फारसी शब्दों का अधिक-से-अधिक संख्या में प्रयोग करते थे। A Grammar of the Hindustani Language तथा सेमिनरी की 'जर्नल' में उन्होंने अरबी-फारसी की पारिभाषिक शब्दावली और सिद्धांत ग्रहण किये हैं। उनकी आदर्श हिन्दुस्तानी का रूप था—"दूसरी आईन दूसरे बाब से जो दंगे पर है, जो कोई बड़ा या छोटे ओहदेदार या सिपाही बेअदबी या हिक़ारत करे, जनरल या किसू बड़े सर्दारी फौज के हक़ में, या बात कहे कि जिससे बेवक़री या नुकसान उनका हो सके तो वुह अपनी तकसीर के मुआफ़िक़ सज़ा पावेगा, लश्करी अदालत याने कोर्ट मार्शल की तजवीज से।" गिलक्राइस्ट मानते थे कि हिन्दुस्तानी भाषा का शुद्ध प्रयोग मुंशी, खानसामे और आयाएँ किया करती थीं। 'हिन्दवी' का प्रयोग 'हिन्दुस्तान' की साधारण जनता करती थी। लिपि भी उन्हें फारसी ही पसंद थी ; क्योंकि "हिन्दुस्तानी के पुराने लेखकों और कवियों ने इसी लिपि का प्रयोग किया था।" फोर्ट विलियम कॉलेज और पुस्तकालय की जो मुहर उन्होंने बनवायी, उसपर भी इसी फारसी लिपि का प्रयोग किया गया।

मुस्लिम पक्ष से इस संघर्ष का प्रारम्भ १८३७ ई० से ही होता है, जबकि कम्पनी-सरकार के निश्चयानुसार कचहरी की भाषा फारसी के बदले प्रांतीय भाषाएँ घोषित की गयीं। इसे मुसलमानों ने अपनी तथाकथित बिगड़ी नवाबी की डोलती प्रतिष्ठा पर भयंकर कुठाराघात समझा। यह एक आश्चर्य की बात है कि बिहार, पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) को छोड़कर मुसलमानों ने कहीं भी इस निर्णय के विरुद्ध आवाज बुलंद नहीं की। बाकी सभी प्रदेशों के मुसलमानों ने वहाँ की प्रांतीय भाषा को स्वीकार कर लिया। सिर्फ इन्हीं तीन प्रदेशों में मुसलमानों और मुस्लिम संरक्षण में पोषित हिन्दू कारिन्दों ने भारी हल्ला मचाया और वहाँ कचहरी की भाषा उर्दू करार दी गयी। मुसलमान इसे अपनी व्यक्तिगत विजय समझते रहे।

१८५७ की घटनाओं ने अंग्रेजों को पुनः राजनीतिक दृष्टि से सोचने के लिए बाध्य किया। इस विद्रोह का बाहरी रूप मुसलमानी था और इसके पूर्व तक अंग्रेज मुसलमानों के साथ पक्षपात की नीति बरत रहे थे। वारेन हेस्टिंग्ज को यह अखरा

था कि सरकारी महकमों में हिन्दू ही क्यों हैं, इसीलिए उसने मुसलमानों की शिक्षा की व्यवस्था विशिष्ट रूप से की थी। (देखिये—'शिक्षा का माध्यम'-शीर्षक निबंध।) गार्सां द तासी तक ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि क्रिस्तान और इस्लाम, दोनों ही सामी पैगम्बरी मत हैं, इसलिए अंग्रेजों को उनकी तरफदारी करनी ही चाहिये। सिपाही-विद्रोह ने पहले तो अंग्रेजों के मन में मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का भाव भरा। पर, धीरे-धीरे उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उस विद्रोह में मुसलमानों ने सिर्फ तलवार चमकायी थी, चेतना तो हिन्दुओं की ही थी। पुनः, दोनों परस्पर-विरुद्ध धर्मावलम्बियों की यह एकता—अंग्रेजों को यह बात सबसे अधिक अखरी। वे फूट का बीज बोने को कटिबद्ध हुए और भाषा की समस्या ने उसके लिए एक तैयार क्षेत्र उपस्थित किया।

१८७० के आस-पास जब जॉन बीम्स और एफ० एस० ग्राउज-नामक दो अंग्रेज पदाधिकारी उर्दू और हिन्दी को लेकर लेखमालाएँ प्रस्तुत कर रहे थे तब मिशनरीवाले नयी चेतना के लिए आकुल हिन्दू जनता के पास पहुँचने का उपक्रम कर रहे थे। राजनीति में भाषा पर विवाद छिड़ा था, पर धर्म-प्रचारक उससे ऊपर उठकर जनता की भाषा में ढेर-की-ढेर पुस्तकें तैयार कर रहे थे, इस तरह कि ग्रियर्सन को बड़े दुःख के साथ अपने भाषा-सर्वेक्षण की नवीं जिल्द में लिखना पड़ा—"Unfortunately the most powerful English influence has during this period been on the side of the Sanskritists. This Sanskritized Hindi has been largely used by missionaries, and translations of the Bible have been made into it."

उर्दूवालों ने हिन्दी को गुलामों की भाषा करार दिया, बिना यह सोचे कि वे भी अब नवाब नहीं रहे। १८८० में सर सैयद अहमद खाँ ने इस संकुचित दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया और उर्दू को हिन्दी से, तथा मुसलमानों को हिन्दू से अलग करते चले गये। किसी विज्ञान-समिति की बैठक में राजा शिवप्रसाद ने जब यह सुझाव दिया कि समिति की मुखपत्रिका में निबंधों और विवरणों का अनुवाद हिन्दी में भी प्रस्तुत किया जाय तो सर सैयद आपे में न रहे, और बोले—

> "इह एक ऐसी तदबीर है कि हिन्दू-मुसलमान में किसी तरह इत्तिफाक नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज हिन्दी पर मुत्तफिक़ न होंगे, और अगर हिन्दू मुस्तैद हुए और हिन्दी पर इसरार हुआ तो वोह उर्दू पर मुत्तफिक़ न होंगे, और नतीजा इसका इह होगा कि हिन्दू अलहदा और मुसलमान अलहदा हो जायेंगे।"

सर सैयद पहले मुसलान थे, जिन्होंने खान-पान, पहनने-ओढ़ने तक के क्षेत्रों में मुसलमानों की पृथक् स्थिति सिद्ध करने का प्रयत्न किया। मौलाना हाली लिखते हैं—"हिन्दू-मुसलमानों में पहले उलटे और सीधे पर्दे की तमीज थी, मगर जब से अचकन

का रेवाज हुआ, इह तमीज भी बाकी न रही। इसी सबब से सर सैयद को हमेशा इह खयाल रहा है कि हिन्दोस्ताँ के मुसलमान भी और कौमों की तरह अपने लिवास में कोई खुसूसियत और मबेहिल इम्तियाज़ पैदा करें। और इसलिए उन्होंने मुसलमानों की एक मुअज्जिज तरीन कौम, यानी तुर्कों का लिवास अव्वल खुद अख्तियार करके कौम में एक मिसाल कायम की, और फिर मोहमेडेन कॉलेज (बाद का अलीगढ़-विश्व-विद्यालय) के बोर्डरों के लिए उस कायदे के मुवाफिक, जिसपर क़ुस्तुन्तुनिया की दर्शगहों में अमलदरामद है, युनिफोर्म का कायदा जारी करने का इरादा किया।" वर्षों बाद सर सैयद के विचारों और कार्यों की आलोचना करते हुए डाक्टर अमरनाथ झा ने लिखा–"When a person dons the uniform of Constantinople in order to be distinguished from the Indians, his anxiety to maintain unity by means of a common language seems to be unconvincing." इसकी प्रतिक्रिया हिन्दू-समाज में इस प्रकार हुई कि कायस्थों, कश्मीरियों और खत्रियों ने भी, जिन्होंने पहले उर्दू का पक्ष लिया था और फारसी बोलना गौरव की बात समझते थे, अपने बच्चों को हिन्दी पढ़ाना शुरू किया और १८७० से १६०० तक हिन्दी के लिए लड़नेवालों की सबसे अगली पंक्ति में कायस्थ और खत्री ही थे।

जहाँ तक भारत की करोड़ों जनता का प्रश्न था, इस समस्या की कोई स्थिति ही नहीं थी। गाँवों और शहरों में बोली जानेवाली भाषाओं में वस्तुतः कोई भेद नहीं था। पंजाब में पंजाबी, बम्बई में मराठी या गुजराती, बंगाल में बंगाली, मद्रास में तामिल-तेलुगू, पश्चिमी उत्तरी प्रदेश में उर्दू और मध्यदेश के शेष सभी भागों में सभी लोग हिन्दी ही बोलते और समझते थे। छोटे-छोटे क्षेत्रों में भी यह भेद कहीं नहीं था। तिरहुत में, ब्राह्मण, कायस्थ और मुसलमान—सभी मैथिली ही बोलते थे, अवध में हिन्दू और मुसलमान—सभी अवधी ही बोलते थे। भाषा को संस्कृत-बहुल या फारसी-अरबी-बहुल बनाने का प्रयत्न वहाँ होता था, जहाँ दस रँगे सियार एकत्र होते थे या अंतःप्रांतीय सम्मेलन करते थे, केन्द्रीय विधान-सभाओं में बहसें करते थे या संघीय न्यायालय की बावत सोचते थे।

डाक्टर अमरनाथ झा लिखते हैं—"I devote a good deal of time to the study of Urdu; most of the leading Urdu writers of to-day are personally known to me; I have attempted critical estimates of several living Urdu poets. I have, despite this, come to the deliberate conclusion that the entire atmosphere and genius of Urdu is foreign and not Indian." प्रमाण देते हुए डा० झा लिखते हैं कि एक हिन्दू भी जो बचपन से हिन्दू पौराणिक कहानियों और

धार्मिक धारणाओं के बीच विकास पाता रहा है, उर्दू लिखने के समय प्रसंग युधिष्ठिर, भीम, सावित्री, दमयंती, कृष्णा आदि का न देकर नौशेरवाँ, हातिम, शीरीं, लैला, मजनूँ और युसुफ का ही देगा। कोई भी हिन्दू चाहे वह खाँटी फारसी ही क्यों न लिखता-बोलता रहा हो, उस 'अहले-जवान' का माहिर नहीं समझा जा सकता। दूसरा प्रमाण यह है कि उस्मानिया विश्वविद्याल से प्रकाशित उर्दू-शब्द-कोश 'फरहंगे-आसफिया' में ७०० अरबी शब्द, ६५०० फारसी शब्द, और ५०० संस्कृत शब्द हैं। उर्दू के छंद भी फारसी ही हैं, भारतीय नहीं। उर्दू में बहुवचन फारसी व्याकरण के आधार पर बनते हैं, भारतीय भाषाओं के आधार पर नहीं। दूसरी ओर, १५ वर्षों से इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बी० ए० एवं एम० ए० पाठ्यक्रम में उर्दू और हिन्दी स्वीकृत हैं। सैकड़ों हिन्दू छात्रों ने बी० ए० में और पर्याप्त संख्या में एम० ए० में उर्दू ली—"But not even one Muslim student has offered Hindi either for the B. A. or for the M. A. ......The Urdu is the special preserve of the Muslims and that is un-Indian."

सम्पूर्णानन्दजी ने कहा—"But I must sound one note of warning. What is borrowed must be necessary, and after the borrowing, assimilated. It is regrettable that those who affect what is called the Urdu style are the greatest sinners in this respect. They derive their themes, their imagery, their similes and metaphors from non-Indian sources." हिन्दीवालों ने संस्कृत शब्दों को ग्रहण किया, पर उनका प्रयोग वे हिन्दी-व्याकरण के अनुसार करते हैं। उर्दूवाले ऐसा नहीं करते। इन्होंने बहुत-से शब्द न सिर्फ अरबी-फारसी जवान से लिये हैं, बल्कि उन जवानों के व्याकरणों का भी अनुसरण किया है—वकील का बहुवचन वकला, हकीम का हुक्काम, मौलवी का मौलवियान, अमीर का उमरा। 'खुदा को शुक्र है' के बदले वे कहेंगे 'शुक्र है उस खुदा को'—"This must go. A word is either Hindustani or it is not."

हिन्दुस्तानी और उसकी रूपरेखा

परतंत्र भारत में एक भी उल्लेखनीय व्यक्ति ऐसा नहीं, जिसने इस देश के लिए किसी अंतःप्रांतीय भाषा की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी में से ही किसी एक का नाम न लिया हो। सबने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि अंग्रेजी यहाँ की राजाभाषा किसी भी परिस्थिति में नहीं रह सकती, और उसका स्थान या तो हिन्दी ले सकती है, या नहीं तो उर्दू। झगड़ा यह था कि यह राष्ट्रभाषा या राजभाषा संस्कृत-बहुल होगी या अरबी-फारसी-बहुल; या कि इसका कोई भिन्न रूप हो, इन्हीं दो में से किसी एक के आधार पर या दोनों के आधार पर।

हमारी राजनीति हिन्दू-मुस्लिम-एकता का प्रयास कर रही थी, और यह प्रयास जितना ही तीव्र होता जा रहा था, दोनों के बीच की खाई उतनी ही चौड़ी होती जा रही थी। गांधीजी मध्य में समासीन थे, और दोनों मुँहजोर तुरंगों को मिलाकर ले चलने का अथक प्रयास कर रहे थे। १६३५ में आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित किये गये और राष्ट्रभाषा पर विचार करते हुए उन्होंने प्रस्ताव में उसका नाम "हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी" स्वीकार किया। बस क्या था, उर्दू वालों में खलबली मच गयी। काँग्रेस तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण से महात्मा गांधी ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा—"This common language was called Hfndustani in Congress circles, though the Congress did not come .to any definite understanding with Urdu and Hindi speakers on the question of this name. ......So far as the Congress is concerned Hindustani is its recognized official language designed as an all India language for inter-provincial contact.

यह हिन्दुस्तानी क्या है और कैसी होगी, उसका सम्बन्ध हिन्दी और उर्दू से कैसा रहेगा, और यह किस सीमा तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर पायगी—ये कुछ ऐसे प्रश्न थे, जिनपर उस समय देशभर के राजनीतिज्ञों, भाषा-शास्त्रियों और साहित्यिकों ने विचार किया। दृष्टिकोणों की विविधता स्पष्ट परिलक्षित हुई। हम इस विचार-विमर्श को तीन प्रधान खंडों में विभक्त करेंगे—हिन्दुस्तानी-पक्ष, उर्दू-पक्ष और हिन्दी-पक्ष।

हिन्दुस्तानी-पक्ष :—हिन्दुस्तानी-पक्ष के अग्रणी नेता थे स्वयं महात्मा गांधी। उनका मत था—

(अ) That our common language shall be called Hindustani, not Hindi.

(आ) That Hindustani shall not be considered to have any peculiar association with the religious tradition of any community.

(इ) That the test of 'foreign' and 'indigenous' shall not be applied to any word, but only the test of currency.

(ई) That all words used by Hindu writers of Urdu and Muslim writers of Hindi shall be deemed current. This of course shall not apply to Urdu and Hindi as sectional languages.

(उ) That in the choice of technical terms, specially political terminology, no preference be given to Sanskrit terms as such, but as much room as possible be allowed for natural selection from among Urdu, Hindi and Sanskit terms.

(ऊ) That the Devanagari and the Arabic scripts shall both be considered current and official, and that in all institutions whose policy is directed by the official promoters of Hindustani, facilities shall be provided for learning both scripts.

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी गांधीजी की ही बातें दुहरायीं। उन्होंने माना—हिन्दी और उर्दू, एक ही हिन्दुस्तानी भाषा के दो रूप हैं—उनका आधार एक, व्याकरण एक, शब्द-कोश एक। उनका यह भी कहना था कि बेसिक अंग्रेजी की तरह लगभग हजार शब्द और बहुत संक्षिप्त व्याकरण के साथ एक बेसिक हिन्दुस्तानी भी तैयार की जा सकती है, जो साधारण व्यवहार एवं राज-कार्य में प्रयुक्त होगी। हिन्दुस्तानी देवनागरी और फारसी—दोनों ही लिपियों में लिखी जायगी और विश्वविद्यालयों में हिन्दुस्तानी और एक विदेशी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ायी जायगी। उनका विश्वास है कि यदि हिन्दी और उर्दू के लेखक अब भी दरबारी और अतिरंजित भाषा को छोड़कर जनता की सरल भाषा में, जनता के प्रश्नों के सम्बन्ध में, जनता के लिए, लिखना शुरू कर दें तो दोनों भाषाओं के बीच की दूरी समाप्त हो सकती है। डा० राजेन्द्र प्रसाद का कहना है कि हिन्दुस्तानी के विकास का तथा हिन्दी-उर्दू-संघर्ष को समाप्त कर देने का एकमात्र रास्ता यही है कि हम इसमें सभी अच्छे हिन्दी-लेखकों द्वारा प्रयुक्त फारसी और अरबी शब्द तथा सभी अच्छे उर्दू-लेखकों द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-शब्दों को शामिल कर लें। "If the words used by both become universally accepted and enter into common parlance, not only will the total stock of words be enriched, but it will also be possible to give expression to finer and more delicate shades of meaning."

उर्दू-पक्ष :—मौलवी अब्दुल हक और मियाँ बशीर अहमद का कहना है कि थोड़े परिवर्तन से ही उर्दू देश की वास्तविक राष्ट्रभाषा हो सकेगी और सारे देश में स्वीकृत भी हो सकेगी। हक साहब का तर्क है कि १८५७ तक उर्दू हिन्दू और मुसलमान—दोनों की भाषा थी और समस्त देश में समान रूप से व्यवहृत थी। १८३७ में जब उर्दू कचहरी की भाषा बनायी गयी तो विरोध का एक भी स्वर नहीं सुनायी पड़ा। विद्रोह के बाद हिन्दू-राष्ट्रीयता की जो एक नयी चेतना जाग्रत् हुई, उसने सुधार-

वादी आंदोलन के बीज बोये और पुनरुत्थानवादी भावों को प्रश्रय दिया। इसी चेतना के चलते हिन्दू अधिकाधिक संस्कृतमय होते चले गये और भाषा भी संस्कृत शब्दों से लदती चली गयी। इसी का नाम हिन्दी पड़ा। उर्दू के समर्थकों ने इसका विरोध उस समय किया भी, पर कुछ सुनवाई नहीं हुई। हक साहब ने सर सैयद का उस समय का यह कथन भी उद्धृत किया है—"But ever since some of the Hindus have taken it into their head to destroy Urdu and Persian which are the lasting symbols of Muslim rule in India, I have been convinced that now it is not possible for the Hindus and the Muslims to work together for the progress of the country and the good of the people. I can say it with confidence and from personal experience that to this can be traced the origin of Hindu-Muslim differences." यहीं से हिन्दी-उर्दू की खाई बनती चली गयी और वह मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में और भी चौड़ी हो गयी।······ उर्दू सिर्फ मुसलमानों की ही भाषा नहीं है। पुनरुत्थानवादी हिन्दू जब अपनी भाषा को संस्कृत शब्दों से लादते चले गये तब हिन्दी बनी; और जो भाषा चली आ रही थी, वह उर्दू को विरासत में प्राप्त हुई। हाँ, संस्कृत की देखा-देखी उर्दू में भी फारसी-अरबी के शब्द खूब भरती किये गये। अंत में, हक साहब ने हिन्दुस्तानी का सबसे सुन्दर आदर्श इंशा अल्ला खां की 'रानी केतकी की कहानी' को बताया—"It is understood by the Urdu-speaking as well as by the Hindi-speaking; it is current, it is clear, this is called Hindustani"—और सुझाव दिये कि "A common dictionary may be compiled which would contain all the Persian, Arabic and Urdu words which have passed into Hindi speech and Literature, and all the Sanskrit and Hindi words which Urdu has adopted. This dictionary may be placed before a representative body of Hindi and Urdu writers after whose approval it may be published as a basis for the development of a common language."

मियाँ बशीर अहमद ने यह स्वीकार किया कि उर्दू का मूलाधार संस्कृत ही है और इस प्रकार उसकी नींव में हिन्दू-तत्त्व ही हैं। हाँ, गुंबज का रूप निश्चय ही मुसलमानी है। इसलिए उर्दू दोनों प्रधान संस्कृतियों और धर्मों के सम्मिलित तत्त्व या मिलन-बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है। उन्होंने सुझाव दिया कि Hindi writers should give up their short-sighted policy of bycott of

Arabic and Persian words and use more commonly understood words and phrases."

हिन्दी-पक्ष—हिन्दी की ओर से डा० धीरेन्द्र वर्मा ने कहा कि उर्दू हिन्दी की वह बोली है, जो ईरान और अरब से सांस्कृतिक प्रेरणा प्राप्त कर अपने को फारसी और अरबी शब्दों से लादती चली आ रही है। उर्दू को जो पिछली शताब्दी में प्रमुखता प्राप्त हुई, वह भाषा के चलते नहीं; बल्कि राजनीतिक कारणों से। "It was the most convenient medium for those Hindus who lived in the Hindi speaking areas and were converted to Islam. Besides, owing to the exigencies of administration it was learnt by government officials and others who were connected with the state machinery of the time. But under the Moghal rule Urdu or Khariboli was always regarded as a foreign language by the Hindus in general. During the 19th contury, however, the Khariboli, after being shorn of its foreign vocubalary and script, was developed into modern Hindi." वर्माजी का कहना है कि अब तो उर्दू को राज्याश्रय भी प्राप्त नहीं है, इसलिए इसका भविष्य अन्धकारमय है। (उस सत्ता के बदल जाने से राजभाषा के रूप में उर्दू की अब कोई सार्थकता नहीं। उर्दू और फारसी लिपि की दृष्टि से अंग्रेजी-मिश्रित हिन्दी और रोमन लिपि का पलड़ा अपेक्षा अधिक भारी है।) हिन्दी ही वह कड़ी है, जिसके द्वारा एक ओर हम संस्कृत, पालि तथा प्राकृत में रक्षित अपनी सांस्कृतिक परंपराओं से सम्बन्ध जोड़ सकते हैं और दूसरी ओर भारत की सभी वर्त्तमान भाषाओं से भी।

निष्कर्ष यह कि राष्ट्रभाषा या राजभाषा का प्रश्न, १६३०-४० के आसपास, भाषागत समस्याओं को सामने रखकर नहीं, बल्कि राजनीतिक दृष्टिकोण को सामने रखकर सुलझाया जा रहा था। कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था थी, वह राष्ट्र, संस्कृति, जाति और धर्म की एकता पर जोर दे रही थी, इसीलिए भाषागत एकता का भी प्रश्न उठा। परतंत्रता से मुक्ति पाने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों का एक होना अनिवार्य शर्तों में से एक था और मुसलमान किसी भी शर्त पर उर्दू को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे; क्योंकि स्वयं सर सैयद के अनुसार "Urdu and Persian which are lasting symbols of Muslim rule in India." उन्होंने हिन्दुस्तानी का पक्ष इसलिए नहीं लिया कि वे एकता चाहते थे, बल्कि इसलिए कि इस नाम की आड़ में शायद उर्दू ही चालू हो जाय। हिन्दुस्तानी में जब-कभी वे एक भी सरल संस्कृत शब्द देख लेते थे कि चिहुँक पड़ते थे। फल यह हुआ कि उर्दू की मुख-पत्रिका "हमारी जवान" ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी भी दे दी—"अगर इसमें सहल उर्दू के

सिवा दूसरे अनासीर शामिल किये गये तो न सिर्फ इसका चलना मुमकिन न होगा, बल्कि जो थोड़ा-बहुत रवाज इसको मिलेगा, वोह मुल्क में और फसाद पैदा करेगा।" हिन्दुस्तानी की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि उसने कोई ऐसा ठोस रूप नहीं ग्रहण किया था कि वह भावों और विचारों के आदान-प्रदान का समर्थ माध्यम बन सके। उसके आगे न नाथ था, न पीछे पगहा। जो जिस हद तक फेंट-फाँट कर पाया, कर गया और घोषणा कर दी कि यही तो हिन्दुस्तानी है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी के इसी रूप और संघर्ष से थोड़ा खींझकर ही काका कालेलकर ने कह दिया था—"Perhaps ultimately the problem of the National language shall be solved by those whose mother-tongue is neither Hindi, nor Urdu."

ये सारे झगड़े पाकिस्तान बनने के साथ ही समाप्त हो गये। इसी से सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तानी का राजनीति से कितना गहरा सम्बन्ध था।

राजभाषा हिन्दी और राजभाषा-आयोग

उर्दू को १५ अगस्त, १९४७ के दिन पाकिस्तान मिला और इधर भारतीय संविधान ने देवनागरी में लिखित हिन्दी को राजभाषा-पद के लिए स्वीकार किया, पर बाबू गुलाबराय के शब्दों में "उसको पन्द्रह वर्ष पश्चात् तिथिवाली चेक (पोस्ट-डेटेड चेक)" मिली। उस दिन हिन्दुस्तानी के लिए एक व्यक्ति ने भी आँसू नहीं गिराये। गांधीजी उठ चुके थे, जवाहर लाल प्रधानमंत्री थे और राजेन्द्र प्रसाद उस संविधान-सभा के अध्यक्ष ही थे, जिन्होंने हिन्दी को यह मान्यता प्रदान की थी। यह १९४९ के अन्त की घटना है। उस समय तक हमारे सभी नेताओं में राष्ट्रीयता का जोश शेष था, उनकी दृष्टि अभी धूमिल नहीं हो पायी थी। राजगोपालाचार्य महोदय भारत के गवर्नर-जेनरल थे। अंग्रेजी के प्रचलन को देखते हुए यह ठीक ही निर्णय किया गया कि संविधान लागू होने के दिन से १५ वर्षों तक अंग्रेजी में सभी कार्य चलते रहेंगे। उसी में एक धारा यह भी जोड़ दी गयी कि राष्ट्रपति संविधान लागू होने के पाँचवें और दसवें वर्ष में राजाभाषा-आयोग को नियुक्त करेंगे, जो राजभाषा के क्रमशः प्रयोग एवं संवर्द्धन पर अपना विवरण प्रस्तुत करेगा। उस विवरण पर संसद्-सदस्यों की एक उपसमिति विचार करेगी, फिर संसद् के विचार के पश्चात् राष्ट्रपति जिस-जिस क्षेत्र में, जिस-जिस सीमा तक राजभाषा के प्रयोग की अनुमति देंगे, उस-उस क्षेत्र में, उस-उस सीमा तक राजभाषा का प्रयोग इस तरह क्रमशः किया जायगा कि संविधान लागू होने के १५वें वर्ष हिन्दी अंग्रेजी का स्थान पूर्णतः ग्रहण कर ले। संविधान २६ जनवरी, १९५० से लागू हुआ और राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा ७ जून, १९५५ को एक राजभाषा-आयोग नियुक्त किया गया, जिससे निम्नलिखित विषयों पर विचार माँगे गये :—

(अ) The progressive use of Hindi Language for the official purposes of the Union.

(आ) Restrictions on the use of the English language for all or any of the offiicial purposes of the Union.

(इ) The language to be used for all or any of the purposes mentioned in Article 348 of the Constitution.

(ई) The form of numerals to be used for any one or more specified purposes of the Union.

(उ) The preparation of a time schedule according to which and the manner in which Hindi may gradually replace English as the official language of the Union and as a language for communication between the Union and State governments and between one State government and another.

आयोग के सदस्य थे—(१) श्री बी० जी० खेर (अध्यक्ष), (२) डा० विरंचि-
कुमार बरुआ, अध्यक्ष, असमी-विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, (३) डा० सुनीतिकुमार
चटर्जी, अध्यक्ष, पश्चिम बंगाल विधान-परिषद्, (४) श्री मगनभाई देसाई, गुजरात
विद्यापीठ, (५) श्री डी० सी० पवते, उपकुलपति, कर्नाटक विश्वविद्यालय, (६) प्रो० बी०
एन० पुष्प, अमरसिंह कॉलेज, श्रीनगर, (७) श्री एम० के० राजा, सम्पादक 'दीनबंधु'
एर्नाकुलम्, (८) डा० पी० सुब्बारायन, सदस्य, राज-सभा (मद्रास), (९) श्री जी० पे०
नेने, राष्ट्रभाषा भवन, पूना, (१०) डा० पी० के० पारीजा, उत्कल विश्वविद्यालय, (११)
सरदार तेजसिंह, भूतपूर्व न्यायाधीश, पंजाब, (१२) श्री एम० सत्यनारायण, सदस्य,
राजसभा (मद्रास), (१३) डा० बाबूराम सक्सेना, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, (१४)
डा० आबिद हुसैन, जामिया मिलिया, दिल्ली, (१५) डा० अमरनाथ झा, अध्यक्ष,
लोकसेवा आयोग, पटना, (१६) डा० आर० पी० त्रिपाठी, उपकुलपति, सागर विश्व-
विद्यालय, (१७) श्रीबालकृष्ण शर्मा, सदस्य, लोकसभा (उत्तर-प्रदेश), (१८)
श्रीमौलिचंद्र शर्मा, दिल्ली, (१९) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी विश्वविद्यालय, (२०)
श्रीजयनारायण व्यास, जयपुर और (२१) श्रीअनंतशयनम् आयंगर, उपाध्यक्ष, लोकसभा।
२ सितम्बर, १९५५ को डा० अमरनाथ झा का शरीरांत हुआ, २५ नवम्बर
को उनकी जगह पर राष्ट्रपति ने प्रोफेसर रामधारीसिंह दिनकर, सदस्य, राजसभा
(बिहार) को नियुक्त किया। पुनः ८ मार्च, १९५६ को आयंगर साहब ने लोकसभा

के अध्यक्ष बन जाने पर आयोग से त्याग-पत्र दे दिया। आयोग की रिपोर्ट पर बीस व्यक्तियों के ही हस्ताक्षर हैं।

आयोग ने अपनी पहली बैठक १५-१६ जुलाई, १९५५ को बम्बई में बुलाई और इसमें उसने एक प्रश्नावली तैयार की, जो देश भर की सभी संस्थाओं एवं गण्य-मान्य व्यक्तियों के पास भेजी गयी। १०६४ लिखित स्मरण-पत्र आयोग को प्राप्त हुए। ३१ जुलाई, १९५६ को यह विवरण राष्ट्रपति के सुपुर्द किया गया। कुल ४६५ पन्नों की रिपोर्ट थी, जिनमें २६६ पन्नों में भारत की भाषा-समस्या के सभी रूपों पर पर्याप्त विचार करने के पश्चात् राष्ट्रपति से जो कतिपय सिफारिशें की गयीं, उनमें प्रधान ये हैं :—

(१) संविधान द्वारा स्वीकृत निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा देश की राष्ट्रभाषाओं में ही दी जा सकती है, इसलिए राज्यों में वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं को उचित स्थान मिलना चाहिए। अंतःप्रान्तीय सम्बन्धों के लिए किसी एक ही भाषा को मान्यता प्रदान करना व्यावहारिक है और उसके लिए हिन्दी इसलिए ठीक है कि वह देश के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा बोली और समझी जाती है। दो राजभाषाओं को मान्यता देना अव्यावहारिक है।

(२) राजभाषा में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में स्पष्टता, संक्षिप्तता और सरलता पर ध्यान देना वांछनीय होगा। इस क्षेत्र में भाषा-शुद्धता का नारा देना अहितकर हो सकता है। विभिन्न कला-कौशलों के क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाओं में जो पारिभाषिक शब्द बन चुके हैं और व्यवहृत हैं, उनपर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। कतिपय विषयों में अंतःराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्द भी लिये जा सकते हैं और उनका भारतीयकरण भी किया जा सकता है। प्रयत्न हो कि ये पारिभाषिक शब्द सभी राष्ट्रभाषाओं में समान रूप से ही गृहीत हों।

(३) देश के सभी माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य रूप से इस तरह लागू की जाय कि चौदह वर्ष का होते-होते प्रत्येक छात्र तीन-चार वर्ष तक हिन्दी पढ़ चुका रहे। अंग्रेजी की भी पढ़ाई हो 'ज्ञानवर्द्धन की भाषा' के रूप में, 'साहित्यिक भाषा' के रूप में नहीं, और वह भी माध्यमिक स्तर से ही। आयोग हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में किसी दूसरी भारतीय भाषा की अनिवार्य पढ़ाई को आवश्यक नहीं मानता, पर यदि ऐसी सुविधाएँ दी जायँ तो देश की भावात्मक एकता के लिए वे लाभकर सिद्ध होंगी। विश्वविद्यालय-स्तर पर स्नातकोत्तर-अध्ययन के लिए अंग्रेजी और हिन्दी, दोनों ही स्वीकृत की जायँ, पर सभी विश्वविद्यालयों में इसकी सुविधा हो कि हिन्दी के माध्यम से परीक्षार्थी सम्मिलित हो सकें।

(४) शासन-कार्यों में सभी सरकारी नियमों, आदेशों, पर्चों आदि का अनुवाद निश्चित पारिभाषिक शब्दों के साथ हिन्दी में हो, शासकीय कर्मचारियों के लिए हिन्दी का ज्ञान अपेक्षित हो और तत्सम्बन्धी सभी यांत्रिक व्यवस्था की जाय। उसके लिए एक निश्चित अवधि दी जाय और जो उस अवधि में आवश्यक ज्ञान न प्राप्त करे, उसे

दंडित करने की व्यवस्था हो। अ-हिन्दी-भाषी कर्मचारियों के लिए हिन्दी-ज्ञान का स्तर कुछ नीचा किया जा सकता है। फिर भी, एक-ब-एक अंग्रेजी का प्रचलन न रोका जाय और जहाँ वह आवश्यक हो, उसका व्यवहार चले; पर उसके साथ हिन्दी में अनुवादित प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(५) सर्वोच्च न्यायालय में सारे कार्य राजभाषा हिन्दी में ही हों, इसकी व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं में उसके आदेशों और कार्यकलापों की विश्वसनीय अनुवादित प्रतिलिपि भी तैयार की जाय।

(६) प्रतियोगिता की परीक्षाओं की भाषा वही, और उसी प्रकार की हो, जैसी कि शिक्षा के क्षेत्र में लागू की जाय। अखिलभारतीय स्तर की प्रतियोगिताओं में निश्चित सूचना के पश्चात् हिन्दी का एक अनिवार्य-पत्र लागू किया जाय। अ-हिन्दी-भाषी परीक्षार्थियों के लिए उसका स्तर नीचा रखा जाय और पहले उसमें सिर्फ पास करना ही आवश्यक माना जाय, बाद चलकर, क्रमशः उसे अन्य पत्रों के स्तर पर लाया जाय।

चटर्जी और सुब्बारायन के विरोध-बिन्दु

आयोग की उपर्युक्त सिफारिशों से तीन सदस्यों ने विरोध प्रदर्शित किये, जिनमें अग्रणी हैं विश्वविश्रुत भाषा-विज्ञान-वेत्ता डा० सुनीतिकुमार चटर्जी। इन्होंने चालीस पन्नों में अपना विरोध प्रदर्शित किया और डा० सुब्बारायन ने १६ पन्नों में। सुब्बारायन साहब के सभी विरोध और सुझाव डा० चटर्जीवाले ही हैं। अधिकांश जगहों पर तो भाषा भी एक है। इन्होंने सारे प्रश्नों को फिर नये सिरे से उठाया। इनके प्रधान विरोध-बिन्दु उन्हीं की भाषा में निम्नलिखित हैं—

1. If the recommendations are sought to be implemented from the centre, it will bring about immediate chaos in our public life as a whole. It will mean for Non-Hindi peoples the starting of a progressive imposition of Hindi in most spheres of life.

2. The recommendations will, in my opinion, bring about the immediate creation, without intending to do so, of two classes of citizens in India —Class I, citizens with Hindi as their language obtaining an immense amount of special privilges by virtue of their language only, and class—II citizens who will be suffering from permanent disabilities, by reason also of their language.

3. Whatever concern or solicitude or good will might be outwardly shown for them, the languages of

India other than Hindi, will ultimately come, as a result of these far-reaching recommendations, to have but a secondary position even in their own areas.

4. As one who has devoted over 40 years of his life to the study and teaching of Indian Linguistics and to the consideration of linguistic problems, I am definitely of opinion that the linguistic question is not at all so very urgent for India, as many persons, ardent patriots most of them, seem to think.

5. I honestly feel that I am seeing an incipient 'Hindi Imperialism', which will be all the more anti-national as Hindi has not yet acquired any pre-eminence over the other languages of India except its weight of numbers.

सुनीति बाबू ने 'हिन्दीवालों' पर Militant linguistic chauvinism का आरोप लगाया और कहा कि यदि हिन्दी लादी गयी तो भारत भाषा की दृष्टि से टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग करते हुए उन्होंने यहाँ तक कहा कि अब हिन्दीवाले हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' कहते हैं, उसका नाम बदलकर 'भारती' रखना चाहते हैं और नारा देते हैं 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्द' का, जैसे कि ये तीनों एक ही हों। हमारे सामने अंग्रेजी का अपरिमित ज्ञान-भांडार पड़ा है, कोई भी भारतीय बुद्धिवादी उसका ज्ञान क्यों न प्राप्त करेगा कि उसके जीवन को एक सुदृढ़ और सुव्यापक संबल प्राप्त हो सके। अंग्रेजी विश्व-सभ्यता की भाषा है और उसने भारतवर्ष को इस हद तक सहायता प्रदान की है कि वह राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महादेव गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी, चक्रवर्ती, राजगोपालाचार्य, भगवान दास, जवाहरलाल नेहरू और सर्वपल्ली राधाकृष्णन ऐसे विश्व-व्यक्तित्व को जन्म दे सका, जिन्होंने कि विश्व-मानवता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति की व्याख्या विश्व के सम्मुख उपस्थित की। उन्होंने कहा—"If English rule was the cloud which has placed India under a shadow, the English language was the silver lining to this cloud". इतना ही नहीं, उन्होंने एक पग और बढ़ाकर संविधान की राजभाषा-सम्बन्धी धारा के औचित्य पर ही प्रहार किया और कहा कि वह सभा देश की प्रतिनिधि सभा नहीं थी। इसलिए उन्होंने निम्नलिखित सुझाव दिये—

1. The question of the progressive use of the

Hindi language for the official purposes of the Union be kept in abeyance for the time being.

2. The restrictions on the use of the English language for all or any of the official purposes of the Union, in the interests of Indian Unity and Harmony, Efficiency in Administration and Advancement of the Indian people in Science and Technology as well as in the Humanities, similary for the time being be kept in abeyance,

3. Constitution should be amended from the point of non-Hindi area.

सुनीति बाबू—तब और अब

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे बुद्धिजीवियों, नेताओं और रहनुमाओं की दृष्टि में जो परिवर्तन आ गया है, उसका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन सुनीति बाबू जैसे लोगों के कथन और व्यवहार से प्रकट होता है। इन्होंने १९२१ ई० में ही अपने प्रबंध The origin and development of Bengali Language में लिखा था—"Hindi or Hindustani is unquestionably the most important language of India and the only speech which can be said to be really national for all India". 'भारत की भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ'-नामक अपनी पुस्तक में भी उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—"अनेक व्यक्ति अन्तर्प्रांतीय एवं राष्ट्रीय या जातीय भाषा के रूप में अंग्रेजी को ही स्वीकार करने का अनुमोदन करते हैं। किन्तु मेरा विचार है कि यह पूर्णतया संभव नहीं है।" जिस भारतीय एकता के अकस्मात् खंडित हो जाने का डर आज उनके मन में समा गया है, उसी को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने कभी हिन्दी या हिन्दुस्तानी का नाम लिया था और आज नागरिकता की जिन दो कोटियों की चर्चा को वे अपना सबसे बड़ा अनुसंधान समझते हैं, पहले देश के सभी नागरिकों, और यहाँ तक कि विदेशों को भी चर्चा करके वे हिन्दी को न केवल राष्ट्रीय रिक्थ, बल्कि अंतःराष्ट्रीय सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। आप "भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी" में लिखते हैं—"हिन्दी या हिन्दुस्तानी घरेलू भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण-पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना आदि कतिपय प्रदेशों में ही बोली जाती है, और वहाँ भी अधिकांश भागों में प्रादेशिक बोलियों और केवल शहरों में हिन्दुस्तानी बोली जाती है। परन्तु, फिर भी अपने दो रूपों—नागरी हिन्दी एवं उर्दू—में हिन्दुस्तानी बंगाल, असम, उड़ीसा, नेपाल, सिंध, गुजरात एवं महाराष्ट्र (यहाँ दक्षिणी भारत छूट गया है) को छोड़कर बाकी समस्त

भारत में (पाकिस्तान समेत) की सर्वमान्य भाषा है। गुजराती एवं मराठी बोलनेवाली जनता नागरी हिन्दी को भली-भाँति पढ़ एवं समझ ही लेती है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की हिन्दुस्तानी समझने में भी उसे कोई खास कठिनाई अनुभव नहीं होती। राजपूताना एवं मालवा की जनता ने पिछले शताब्दियों के अपने उच्च कोटि के राजस्थानी पिंगल साहित्य के रहते हुए भी नागरी हिन्दी को अपना लिया है। कुछ थोड़े-से सिक्खों एवं अन्य व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सारे पंजाबी भी हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के निवासियों ने भी हिन्दी को ही अपना लिया है। बंगाल, असम एवं उड़ीसा में भी बोलचाल की हिन्दी का एक सरल रूप सभी लोग समझते हैं। द्राविड़-भाषी दक्षिण में भी सबसे अधिक समझ ली जानेवाली भाषा हिन्दुस्तानी ही है, खास कर शहरों एवं बड़े तीर्थस्थानों में। इसके अतिरिक्त फिजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद, वेस्ट इंडीज, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रिका, मॉरिशस, मलय तथा इण्डोनेशिया में हिन्दुस्तानी-भाषियों की बस्तियाँ हैं।...बोलनेवालों एवं व्यवहार करने तथा समझनेवालों की दृष्टि से हिन्दुस्तानी का स्थान जगत् की महान् भाषाओं में तीसरा है। इस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्तानी आज के भारतीयों के लिए बहुत बड़ी रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का एक महत्तम साधन तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक रूप है। वास्तव में हिन्दी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है।" उसी पुस्तक में सुनीति बाबू ने हिन्दी को 'अत्यन्त उदार', 'युक्तियुक्त नीति का अनुसरण करनेवाली' एवं 'विश्वकोशीय स्थिति' को प्राप्त भाषा कहा है और सरलता का प्रमाण-पत्र इन शब्दों में दिया है—"बोलचाल की व्याकरण-विधि तो केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखी जा सकती है।"

पर, सबसे बड़ी बात १९५६ में सुनीति बाबू को सूझी कि The English language was the silver lining to this cloud. सिर्फ दस वर्ष पूर्व १९४६ में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कराँची-अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण करते हुए ठीक यही बात उन्होंने हिन्दी के लिए कही थी—"निखिल भारत के जीवन में हिन्दी की व्यापक प्रतिष्ठा केवल आजकल के प्रोपेगेण्डा या प्रचार का फल नहीं है, यह स्मरणातीत काल से उपलब्ध भाषा-विषयक परंपरा की देन है। हिन्दी के पीछे कम-से-कम ढाई हजार वर्षों के अंतःप्रान्तीय मेलजोल का इतिहास है। अंतःप्रान्तीय हिन्दी हमारे हिन्दू युग के पूर्वजों से ही प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण रिक्थ है।...भारत की प्रतिभू भाषा हिन्दी ही है।...इस खंड, छिन्न तथा विक्षिप्त भारत के लिए हिन्दी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संयोग-सूत्र है। काली घटा के अंतराल में, घने अंधकार में मार्ग दिखानेवाली यह एक बिजली की रेखा है। विभिन्नता रहते हुए भी समग्र भारत जड़ से एक और अखंड है। भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में इस सत्य का प्रतीक हिन्दी ही है। 'संगच्छध्वम् संवदध्वम्' आधुनिक भारत के

जीवन में इस मंत्र को सार्थक करने का साधन हिन्दी ही है। समग्र भूमंडल की तीसरी भाषा, चालीस करोड़ मानवों की, विश्व की मानव-संतान के पंचमांश की होनहार राष्ट्रभाषा (१९५६ में हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहने में चटर्जी साहब को आपत्ति है) ऋषिप्रोक्त और निषाद-द्रविड़-किरात-आर्य की मिलित चेष्टा के फलस्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृतिवाहिनी संस्कृत भाषा से संग्रथित, आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा, जिसके गले में अरब और ईरान के शब्द-भांडारों से लिये हुए मणिहार हमने लटकाये हैं, और जिसकी शक्ति और सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है, ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम ईश्वर की स्तुति करें।"

आयोग के अध्यक्ष श्री बी० जी० खेर को सुनीति बाबू के विरोध-बिन्दुओं और उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा से इतना कष्ट पहुँचा कि रिपोर्ट के साथ राष्ट्रपति के पास भेजे गये अपने पत्र में यह लिखे बिना वे नहीं रह सके कि "So far as the notes of Dr. S. K. Chatterji and Dr. Subbarayan are concerned, I deeply regret that they should have thought fit, in spite of my request, to retain certain unfortunate remarks and expressions in their notes. The reference to the creation of 'two classes of citizens' in India, the allegation of 'Hindi Imperialism', the denigration of the Hindi language and its 'cultural value and intellectual tradition' are most unfortunate." डा० सुब्बारायन के इस कथन का कि आयोग की रिपोर्ट में अहिन्दी-भाषियों की समझ, संभावना और सहानुभूति का बहुत थोड़ा खयाल किया गया है, खेर साहब ने यह कहकर खंडन किया कि अपने को उनका एकमात्र संविदाकार समझ लेना गलत है।

प्रतिक्रिया और समस्त हिन्दी-विरोधी तत्त्वों का संगठन

रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही समस्त देश में और विशेष कर बंगाली, मद्रासी तथा ऐंग्लो-इण्डियन क्षेत्रों में भयंकर प्रतिक्रियावादी कार्रवाइयों को प्रश्रय दिया गया और संसद् तथा समाचार-पत्रों में जो कुछ भी नहीं कहा जाना चाहिए था, वह सब-कुछ कह डाला गया। ऐसी आशंका उत्पन्न हो गयी कि कहीं पुनः देश का बँटवारा न हो जाय। देश के बंगाली, मद्रासी और ऐंग्लो-इण्डियन नौकरशाहियों ने आयोग की नियुक्ति का ऐसा समय निश्चित किया था कि सारा देश अपनी-अपनी भाषा के सम्बन्ध में अनावश्यक रूप से सर्वाधिक सचेष्ट बन गया था। १९५३ में भाषा के आधार पर राज्य-निर्माण के निमित्त राज्य-पुनः-संघटन-आयोग की नियुक्ति की गयी थी, जिसके सदस्यों ने देश भर का दौरा किया था और अपनी आँखों भाषा-सम्बन्धी दंगे देखे थे।

भाषा को लेकर 'तू-तू, मैं-मैं' का बाजार ठंडा भी नहीं पड़ा था कि राजभाषा-आयोग की नियुक्ति की घोषणा कर डाली गयी। अंग्रेजी के बल पर ही हजार-हजार पानेवाले सरकारी नौकरों की चाल चल गयी, और सुनीति बाबू तथा डा० सुब्बारायन ने उनका प्रतिनिधित्व बड़ी शान से निवाहा। 'शिक्षा का माध्यम'-शीर्षक निबंध में हम देख चुके हैं कि देश पर अंग्रेजी थोपने के पीछे बंगाल और मद्रास का कितना बड़ा हाथ रहा है। इसी अंग्रेजी के बल पर बंगाल और मद्रास अपने को घोर बुद्धिजीवी, भारतीय संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान का एकमात्र ठीकेदार समझने का दंभ करने लग गये और अंग्रेजी-राज में यहाँ के निवासी कर्मचारियों के रूप में समस्त देश में फैल गये। अंग्रेजी उनकी रोजी है, रोटी है, गौरव-गरिमा है और अपने ही देशवासियों के बीच उनकी श्रेष्ठंमन्यता का एकमात्र आधार है। इसलिए, राजभाषा के रूप में अब हिन्दी-अंग्रेजी का संघर्ष मात्र दो भाषाओं का संघर्ष नहीं, बल्कि भारतीय प्रजातंत्र और बंगाली-मद्रासी-ऐंग्लोइरिडयन रोटी के बीच का संघर्ष बन गया है। हम देख चुके हैं कि मुसलमान धर्म के विषय में कितने कट्टर हैं, नौकरी के मामले में ठीक उतने ही कट्टर हमारे बंगाली, मद्रासी और ऐंग्लो-इरिडयन भाई हैं। इसलिए, हिन्दी के विरुद्ध तीव्रतम प्रतिक्रिया इन्हीं के बीच प्रकट हुई। नीचे उनमें कतिपय प्रतिक्रियाओं का उल्लेख किया जाता है—

बंगाली प्रतिक्रिया :—२६ और २७ दिसम्बर १९५७, को बंगाली लेखकों का एक सम्मेलन कलकत्ते में हुआ, जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए। (अ) आयोग की सिफारिशें हिन्दी को छोड़ अन्य सभी भारतीय भाषाओं के लिए हानिकारक सिद्ध होंगी, इसलिए उन्हें कभी स्वीकार न किया जाय, (आ) **अंग्रेजी को भी भारत की एक राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाय,** (इ) पश्चिम बंगाल के सभी माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा रोक दी जाय (ई) अंतःप्रांतीय पत्राचार आदि में अंग्रेजी का ही व्यवहार हो और (उ) पश्चिम बंगाल सरकार बँगला को अविलंब राज्य-भाषा घोषित करे तथा १९६१ के रवीन्द्र-शती-समारोह तक सभी क्षेत्रों में उसके समुचित प्रयोग की व्यवस्था करे। इस सम्मेलन में भाषण करते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार श्रीताराशंकर बनर्जी ने कहा—"It is a life and death problem for the whole of India, not of Bengal alone." लगभग उसी समय पश्चिम बंगाल-विधान-सभा में भी इसपर बहस हुई, और स्वयं मुख्यमंत्री डा० विधानचन्द्र राय ने भावावेश में काँपते हुए कहा था—"The Offical Language Commission has been obsessed by the idea that its duty was to make a special plea for Hindi and thereby, indirectly force non-Hindi-speaking States to conform to that particalar point of view." राजस्वमंत्री श्रीविमलचन्द्र सिन्हा ने कहा कि हमारी शासन-प्रणाली अंग्रेजी ढर्रे पर है, हम

ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य हैं। जब हम इनमें लज्जा का अनुभव नहीं करते तो "Why should it be a national humiliation if English contined to be the official language?" आगे चलकर उन्होंने यहाँ तक कह डाला—"Imposition of Hindi would cause harm to West Bengal culturally." (स्टेट्समैन, २७ और २८ दिसम्बर, १९५७)

मद्रासी प्रतिक्रिया :—मद्रासी प्रतिक्रिया तो और भी विकट रूप से प्रकट हुई, इसलिए कि उसका सूत्र-संचालन राजगोपालाचार्य-ऐसे 'विचक्षण कूटनीतिज्ञ' कर रहे थे। राष्ट्रभाषा और राजभाषा के सम्बन्ध में इनके विचार कभी एक नहीं रहे, वे समय-समय पर बदलते रहे हैं; और इस परिवर्तन का वास्तविक कारण कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। अगस्त ४, १९५६ को प्रकाशित अपने एक निबंध में उन्होंने राष्ट्रभाषा और राजभाषा के भेद को स्पष्ट करते हुए स्वीकार किया था कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन होने के योग्य है; क्योंकि यह 'vast majority' की भाषा है। पुनः अक्टूबर २७, १९५६ को प्रकाशित अपने दूसरे निबंध में उन्होंने स्पष्टतः घोषणा की थी कि यद्यपि कुछ समय लगेगा, पर राष्ट्रभाषा हिन्दी ही एक दिन "the one and only official language" बनेगी। उन्होंने सरकार से यह भी निवेदन किया था कि वह शिक्षाक्रम में ईमानदारी से हिन्दी के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था करे। पर १९५७ से ही उनके दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन आया। सितम्बर १४, १९५७ के अपने एक निबंध में उन्होंने कहा–"There can be no better solution than having Hindi and English together as the official languages of the Union." जनवरी ३, १९५८ के अपने एक निबंध में वे खुलकर आये और हिन्दी के प्रति मद्रासियों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"We have no fears that Tamil, its vogue or its progress, can at all be affected by Hindi. What we fear is that the Tamil people, not the language or the literature, will be affected, and affected very badly. They will be deprived of the assistance of their educated classes. The Union Government's work cannot be conducted efficiently, justly, or with full advertence to the requirements of all the States and their people, if Hindi displaces English in the offices of the Union administration." (हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, ३ जनवरी, १९५८) पुनः सितम्बर १२, १९५६ के एक निबंध में उन्होंने सरकार से माँग की कि वह किसी 'नयी' राजभाषा के सम्बन्ध में सोचना-विचारना तक छोड़ दे और निःसंदिग्ध रूप से यह स्वीकार करे "that English must continue to function as it

has done these hundred and fifty years." अगस्त २०, १६६० को एक पग और आगे बढ़कर उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी—दोनों को एक साथ राजभाषा मानने तक से इन्कार करते हुए कहा–"English should continue as the sole medium." (The question of English, Bhartan Publications, Madras)

दिसम्बर, १६५७ में मद्रास में "Union Language Convention of South India" का अधिवेशन डा० सी० पी० रामस्वामी अय्यर के सभापतित्व में आयोजित किया गया। इसमें राजगोपालाचार्यजी का इस आशय का प्रस्ताव एकमत से स्वीकृत किया गया कि अंग्रेजी राजभाषा बनी रहे और संविधान में तदनुकूल संशोधन किया जाय। ३१ दिसम्बर, १६५७ को महाबलीपुरम् में आंध्र, मद्रास और मैसूर राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने सम्मिलित रूप से विचार किया और यह विज्ञप्ति प्रकाशित की—"The discontinuance of the use of English as the official language of the Indian Union by 1965, is impracticable." इसमें नेतृत्व मद्रास ने ही किया था; क्योंकि ३ जनवरी, १६५८ को ही मद्रास के तत्कालीन शिक्षामंत्री ने केन्द्रीय सरकार के पास १४ पन्नों का स्मृति-पत्र प्रेषित करते हुए राजभाषा-आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार कर दिया और अधिक-से-अधिक "Simultaneous use of English and Hindi as official languages for a prolonged period." मानने की इच्छा प्रकट की।

ऐंग्लो इण्डियन-प्रतिक्रिया—इस प्रतिक्रिया के मुख्य कर्णधार संसद्-सदस्य श्री फ्रैंक ऐन्थोनी हैं, जिन्होंने जनवरी ३०, १६५८ को भाषण करते हुए कहा—"For threefourths of the people of India who constitute the non-Hindi speaking people, Hindi is more a foreign language than English.", और अंग्रेजी की महत्ता न केवल हमारे राजनीतिक क्षेत्र में, बल्कि भावनात्मक क्षेत्र में ऐसी है कि "The replacement of English would create an emotional vacuum that Hindi would never be able to fill up." अन्त में इनके भीतर की भी बात वही सिद्ध हुई, जो कि बंगाली और मद्रासी प्रतिक्रिया में बाद चलकर प्रकट हुई थी। उन्होंने आगाह करते हुए कहा—"If Hindi is introduced as the medium for All India Services immediately all semblance of services will disappear." और, यदि सर्वोच्च तथा प्रधान न्यायालयों में अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी लागू की गयी तो "It will lead not only to legal disintegration but to chaos."

हिन्दी-विरोधी सम्मेलन

मद्रास के भाषा-सम्मेलन के बाद ही कलकत्ते में भी एक ऐसा ही सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसका प्रधान उद्देश्य हिन्दी का विरोध करना था। सनक की एक ऐसी तीव्र लहर इन दोनों प्रदेशों में काम करने लगी थी कि लगता था, देश अनेकानेक टुकड़ों में विभक्त हो जायगा। अंग्रेजी की जिन शक्तियों का पता बड़े-से-बड़े अंग्रेज लेखकों और राजनीतिज्ञों को अबतक नहीं लगा था, उनका आविष्कार करने में नोबेल-विजेता रमण और रवीन्द्र के वंशज पिल पड़े, और जो निष्कर्ष उन्होंने उपस्थित किये, उनपर शेक्सपियर और मैकॉले की आत्मा भी खिलखिलाकर हँस पड़ी होगी। उनके भाषणों के ये पाँच प्रधान विचार-बिन्दु रहे—(१) हिन्दी अ-हिन्दी-भाषियोंपर बलात् लादी जा रही है; (२) हिन्दी के माध्यम से उत्तर दक्षिण भारत पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है, (३) इसलिए कि प्रादेशिक भाषाएँ अपने-अपने क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सभी प्रकार से समर्थ हैं, उनपर कोई भी विदेशी भाषा (यानी हिन्दी, अंग्रेजी नहीं) लादना एकदम अनर्गल सिद्ध होगा, (४) हिन्दी अभी इतनी समर्थ नहीं है कि वह हमारी राजभाषा की सभी अनिवार्यताओं को पूर्ण करने में सफल हो सकेगी और (५) हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है। मद्रास-सम्मेलन में जहाँ कि राजाजी ने कहा था—"adoption of Hindi would be suicidal", वहाँ कलकत्ता-सम्मेलन में बुद्धदेव वसु ने कहा–"Retain English for the work of the central govt." उन्होंने अपने श्रोताओं से यहाँ तक कहा कि अंग्रेजी भी भारत की ही भाषा है। मुल्कराज आनन्द महोदय ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा—"It seems that English also has taken roots into the life of the people and the intellectual make-up of the Indian people has also been largely moulded by the English language and it will be sad show of chauvinism for them to forget it." १६-२० जुलाई, १६५८ को हैदराबाद में "राजाभाषा-सम्मेलन" आयोजित किया गया, जिसमें राजाजी ने भाषण करते हुए कहा कि "The move for making Hindi the official language of India is a movement of the uneducated to govern the country." इस तर्क का उत्तर देते हुए कि अंग्रेजी के जाननेवाले भारत में केवल एक प्रतिशत हैं और हिन्दी के बोलनेवाले ४२ प्रतिशत हैं, राजाजी ने अपनी स्वाभाविक शैली में कहा—"The quality of the one per cent, knowing the English language far excelled that of the forty-two per cent of the uneducated who speak Hindi." इससे भी आगे बढ़कर राजाजी ने हिन्दी को "मुगल-भाषा" की संज्ञा दी और घोषणा की कि "If English is lost and the Moghul language

is introduced, the people will go back to the Moghul days.

अंग्रेजी के पक्ष में दिये गये राजाजी, मुल्कराज आनन्द और बुद्धदेव वसु आदि के भाषणों के उत्तर में किसी भी हिन्दी-भाषा-भाषी ने कुछ नहीं कहा, और यदि कुछ कहा तो उसकी भाषा उन गुणों के सर्वथा योग्य थी, जिनका अभाव हिन्दी में बताया जाता था। मेरी समझ से इन महानुभावों के तर्कों का समुचित उत्तर कलकत्ते के ऐंग्लो-इण्डियन अंग्रेजी दैनिक "स्टेट्समैन" ने अपने २२ फरवरी, १९५८ के अंक में एक समाचार प्रकाशित कर दे दिया था, जिसमें कटक के न्यायाधीश जस्टिस पी० वी० बालकृष्णराव ने एक फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट को यह सुझाव दिया था कि निर्णय लिखने के समय वे अपने सामने अंग्रेजी-कोश रखना न भूलें। मजिस्ट्रेट के निर्णय में सैकड़ों वर्तनी-सम्बन्धी अशुद्धियाँ थीं। मजिस्ट्रेट साहब निश्चय ही हिन्दी-भाषा-भाषी नहीं थे। सुझाव की भाषा इस प्रकार है—"The learned magistrate, to say the least, has completely mutilated the English language. The judgment is full of spelling mistakes. It would be better if the magistrate at the time af writing judgments used a dictionary" (स्टेट्समैन, कलकत्ता—२२ फरवरी, १९५८, डाक-संस्करण)

विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग और कुंजरू की अंग्रेजी-समिति

१९५७ के अन्तिम मास के अन्तिम सप्ताह में विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के तत्त्वावधान में संगठित उस अंग्रेजी-समिति के सुझाव प्रकाशित हुए, जिसकी अध्यक्षता डाक्टर कुंजरू ने की थी। इस समिति का संगठन आयोग की ओर से इस उद्देश्य से किया गया था कि समिति शिक्षा के माध्यम की समस्या के सभी पहलुओं पर विचार करे और उन उपायों की सिफारिश करे, जिनसे भारतीय विश्वविद्यालय के छात्रों में अंग्रेजी की समुचित योग्यता बनी रहे। डा० सिद्धांत, प्रो० अयप्पन पिल्ले और श्री सैमुअल मथाई आदि सज्जन इसके सदस्य थे। समिति ने सुझाव दिया कि अंग्रेजी से भारतीय भाषाओं में शिक्षा के माध्यम-सम्बन्धी जो भी परिवर्तन हों, उनमें शीघ्रता नहीं की जानी चाहिये, और यदि शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन हो भी तो विश्वविद्यालय के सभी छात्रों के लिए अंग्रेजी का पठन-पाठन चालू रहना चाहिये। इसके लिए माध्यमिक स्तर पर ही अंग्रेजी-ज्ञान की समुचित नींव रखने की व्यवस्था की जाय, जिससे विश्वविद्यालयों में प्रवेश के समय उनका अंग्रेजी-ज्ञान काफी परिपक्व रहे। समिति की इन सिफारिशों को स्वीकार करते हुए आयोग ने जो मन्तव्य दिये, उनका सारांश इस प्रकार है :—

(१) प्राथमिक स्तर से ही अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये, जो कि कम से-कम छह वर्षों तक चले। मद्रास में अभी जो सात वर्षों के अंग्रेजी पठन-पाठन की व्यवस्था है, वह ठीक है और सभी राज्यों को उसका अनुसरण करना चाहिये।

(२) आयोग समिति के इस सुझाव को उचित और समयानुकूल मानता है कि देश के सभी विश्वविद्यालय हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने को तैयार नहीं। कई राज्यों ने स्पष्टरूपेण घोषणा की है कि यदि उन्हें अंग्रेजी छोड़कर कोई और माध्यम ग्रहण करना पड़ेगा तो वे अपनी प्रादेशिक भाषाओं को ही ग्रहण करेंगे। ऐसी परिस्थिति में समिति का यह सुझाव ही ग्राह्य हो सकता है कि हमें तत्काल परिवर्तन के सम्बन्ध में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये।

(३) आयोग समिति के इस सुझाव को भी महत्त्वपूर्ण मानता है कि अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन तथा प्रादेशिक भाषाओं या हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। बल्कि सत्य तो यह है कि अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन से मातृभाषाओं के समुचित अध्ययन-अध्यापन में भरपूर सहायता मिलेगी—"By providing a wide linguistic awareness and an opportunity for a more critical understanding of the mother-tongue."

मद्रास, मैसूर और आंध्र के मुख्यमंत्रियों का सुझाव

१९५८ की पहली जनवरी को महाबलीपुरम् में जुटे मद्रास, मैसूर और आंध्र के मुख्यमंत्रियों का यह संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ कि "the discontinuance of the use of English as the official language of the Indinan Union by 1965, is impracticable." इस सम्मेलन में केरल के तत्कालीन कम्युनिस्ट मुख्यमंत्री श्रीनम्बूदरीपाद को भी आमंत्रित किया गया था, पर वे मतभेद रखने के कारण सम्मिलित नहीं हो सके। यद्यपि मुख्यमंत्रियों ने संविधान की इस धारा से सहमति प्रकट की कि अन्ततः हिन्दी ही भारत की राजभाषा होगी, पर उन्होंने यह अनुभव किया है कि हिन्दी अभी इस योग्य नहीं हो पायी है कि १९६५ से वही एकमात्र राजभाषा के दायित्व का वहन कर सके। इसके एक दिन बाद ही मद्रास-सरकार ने केन्द्र के पास एक स्मरण-पत्र प्रेषित किया, जिसमें उसने दृढ़ता से घोषणा की कि राजभाषा-आयोग की कतिपय सिफारिशों से उनकी सहमति हो ही नहीं सकती। इस स्मरण-पत्र का स्पष्टीकरण करते हुए तत्कालीन मद्रासी शिक्षा-मंत्री श्रीसुब्रह्मण्यम् ने कहा कि हम अनिश्चित काल के लिए अंग्रेजी और हिन्दी—दोनों के व्यवहार की माँग करते हैं। यह समस्या तत्काल तो सुलझ जाती है, यदि हिन्दी अपने को योग्य सिद्ध कर सकी तो भविष्य की सन्तान तदनुकूल निर्णय करेगी।

दो उपकुलपतियों की आलोचना

कुंजरू-समिति के सुझावों की आलोचना करते हुए गुजरात-विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्रीमगनभाई देसाई ने कहा—"It demonstrated an attitude of passivity and inaction which in essence meant postponement for an indefinite period of the switch over to any

Indian language as medium of instruction." और मद्रास-सरकार के सुझावों की आलोचना करते हुए दिल्ली-विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव ने कहा—"The demand for the retention of English as the official language in India is most humiliating to a nation which is more than five thousand years old."

१६ जनवरी, १६५८ को प्राग्ज्योतिषपुर में होनेवाले कांग्रेस के तिरसठवें अधिवेशन में बड़े विस्तार से भारत की राजभाषा-समस्या पर विचार किया गया। उसी दिन अपने संपादकीय में कलकत्ते के अमृतबाजार पत्रिका ने "Issues before Congress" शीर्षक से लिखा था—"The only sensible course before the Congress is to put the language issue into cold storage......the constitution has been amended so many times and can, if necessary, be amended again." अ-हिन्दी-भाषी राज्यों, विशेष कर बंगाली और मद्रासी नेताओं का यही मत था और वे इसी उद्देश्य से उक्त अधिवेशन में आये थे कि या तो उनकी बात मान ली जाय अन्यथा देश टुकड़ों में बँट जाने को तैयार हो जाय। अधिवेशन में भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत करनेवाले थे श्री संजीव रेड्डी, आंध्र के मुख्य मंत्री। मैसूर के श्रीहनुमन्थैय्या ने ही दस संशोधन उपस्थित किये, जिनमें प्रधान थे—अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए राजभाषा के रूप में जारी रखा जाय और हिन्दी अहिन्दी-भाषियों की सहमति से ही जब कभी लागू की जाय। मद्रास के शिक्षामंत्री ने भी भाषण किया और स्पष्टतः अपने उस मूल भय को व्यक्त किया—"It should be the privilege of people of all States to participate in the central administration, but it will be difficult for the non-Hindi-speaking people to do so." बंगाल के श्रीविजयसिंह नाहर ने बड़े जोश के साथ घोषणा की—"If the Congress does not clarify the position about the time-limit for the implementation of the costitutional provision in this respect, the opposition will be presented...... and at the end of it the government will have to concede the demand for continuing English beyond the present dead-line.

फलतः इस अधिवेशन में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि "Provision may be made for use of English after the fixed period (1965)."

एक ऐतिहासिक सम्मेलन

कांग्रेस के इस प्रस्ताव और प्रधान मंत्री नेहरू द्वारा लोक-सभा में की गयी इस स्पष्ट घोषणा के बाद कि अंग्रेजी १९६५ के बाद भी राजभाषा बनी रहेगी और हिन्दी तबतक 'थोपी' नहीं जायगी जबतक कि अहिन्दी-भाषी 'स्वयं' वैसा न चाहें—हिन्दी के पक्षपातियों के सामने हिन्दी की सुरक्षा का प्रश्न उपस्थित हो गया। यों तो छिटपुट प्रयत्न और प्रस्ताव स्थान-स्थान पर पारित होते रहे, पर १९६२ में ११-१२ अगस्त को दिल्ली में "एक ऐतिहासिक सम्मेलन" हुआ, जिसमें "देश भर के साहित्यकारों और भाषाविदों ने राजधानी में एकत्र होकर अंग्रेजी को अधिक दिनों तक भारत की राजभाषा बनाए रखने के सरकारी प्रयत्न के विरुद्ध एक स्वर से सिंहनाद किया और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र के कोने-कोने में संगठित धर्मयुद्ध छेड़ने की घोषणा की।"......अंग्रेजों की दासता केवल राजनीतिक दासता थी, किन्तु अंग्रेजी की दासता सांस्कृतिक दासता है, जो राष्ट्र के अस्तित्व को ही मिटाती चली जा रही है। लेकिन हम अपना अस्तित्व मिटने नहीं देंगे। किसमें है वह बूता, जो हमारे अस्तित्व को मिटा सके?—यह थी वह भावना, जो हिन्दी ही नहीं, बल्कि मराठी, गुजराती, बंगला, असमी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम आदि अनेक भाषाओं के प्रतिनिधियों ने एक के बाद एक, बड़ी निर्भीकता और दृढ़ता के साथ व्यक्त की। इतना ही नहीं, एक-दो को छोड़कर प्रायः सभी प्रतिनिधि उस भाषा में बोले, जिसे वे सच्चे हृदय से अपने राष्ट्र की भाषा समझते हैं।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २६ अगस्त, १९६२)

इस सम्मेलन ने एक स्वर से यह माँग की कि "यदि देश की भावात्मक एकता को बनाए रखना है तो सबसे पहले अंग्रेजी को राजभाषा के पद से हटाना होगा।" साप्ताहिक हिन्दुस्तान के संपादक महोदय ने संपादकीय में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—"क्या ये शब्द नेहरूजी तक पहुँचे नहीं होंगे?" किन्तु भोले संपादकजी महोदय! आपको ज्ञात नहीं कि दुनिया के इस सबसे बड़े प्रजातंत्र का प्रधान मंत्री एक ऐसा व्यक्ति है, जो यहाँ की भाषा नहीं के बराबर जानता है और यहाँ की किसी भी भाषा में कोई भी काम नहीं करता।

सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए मराठी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार मामा बरेरकर ने सारे देश का आह्वान करते हुए कहा—"सारे देशवासियों ने निश्चय और संकल्प करके इस देश से अंग्रेजों को भगाया, उसी निश्चय और संकल्प के साथ आज हमें अंग्रेजी को भगाना होगा। इस कार्य में हम किसी भी प्रकार पीछे हटने या समझौता करने को तैयार नहीं हैं। यह तो राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है।" सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए आचार्य काका कालेलकर ने कहा कि "अंग्रेजी का महत्त्व चाहे कितना भी हो, परन्तु अपने राज में यदि प्रजा का तनिक भी महत्त्व है तो राज-काज का सारा काम प्रजा की भाषा में चलना चाहिए।" वयोवृद्ध नेता श्रीमाधव श्रीहरि अणे

ने कहा कि "अंग्रेजी को सहभाषा बनाने का प्रस्तावित विधेयक हिन्दी के विरुद्ध षड्यंत्र है। यह उनलोगों का षड्यंत्र है, जो अंग्रेजी को हमेशा-हमेशा के लिए बनाए रखना चाहते हैं। उनका नारा है—"इंगलिश ऐवर, हिन्दी नेवर।" तमिल के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रिंसिपल पी० महादेवन् ने कहा—"गत डेढ़ सौ वर्षों से हमारी शिक्षा-पद्धति विक्षिप्त आदर्शों, भ्रमित उद्देश्यों और घोर विफलताओं का ताना-बाना मात्र रही है।" आंध्र के प्रतिनिधि 'तेलुगु'-पत्र 'जागृति' के सम्पादक श्री टी० लक्ष्मीनारायण ने कहा—"हिन्दी किसी एक विशेष क्षेत्र की भाषा नहीं है, हिन्दी राष्ट्रभाषा है और वह प्रत्येक भारतवासी की भाषा है। (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २ सितंबर, १९६२)

अंग्रेजी के पक्षपापियो, लो, अंग्रेजी बनी रही

ये सारे भाषण और प्रस्ताव ठीक ही पंडित नेहरू तक नहीं पहुँचे। १९६३ के अप्रैल मास में गृह-मंत्री श्रीलालबहादुर शास्त्री द्वारा उपस्थित यह विधेयक पारित कर दिया गया कि १९६५ के बाद भी अंग्रेजी सखी-भाषा के रूप में राजभाषा बनी रह सकती है। राज्य-सभा में राजभाषा-सम्बन्धी विधेयक के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक कविता पढ़ी, जिसकी पहली पंक्ति थी—"अंग्रेजी के पक्षपापियो, लो अंग्रेजी बनी रही।" इसमें कुछ और पंक्तियाँ हैं, जो हमें सोचने को बाध्य करती हैं—

"अवश आज हम हिन्दी-भाषी न दें देव को भी क्या दोष।
—क्या स्वदेश का ऐक्य हमीं पर, नहीं आपपर कुछ दायित्व ?
—लोकतंत्र वह क्या, नगण्य हों जहाँ बीस-बाईस करोड़ ?
—व्यापक हुई हमारी हिन्दी तो क्यों उसपर यों आक्रोश ?
—शासन करें आप थोड़े-से हम बहुतों पर जी भर के।
—कैसे हम स्वाधीन हो गये, स्वयं हमीं को विस्मय है।
—निज विधि पूरी करवाने में शासन करता नहीं प्रमाद,
एकमात्र हिन्दी ही उसका सिद्ध हो रही है अपवाद।
—स्वयं विधान बनाकर, उससे मुकर जायँ हम हा भगवान् !
—ऐसे में चुप रहते कैसे, ऐन्थोनी-से वीर विशाल,
मिली ओढ़ने को उनको ही ब्रिटिश सिंह की सूखी खाल।
हिन्दी को भय नहीं किसी का, मैंने अपनी व्यथा कही,
मैं मत देने में स्वतंत्र हूँ, मुझे एक संतोष यही।

सेठ गोविंदास ही एकमात्र ऐसे कांग्रेसी सदस्य थे, जिन्होंने राजभाषा-विधेयक के विपक्ष में अपना मत दिया।

निष्कर्ष

राजभाषा-सम्बन्धी इस लम्बे विवाद के इतिवृत्त से जो कतिपय तथ्य स्पष्ट होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) हिन्दी ने कभी, किसी से, उसे राजभाषा का गौरव देने का आग्रह नहीं किया। यह तो भारत के दूरदर्शी बुद्धिजीवियों और राष्ट्रप्रेमियों का जाग्रत् वर्ग था, जिसने सैकड़ों वर्षों से यह अनुभव किया था कि हिन्दी ही भारत की राजभाषा होने के योग्य है। जिन लोगों ने संविधान में इसे राजभाषा के पद पर समासीन किया था, वे सभी हिन्दी के साहित्यकार और हिन्दी-भाषा-भाषी नहीं थे।

(२) हिन्दी को समाप्त कर देने का यह पहला षड्यंत्र नहीं था। इसके पूर्व भी कई षड्यंत्र हो चुके हैं। फिर भी हिन्दी जीवित है, और इतने प्रबल विरोधों के बावजूद शक्ति अर्जित करती चली जा रही है।

(३) अचानक विगत दस वर्षों के अन्दर राष्ट्र के उन्हीं कर्णधारों को यह अनुभव होने लगा कि हिन्दी देश पर उसकी मर्जी के प्रतिकूल 'थोपी' जा रही है और यह कि हिन्दी में अभी उचित क्षमता नहीं आयी है; वह एक दुर्बल भाषा है, और शायद प्रतिगामी भी। प्रकारांतर से ये नेता हिन्दी के उस सामर्थ्य का उद्घोष कर रहे हैं, जिसके चलते वह क्रमशः शक्ति अर्जित करती चली जा रही है। वे जानते हैं कि व्यवहार में आने के साथ ही यह स्वभावतः, सहज ही देश भर पर छा जायगी, इसलिए किसी भी प्रकार से वह व्यवहार में न आये—इसीलिए ये सारे प्रयत्न चल रहे हैं।

(४) हिन्दी के सबसे बड़े विरोधी वे चन्द सरकारी नौकर हैं, जो जिन्दगी भर अंग्रेजी शब्दों के हिज्जे रटते रहे हैं और अब इस अवस्था में जबकि अंग्रेजी उन्हें पूरी तरह निचोड़ चुकी है, उनमें इतना साहस नहीं है कि किसी भी दूसरी भाषा में, चाहे वह उनकी मातृभाषा ही क्यों न हो, वे नये सिरे से काम का प्रारम्भ कर हैट-कोट-नेकटाई झाड़ते रह सकें।

(५) हिन्दीवालों ने अपनी अपरिसीम सहन-शक्ति का परिचय दिया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार—"शपथपूर्वक यह कहा जा सकता है कि आजतक एक भी हिन्दी-भाषी ने यह नहीं कहा कि किसी भी प्रादेशिक भाषा को अपने स्थान से हटाकर हिन्दी को रखा जाय।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २६ अगस्त, १९६२) और डा० नगेन्द्र के अनुसार—"जिनकी वह मातृभाषा है, उनके मन में सहज ही यह भाव आता है कि हमने तो किसी से इसे राजभाषा का गौरव देने का आग्रह नहीं किया था। जैसी भी अच्छी या बुरी यह थी, हम इसके माध्यम से अपने सुख-दुख, राग-विराग, आशा-आकांक्षाओं को व्यक्त करते आ रहे थे।......जिन्होंने पहले हिन्दी के लिए राजकीय सम्मान की भीख नहीं माँगी थी, स्वभावतः वे इसके लिए भी तैयार नहीं हैं कि उनकी मातृभाषा का अकारण ही अपमान किया जाय।...हिन्दी देश पर उसकी

मर्जी के खिलाफ लादी नहीं जा सकती, मानों बीस करोड़ हिन्दी-जनता देश का अंग नहीं है, जिसकी मर्जी के खिलाफ देश पर अंग्रेजी लादी जा रही है। हिन्दी में उचित क्षमता का अभाव है—जैसे कि सभी राजकीय कार्यों में उसका परीक्षण किया जा चुका है और वह अक्षम सिद्ध हो चुकी है।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ जून १९६३)

(६) और, अन्तिम निष्कर्ष यह है कि यदि हम आदर्शवादी बने रहे, तो दूसरों को आगे भी इसका पूरा अधिकार होगा कि वे हमपर और अन्याय करते रहें। हम हिन्दीवालों को अभी और भी बुरे दिन देखने के लिए तैयार रहना है---राष्ट्र की स्वतंत्रता, एकता और समृद्धि के नाम पर। विदेशी आक्रमणों से, विदेशी भाषाओं से और विदेशी संस्कृतियों से हम ही सबसे अधिक आक्रांत रहे हैं—इतिहास साक्षी है, सबसे अधिक दुःख और कष्ट भोगकर हमने अपने व्यक्तित्व की रक्षा की है।

वर्तनी

वर्तनी किसी भी भाषा में एकरूपता लाने का वह प्रथम विधान है, जिसका मूलाधार कुछ तो उच्चारण-प्रक्रिया है और कुछ प्रयोग-बहुलता। अंग्रेजी में बहुत सारे ऐसे शब्द हैं, जिनका उच्चारण एक ही तरह का होता है; पर वर्तनी-विधि में अंतर है, और वर्तनी-विधि एक होने पर भी उच्चारण-विधि में भिन्नता आ जाती है। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, जो अतिशय ध्वन्यात्मक मानी जाती है। इसलिए इस लिपि में वर्तनी की विविधता जिस हद तक कयामत ढा सकती है, उस हद तक किसी और लिपि में नहीं। 'शंकर' को 'संकर' लिख देने मात्र से अनर्थ हो जा सकता है, अवढर शिव भी अपना तीसरा नेत्र खोलने को बाध्य हो जा सकते हैं।

उच्चारण की दृष्टि से हिन्दी में कई शब्दों के अनेक रूप उपलब्ध हैं—रखा-रक्खा, दीखते-दिखते, दुःख-दुख, पहिले-पहले, पढ़िये-पढ़िए, नयी-नई, आदि ऐसे हजारों शब्द हैं, जो धड़ल्ले से प्रयुक्त हैं। उस दिन कोरिया में युद्ध का नगाड़ा बजा, मेरे एक तमिल-भाषी मित्र और सहयोगी ने हिन्दी के कई पत्र खरीदे। एक पत्र में छपा था—'दक्षिण कोरिया पर उत्तर कोरिया का आक्रमण,' दूसरे में छपा था–'दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया की चढ़ाई' और यह रहा तीसरा——'इन दोउन राह न पाई' का फतवा देता हुआ अपनी डफली अलग बजा रहा था—"द० कोरिया पर उ० कोरिया का धावा'। चलो छुट्टी, द० के लिए दक्षिण अर्थ लो या दक्षिणी, दक्खिन या दक्खिनी। एक पत्र दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति का नाम 'सिगमन री' बतला रहा है, दूसरा 'सियोगमन र्ही'। पता नहीं, पहला नाम कहीं माँ-बाप का रखा हुआ प्यार का नाम हो? दक्षिण कोरिया की राजधानी तो एक ही रही होगी, पर जरा इन पत्रों की ओर देखिये तो 'सिऊल', 'सियोल', 'स्योल' और 'सिओल' आदि छपे हैं, रेडियो एक पाँचवाँ नाम रट रहा है—'साऊल'। आज भी हिन्दी के पत्रों पर सरसरी निगाह दौड़ा जाइये—आप कह नहीं सकते कि 'कम्युनिस्ट' या 'कम्यूनिस्ट', चीन' या 'चाइना' का अधिकार 'फरमोसा' पर होना चाहिये कि 'फारमोसा' या 'फोरमोसा' पर। और यह 'री' महोदय आखिर क्या हैं? 'प्रेसिडेण्ट' 'प्रेसीडेंट' या प्रेजिडेण्ट? मेरे सामने अभी ११ मार्च, १६५१ का 'धर्मयुग' पड़ा है–'भारत का सर्वोत्तम सचित्र साप्ताहिक'। संपादकाचार्य इलाचंद्र जोशी के संपादन में संपादकाचार्य अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी का एक लेख मुद्रित है। आपने अपने एक ही लेख के अंदर कभी 'प्रेसिडेण्ट' लिखा है, कभी 'प्रेसीडेण्ट' और कभी 'प्रेजिडेण्ट'। क्या आप बता सकते हैं कि 'ट्रूमैन' 'ट्रूमन' और "ट्रमैन" एक ही व्यक्ति का नाम है या तीन का? रूस का सर्वेसर्वा 'स्टालिन' था कि 'स्तालिन' या 'स्टैलिन'? यह रूस, 'सोवियट'

है कि 'सोवियत' या 'सोभियट' ? दुनिया का सबसे धनी राष्ट्र है 'अमेरिका' कि अमरिका या अमरीका' ? इंगलैंड की राजधानी 'लंडन' है कि 'लंदन' या 'लण्डन' ? प्रयाग हमारा पवित्र तीर्थ-स्थान है, तो 'इलाहाबाद', 'अलाहाबाद' या 'एलाहाबाद' किस-किस लोक में है ? केरल, केरल है कि 'केराला' कि 'कराला' ? भारत की १४ राष्ट्रीय भाषाओं में एक कन्नड़ है, तो फिर यह 'कनड' और प्रधान मंत्री पंडित नेहरू के अनुसार 'कनाडा' कौन-सी भाषा है ? केरल की राजधानी 'तिरुवांकुर' है कि 'त्रावणकोर', 'त्रावनकोर' या 'ट्रावनकोर' ? हिन्दी पत्रों को पढ़िये तो यह विविधता हैरान कर देनेवाली सिद्ध होगी। 'हिन्देशिया' के 'राष्ट्रपति' का नाम है 'सुकर्ण' और 'इण्डोनेशिया' के 'राष्ट्राध्यक्ष' का नाम है 'स्योकारनो'। जमशेदपुर को बसाया था 'टाटा' ने और वहाँ लोहे का कारखाना खोला था 'ताता' ने। भारत के अर्थमंत्री, विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग के अध्यक्ष और अब दिल्ली-विश्वविद्यालय के उपकुलपति का नाम 'चिंतामन' देशमुख है या 'चिंतामणि' या चिंतामणी' देशमुख ? ये 'गैडगिल' साहब हैं कि 'गाडगिल' ? और हिन्दी के सबसे कट्टर विरोधी 'राजगोपालाचारी' हैं कि 'राजगोपालाचार्य' या 'राजगोपालाचारियर' ? किंबहुना—रूस और चीन के प्रधान मंत्रियों के नाम तो दूर, भारत के वर्त्तमान रक्षा-मंत्री तक के नाम की वर्तनी में एकरूपता नहीं है। यह विविधता भारत में ही प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी-पत्रों में नहीं मिलती। शब्दों के अधिकृत उच्चारण, उनके परिनिष्ठित रूप तथा उनसे सम्बन्धित स्वीकृत शब्द-कोश के अभाव में वक्ताओं की स्वाभाविक भिन्नता तथा स्वच्छंदता आज अराजकता का रूप धारण कर रही है। वस्तुतः, उच्चारण की त्रुटियाँ ही (नागरीलिपि की ध्वन्यात्मकता के कारण) हिन्दी में वर्तनी की त्रुटियों के प्रमुख कारण हैं।

और, उच्चारण की ये त्रुटियाँ अनन्त हैं। ध्वनि को ठीक-ठीक न निकालना अशुद्ध उच्चारण का एक कारण है। उदाहरणतः 'क्ष' ध्वनि को ठीक प्रकार से न बोलने के कारण 'कक्षा' 'कच्छा' बन जाता है। इसी प्रकार लोग वन (जंगल)-बन (क्रिया), धनवान-धनबान, शेष-शेश, ऋषि-रिशि, गड्ढा-गढ्ढा में व-ब, ष-श, ऋ-रि. ड्-ढ् आदि ध्वनियों में अंतर नहीं कर पाते। इन अशुद्धियों का परिणाम कई स्थानों पर बड़ा भयानक सिद्ध होता है। यहाँ यदि उर्दू से ली हुई ध्वनियों (क़, ख़, ग़, ज़, फ़) को सम्मिलित कर लें तो शब्द तथा अर्थ की भिन्नता के और भी उदाहरण मिल जायँगे (कदम-क़दम, रोटी खाना-बावर्चीख़ाना, बाग-बाग़, जरा-ज़रा, फन-फ़न)।

अशुद्ध उच्चारण का दूसरा प्रधान कारण प्रादेशिक प्रवृत्तियों का प्रभाव है। हिन्दी एक विशाल भू-भाग की भाषा है—पंजाब से लेकर बिहार तक। पुनः, यह राजभाषा भी है, इसलिए देश के अन्य प्रदेशों तथा संसार के अन्य देशों से सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप आदान-प्रदान आवश्यक है। आज देश के दूसरे-दूसरे प्रदेश हिन्दी के उच्चारण को बड़ी ही तीव्र गति से प्रभावित कर रहे हैं। कभी-कभी तो एक ही प्रदेश के अंतर्गत भिन्न-भिन्न इलाकों की उच्चारण-विधि का प्रभाव पड़ने लगता

है। बेगूसराय और दरभंगा के लोग 'र' 'ड़' तथा 'श' 'ष' 'स' के उच्चारण में साधारणतः भेद नहीं कर पाते। हिन्दी के पंजाबी लेखकों की कृतियों में स्वरागम, स्वरलोप तथा 'ई' को 'इ' में बदल देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति परिलक्षित होती है— स्नान-सनान, स्कूल-सकूल, स्टेशन-सटेशन, कृष्णचंद्र-किशनचंदर, पूर्ण-पूरण, परमेश्वर-प्रमेश्वर, मिनट-मिन्ट, बीमारी-बिमारी आदि ऐसे ही प्रयोग चल पड़े हैं।

उच्चारण की प्रक्रिया को प्रभावित करने में दूसरी भाषाओं का भी कम हाथ नहीं। इसमें सबसे अधिक प्रभाव उर्दू और अंग्रेजी का पड़ रहा है। सिर-सर, गर्दन-गरदन, वर्तन-वरतन, समुद्र-समुन्दर, टिकट-टिकिट, मिनट-मिनिट, कालिज-कौलेज-कौलिज, आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। कभी-कभी प्रयत्नलाघव की प्रवृत्ति भी उच्चारण को त्रुटिपूर्ण बना देती है—दुःख-दुख, व्यंग्य-व्यंग, और-औ-व, बाज़ार-बज़ार, भांडार-भंडार, साहब-साब आदि इसी प्रवृत्ति के चलते ही बनते चले जा रहे हैं।

उच्चारण-दोष का एक और प्रमुख कारण ध्वनियों के संयुक्त रूप का अज्ञान भी माना जा सकता है। 'र्' और 'ऋ' ध्वनियाँ जब किन्हीं अन्य ध्वनियों के साथ संयुक्त रूप से प्रयुक्त होती हैं तो उनके उच्चारण और लेखन में सामान्यतः त्रुटि रह जाती है—श्रृंगार-शृंगार, व्रज-बृज, सहस्र-सहस्त्र, गृहीत-ग्रहीत आदि ऐसे ही उदाहरण हैं।

ध्वनि-अनुरूप वर्तनी

इसी सिलसिले में डाक्टर बाबूराम सक्सेना ने ध्वनि-अनुरूप वर्तनी की समस्या (भाषा-वर्ष १, अंक ३) पर प्रकाश डालते हुए व्यंजन वर्णों के लिखने की विधि पर विचार किया है। यह प्रस्ताव कभी आया था कि जहाँ 'अ' का उच्चारण न होता हो वहाँ हल् का चिह्न लगाया जाय—जैसे 'सकता' के स्थान पर 'सक्ता' लिखा जाय, जैसा कि बोला जाता है। उसी तरह हिन्दी के परिनिष्ठित शब्दों के अन्त का 'अकार' उच्चारित नहीं होता, केवल संयुक्त व्यंजन के उपरांत सुनायी पड़ता है—और वह भी तत्सम शब्दों में। 'राम', 'बात', 'हार' आदि में अंतिम 'अ' का उच्चारण नहीं होता, किन्तु 'कृष्ण', 'हविष्य', 'प्रद्युम्न' आदि में होता है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि आज हमारे अनेक शब्दों की वर्तनी ध्वन्यनुकूल नहीं है। भाषा विकास की प्रक्रिया में आगे बढ़ती हुई नयी उच्चारण-प्रणाली को ग्रहण करती चली जा रही है, पर हमारे अनेक शब्दों की वर्तनी हजार-दो हजार वर्ष पीछे की ही है। 'ऋ' का उच्चारण आज 'रि' रह गया है, 'ष' का उच्चारण 'श' के समान बन गया है, 'क्ष' अधिकांश जगहों पर 'च्छ' तथा 'ज्ञ' अब 'ग्य' रह गया है, पर हम हैं कि ऋषि, ऋण, विशेष, परीक्षा और आज्ञा लिखने पर ही जोर डालते चले जा रहे हैं। आज कम-से-कम बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'प्रकट' कोई नहीं बोलता, शायद बोल भी नहीं सकता; पर हम "प्रगट' पर तत्क्षण लाल पेंसिल फेर दिया करते हैं। यह वर्तनी-रूप तो कुछ-कुछ

अंग्रेजी वर्तनी-रूपों के ही समान बनता चला जा रहा है। वस्तुतः नीचे लिखे शब्दों का उच्चारण हम भिन्न रूप से करते हैं, पर लिखते हैं कुछ और ही तरह से—

सकता—	सक्ता
आवश्यकता—	आवश्यक्ता
लगना—	लग्ना
करके —	कर्के
मरके —	मर्के
इमली—	इम्ली
जितना—	जित्ना
कितना—	कित्ना
उतना —	उत्ना
हरदम—	हर्दम
कमरा—	कम्रा
स्तुति —	अस्तुति
स्कूल —	इस्कूल
स्थान —	अस्थान
चिह्न —	चिन्ह
ब्रह्मा —	ब्रम्हा
कर्त्ता —	कर्ता
उज्ज्वल—	उज्वल

[राजेन्द्र द्विवेदी, भाषा—वर्ष १, अंक २] आदि इस तरह के हजारों उदाहरण हैं।

समस्या पर विचार करने का सूत्रपात

इस समस्या पर सबसे पहले विचार द्विवेदी-युग में किया गया था। भारतेन्दु-काल में वर्तनी-सम्बन्धी लगभग वही अराजकता व्याप्त थी, जो कि आज है। आचार्य द्विवेदी ने प्रत्यक्ष रूप से कम, अप्रत्यक्ष रूप से अधिक भाषा-संस्कार के साथ-साथ इस समस्या का भी समाधान प्रस्तुत किया था, पर उनपर ध्वनि-अनुकूलता से अधिक संस्कृत-प्रियता की छाप थी। वे वर्तनी को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण पीछे की ओर ले जा रहे थे, गो कि यह मानना होगा कि उस युग में सरस्वती के माध्यम से वे एक-रूपता लाने का भरपूर प्रयत्न कर रहे थे, और उसमें बहुत हद तक सफल भी हुए थे। डा० उदयभानु सिंह ने अपने ग्रंथ 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में लगभग ४० पन्नों की लम्बी सूची दी है, जिसमें द्विवेदीजी के दृष्टिकोण और प्रयत्न की झाँकी मिलती है। मैंने अन्यत्र द्विवेदीजी के इस प्रयत्न पर विचार करते हुए लिखा है—

"द्विवेदीजी के समकालीन ऐसे लिखक्कड़ विद्वान् अनेक थे—इतिहास और पुरातत्त्ववेत्ता

काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना के जन्मदाता मिश्रबंधु, हिन्दी के भावुक निबन्धकार सरदार पूर्ण सिंह, सम्पादकाचार्य विष्णु पराड़कर, नाटककार गोविंद-वल्लभ पंत, आलोचकप्रवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी के सबसे बड़े वैयाकरण श्रीकामताप्रसाद गुरु। इनमें से किसी एक को भी छोड़ने के लिए हिन्दी तैयार नहीं हो सकती। इनकी रचनाएँ ही ऐसी हैं। पर इनमें से एक भी ऐसा लेखक नहीं है, जिसपर द्विवेदीजी की लाल स्याही न फिरी हो। आज हिन्दी की किस विधा की कौन-सी ऐसी पवित्र और निष्कलुष कसौटी है, जो द्विवेदीजी की लाल स्याही से अवभृथ स्नान करने के पूर्व दोष-युक्त नहीं रही हो। वर्तनी, व्याकरण, रचना और प्रयोग—जिस-किसी भी दृष्टि से देखा जाय, उस युग में इनका कोई भी रूप तबतक परिनिष्ठित नहीं माना गया जबतक कि उसके ललाट पर द्विवेदीजी ने अपनी लाल मुहर नहीं डाल दी और 'सरस्वती' ने अपने पत्रांचल में उसे स्थान न दे दिया।''—(बोध और व्याख्या, पृ० १५७ और ३६६)

लगभग उसी समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने वर्तनी-सम्बन्धी अपनी कुछ मान्यताएँ स्थापित कीं, जिनका आधार प्रधानतः आचार्य द्विवेदीवाला दृष्टिकोण ही था। इधर जब उस अराजकता ने पुनः सर उठाया तो इस ओर सबसे पहले हैदराबाद की मासिक पत्रिका ''कल्पना'' ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। कुछ मास पश्चात् उसने भी अपनी एक वर्तनी-सम्बन्धी मान्यता निर्धारित की और आज भी वह उसी मान्यता पर चल रही है। 'कल्पना' ने मुद्रण और टंकन-सम्बन्धी कठिनाइयों पर पर्याप्त ध्यान रखा है।

अखिलभारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ के नियम

हिन्दी-लेखन-मुद्रण में एकरूपता लाने के लिए अखिलभारतीय हिन्दी-प्रकाशक संघ ने श्रीदेवराज के संयोजन में एक उपसमिति संघटित की, जिसके सुझाव अगस्त, १९६० में प्रकाश में आये। उसके सुझाव निम्नलिखित थे—

१. संयुक्त और वियुक्त (पृथक्) शब्द।

(क) विभक्तियाँ शब्दों से अलग लिखी जानी चाहिए। जैसे—'इंसान ने', 'कुतूहल से', 'घर से', 'दीवार में' आदि। किन्तु स्थानबोधक सर्वनामों को छोड़कर (उदाहरण—'वहाँ पर', 'यहाँ से') शेष सर्वनामों के साथ विभक्तियाँ जुड़ी रहनी चाहिये। जैसे—'हमको', 'उसने', 'इसीलिए', 'सबको', 'उन्हींका' आदि।

(ख) पूर्वकालिक क्रियाओं का 'कर' साथ में जुड़ा रहना चाहिये। जैसे—'पीकर', 'खोलकर', 'समझाकर' आदि।

(ग) संयुक्त क्रियाओं के दोनों अंश अलग-अलग लिखे जाने चाहिये। जैसे—'जी गया', 'ले आए', 'कह बैठा', 'कर देगा' आदि।

(घ) हीन, विहीन, रहित, सहित, युक्त, दायक, ग्रस्त, पूर्वक, चकित, जनक, जन्य, जनित, परक, पूर्ण, कृत, चिन्तक, स्वरूप, निष्ठ, गत, प्रद, मय, च्युत, सूचक,

सिद्ध आदि शब्द किसी दूसरे शब्द के साथ लगाये जाने पर उसके साथ जुड़े रहने चाहिये। जैसे—पदच्युत, हितचिन्तक, कोलाहलमय, उपहारस्वरूप, कलापूर्ण, शांतिपरक, तुलसीकृत, शोकग्रस्त, भावहीन आदि।

(ङ) संख्यावाचक विशेषण 'प्रति' संज्ञा के साथ जुड़ा रहना चाहिये। जैसे—प्रतिक्षण, प्रतिदिन, प्रतिशत, प्रतिव्यक्ति आदि।

(च) 'वाला' के प्रयोग से बनी कर्तृवाचक संज्ञा के दोनों खण्ड अलग-अलग लिखे जाने चाहिए। जैसे—बाँसुरी वाला, दौड़ने वाला, दुपट्टे वाली आदि।

(छ) आदरसूचक 'जी' मूल संज्ञा के साथ जुड़ा रहना चाहिये। जैसे—'महात्माजी', 'बहनजी', 'हंसराजजी', बाबूजी' आदि।

(ज) दो भिन्न शब्दों के संयोग से बने हुए प्रचलित शब्द जुड़े रहने चाहिये। जैसे—'वादविवाद', 'निम्नलिखित', 'चालचलन', 'ग्रामवासी', 'यथास्थान', 'आत्महत्या', 'देखभाल' आदि।

(झ) निम्न परिस्थितियों में शब्दों के बीच में हाइफन (-) का प्रयोग होना चाहिये—

(१) जब दो शब्दों का सम्बन्ध दिखाते हुए बीच की विभक्ति का लोप कर दिया जाय। जैसे—'स्वरूप-विश्लेषण', 'कृषि-मंत्री', 'नदी-किनारे', 'साहित्य-समारोह', 'अशोक-सम्बन्धी', 'शब्द-चमत्कार', 'ममता-भरी', 'सिगरेट-केस', 'पाँव-तले', 'सरकार-विरोधी' आदि।

(२) जब अतिरिक्त प्रभाव के लिए किसी विशेषण को दोहराया जाय अथवा समानार्थक या विपरीतार्थक शब्दों को मिलाकर चमत्कार की सृष्टि की जाय। जैसे—'कैसे-कैसे', 'दो-चार', 'किसी-न-किसी', 'रोज-रोज', 'पति-पत्नी', 'सब-के-सब', 'पढ़-लिखकर', 'हँसी-मजाक', 'निराशा-पर-निराशा', 'झुक-झुककर', 'लिया-दिया', 'आचार-विचार', 'नये-से-नये', 'थोड़ा-बहुत', 'लेन-देन' आदि।

(३) जब 'विशेष' विशेषण को संज्ञा से मिलाकर एक ही संज्ञा की रचना की जाय। जैसे—'व्यक्ति-विशेष', 'कार्य-विशेष' आदि।

(४) जब किसी शब्द के साथ 'भर' अथवा 'मात्र' लगाकर पूर्णता या सीमा का आभास दिया जाय। जैसे—'दिन-भर', 'शक्ति-भर', 'भर-पेट', 'घर-भर में', 'अनुभूति-मात्र', 'स्वप्न-मात्र' आदि।

(५) जब किसी शब्द के साथ 'जैसा', 'जैसे', या 'जैसी' के अर्थ में 'सा', 'सी' या 'से' का प्रयोग किया जाय। जैसे—'फूल-सी कोमल', 'एक-से चेहरे', 'सागर-सा गहन', 'गेंद-से गोल', 'पत्थर-सा अटल' आदि।

२. शब्द में प्रयुक्त 'ये', 'यी' अथवा 'ए', 'ई'।

(क) 'या' से अंत होनेवाली भूतकालिक कृदंत क्रियाओं के स्त्रीलिंग और बहुवचन रूप में भी 'ये' और 'यी' का प्रयोग होना चाहिए। जैसे—'आये', 'गयी',

'किये', 'गये', 'दिये', 'पिलायी' 'दिखायी' (क्रिया), 'ललचायी' (क्रिया) आदि। किन्तु संयुक्त क्रियाओं के अंत में 'ए' और 'ई' का ही प्रयोग होना चाहिए। जैसे—'हँसते गए', 'रोती आई', 'रख दिए', 'चली गई' आदि। जहाँ-कहीं संयुक्त क्रिया के दोनों शब्दों के अंत में 'ये', 'ए' अथवा 'यी', 'ई' ध्वनि हो, वहाँ पहले शब्द में 'ये' और 'यी' तथा दूसरे में 'ए' और 'ई' का प्रयोग होना चाहिए। जैसे—'बताये गए', 'उठायी गई' आदि।

(ख) जिन विशेषणों का अंत 'या' से होता है, उनके स्त्रीलिंग और बहुवचन रूप में 'यी' और 'ये' का प्रयोग होना चाहिये। जैसे—'नयी', 'नये', 'परायी' आदि।

(ग) 'लिये' और 'लिए' में विभक्ति के रूप में प्रयुक्त होने पर 'ए' तथा क्रिया 'लिया' के बहुवचन के रूप में 'ये' रहना चाहिए। जैसे—'आपके लिए यह मधुर आम', 'हाथ में पुस्तक लिये पहुँचा' आदि।

(घ) उपर्युक्त नियमों को ध्यान में रखते हुए 'ए' तथा 'ई' ध्वनि से युक्त सब शब्दों में, चाहे वे आज्ञार्थक और संभावनार्थक क्रियाएँ हों अथवा आदरसूचक आज्ञा के या क्रियाओं के भविष्यत् रूप हों, 'ए' और 'ई' का ही प्रयोग होना चाहिए। जैसे—'आइए', 'जाएगा', 'खाएँगे', 'चाहिए', 'पिए', 'हँसिएगा', 'दीजिए', 'जगाइए', 'जगहँसाई', 'अच्छाई', 'ललचाई' (विशेषण) 'दिखाई' (संज्ञा-रूप) आदि।

३. हिन्दी में संस्कृत के शब्द—

(क) जो संस्कृत-शब्द हिन्दी में कुछ रूप बदलकर प्रचलित हैं, उन्हें (शास्त्रीय लेखन को छोड़कर) उनके हिन्दी रूप में ही लिखा जाना चाहिए। जैसे—'महत्व', 'कर्तव्य', 'उज्वल', 'तत्व', 'दुख', 'निस्संकोच' आदि, न कि 'महत्त्व', 'कर्त्तव्य', 'उज्ज्वल', 'तत्त्व', 'दुःख', 'निःसंकोच आदि।

(ख) संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार हलन्त का प्रयोग यथास्थान अवश्य होना चाहिए। जैसे—'भगवान्', 'महान्', 'विद्वान्', 'पूर्ववत्', 'किंचित्', 'पृथक्' आदि।

४. हिन्दी में अन्य भाषाओं के शब्द और ध्वनि-चिह्न :—

(क) साधारणतया 'ज' और 'ज़' ध्वनि में भेद करने के लिए नुक्ते का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। विशेष रूप से जहाँ-कहीं मिलते-जुलते हिन्दी शब्दों के कारण अर्थ-भेद को स्पष्ट करने की आवश्यकता हो, उर्दू के शब्दों में नुक्तों का प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे—'तेज़', 'बाज़', 'ताक़', 'ज़ए', 'जीना', 'राज़' आदि।

(ख) अन्य भाषाओं के अनेक शब्द, जिनके उच्चारण में बीच के अक्षर की अर्ध-ध्वनि और पूर्ण-ध्वनि संदेहास्पद हो, पूरे अक्षर से ही लिखे जाने चाहिए। जैसे—'गरमी', 'सरदी', 'शरम', 'बरफ़', 'बिलकुल', 'कुरसी', 'बरामदा', 'भरती', 'बरदाश्त', 'हलका', 'गरदन', 'बरतन', 'फ़ुरसत' आदि।

(ग) अंग्रेजी शब्दों में उच्चारण की आवश्यकताओं को देखते हुए अर्धचन्द्र का प्रयोग अवश्य होना चाहिए। जैसे—'कॉफी', 'नॉर्मल', 'डॉक्टर', 'ऑपरेशन' आदि।

५. अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु :—

(क) जहाँ-कहीं अनुस्वार-ध्वनि से अगला अक्षर टवर्ग, तवर्ग या पवर्ग का हो, वहाँ विशिष्ट प्रचलित शब्दों को छोड़कर (विशेष कर संस्कृत-जनित शब्द) शेष में अनुस्वार के स्थान पर उस वर्ग के पाँचवें वर्ण के अर्धाक्षर का प्रयोग करना चाहिए, अन्य सब परिस्थितियों में अनुस्वार का। जैसे—'पंगु', 'अकिंचन', 'सुन्दर', 'सम्बन्ध', 'संवर्धन', 'अन्त', 'गुण्ठन' आदि।

(ख) अनुस्वार से ध्वनि-भेद को स्पष्ट करने के लिए चन्द्रबिन्दु का प्रयोग यथास्थान अवश्य किया जाना चाहिए। जैसे—'हँसमुख', 'जाएँगे', 'दिखाएँ', 'सँवारकर', 'दाँयाँ', 'चाहिएँ' (बहुवचन), महँगा आदि।

(पुस्तक-जगत्, अगस्त, १९६०)

प्रकाशक-संघ के सुझावों की आलोचना

प्रकाशक-संघ के सुझावों का सबसे बड़ा दोष यह है कि ये किसी निश्चित सिद्धांत पर आधारित नहीं हैं—न तो ये शत-प्रतिशत ध्वनि-अनुरूपता पर निर्भर हैं और न शत-प्रतिशत प्रयोग-बहुलता या मुद्रण-सौकर्य पर। विस्तार-भय से हम इसके दो-तीन सुझावों की वैज्ञानिकता पर ही विचार करेंगे। प्रथम—हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्द। संस्कृत हमारी सभी भाषाओं की गंगोत्री है और वह एक नियमबद्ध भाषा है। हमारे यहाँ उसके तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, इसलिए संस्कृत के किसी भी शब्द की वर्तनी में परिवर्तन करने से पहले उसके व्याकरण-सम्बन्धी औचित्य पर भी विचार कर लेना चाहिये था। 'उज्ज्वल' शब्द को ही लें। यह रूप संधि का परिणाम है। उत् + ज्वल, जैसे—उत् + चारण = उच्चारण, उत् + डयन = उड्डयन, उत् + गार = उद्गार, उत् + ताप = उत्ताप, उत् + ज्वार = उज्ज्वार। जिस प्रकार प्रकाशक-संघ ने 'उज्ज्वल' के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया, क्या उसी प्रकार ऐसे अन्य शब्दों पर भी प्रतिबंध लग सकेगा? इस तरह के अपवाद से तो एकरूपता के स्थान पर विविधता को ही प्रश्रय मिलेगा। शायद संघ ने यह सोचा हो कि 'उज्वल' इसलिए लिखा जाना चाहिये कि चाहे शब्द में एक 'ज्' हो या दो, 'उ' स्वर पर तो द्विमात्रिक दवाव पड़ेगा ही। आगे चलकर उच्चारण-भेद तो होगा ही, साथ-साथ शब्दों की निर्माण-विधि को समझने में भी व्याकरण-सम्बन्धी कठिनाइयाँ बढ़ेंगी। पुनः 'महत्त्व' शब्द को लें। इसका निर्माण 'महत् + त्व' से होता है, ठीक उसी तरह महत् + ता = महत्ता। 'महत्त्व' को 'महत्व' मान लेने पर 'महत्ता' का क्या व्याकरण-सम्बन्धी औचित्य होगा? जब पाठक 'महत्व' और 'प्रभुत्व' को एक ही स्थिति में देखेगा तब 'प्रभुता' की तरह 'महता' क्यों न

बना लेगा ? हिन्दी में जब अंत का 'अकार' उच्चरित नहीं होता तब फिर 'भगवान्' में हलंत क्यों ? यह तो ध्वनि-अनुरूप नहीं कहा जा सकता ? संस्कृत का मूल शब्द 'भगवत्' है, 'श्रीमत्', 'विद्वत्', 'महत्' आदि की ही तरह भगवान्, महान्, विद्वान् पुंलिंग की कर्त्ता विभक्ति के एकवचन रूप हैं। पुनः हिन्दी में एक शब्द चल रहा है—'महानतम', महानतम व्यक्ति, महानतम सफलता। यहाँ 'महान्' हम कैसे लिखेंगे ? और फिर थोड़ी देर के लिए यदि हम ध्वनि-अनुरूपता को दृष्टि में रखकर 'भगवान', 'महान' आदि लिखना शुरु करें तो बहुत-से ऐसे शब्द आयँगे, जिन्हें उस रूप में लिखने पर व्याकरण-सम्बन्धी उलझनें आ जायँगी। ऐसा ही एक शब्द है 'जगत्'। हिन्दी में इसका उच्चारण होता है—'जगत'। पर 'जगत' मान लेने पर हम अपने पाठकों को जगदीश्वर, जगदाधार, जगन्नाथ आदि की व्युत्पत्ति किस प्रकार समझा सकेंगे ? ये सारे शब्द तभी बन सकते हैं जब 'त' में हलंत' हो। पृथक से पृथक्करण' नहीं बन सकता। साक्षात' से साक्षात्कार' कैसे बनेगा ? इनके लिए तो 'पृथक्' और 'साक्षात्' चाहिये।

उर्दू के शब्दों के नुक्तों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी यही उलझन है। जो उर्दू जानते हैं, नहीं, जिन्होंने मकतब में ही उर्दू पढ़ी है, वही 'सज़ा' और 'ज़रा' बोलते हैं। हिन्दीवाले जो पाठशालाओं से पढ़कर निकले हैं, वे 'सजा' और 'जरा' ही बोलते हैं—'जरा इधर आना तो', 'अरे! जरा ठहरिये तो एक मिनट', 'कितने दिनों की सजा हुई उसे ?' आदि। यदि इस प्रकार विदेशी ध्वनियों को विशिष्ट रूप में बरकरार रखने की बात मान ली जाय तो हमें 'बुताम' और 'लालटेन' तक का पुनःसंस्कार करना पड़ेगा।

हिन्दी में संस्कृत-शब्दों की वर्तनी पर थोड़ा विस्तार से विचार करते हुए श्रीकृष्ण 'विकल' जी ने उपर्युक्त दोषों पर प्रकाश डाला है और लिखा है—''यह तो कोई बात नहीं हुई कि जहाँ द्वित्व व्यंजन दोनों हल् आ जायँ, वहाँ एक हल् व्यंजन का लोप कर दिया जाए और जहाँ द्वित्व व्यंजन एक हल् और एक सस्वर हों, वहाँ लोप न हो; जबकि उच्चारण करने में पहली स्थिति में भी कोई कठिनाई न हो। वास्तविक स्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार न करना अनर्थकारक होगा।''—(पुस्तक-जगत्, नवम्बर, १६६०।) डा० नगेन्द्र ने संघ का पक्ष लेते हुए यह मत दिया था कि जिन शब्दों का हिन्दी में संस्कृतत्व लुप्त हो चुका है, उन शब्दों का संस्कृतवत् प्रयोग न किया जाय। (प्रकाशन-समाचार, अगस्त, १६६०) डा० इन्द्रनाथ मदान ने भी इसी आशय की पुष्टि की है (पुस्तक-जगत्, सितम्बर, १६६०)। इसका सबसे प्रबल विरोध पं० गोपालचन्द्र चक्रवर्त्ती (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर, १६६०) ने तथा श्रीकृष्ण 'विकल' ने किया। इनके तर्क बड़े वैज्ञानिक और युक्तिसंगत हैं।

श्रीकृष्ण 'विकल' ने प्रकाशक-संघ द्वारा प्रस्तावित शिरोरेखा एवं युगरेखा (हाइफन) के विधान पर भी विस्तार से विचार किया और सभी कुछ को 'गड्डमड' बताते हुए कहा—''क्या संख्यार्थक 'प्रति' उपसर्ग से बने शब्द ही मिले रहेंगे; 'प्रतिकूल',

'प्रतिदान', 'प्रतिरूप' आदि विपरीतार्थक 'प्रति' उपसर्ग से बने हुए ये शब्द नहीं ? क्या 'यथास्थान', 'अनुक्षण' आदि सभी सोपसर्ग शब्द इस नियम में नहीं आ सकते थे ? (घ) में जो शब्द गिनाये गये हैं, उनको रटने से क्या काम बन सकता है ? आदि कहने का विस्तार कितना बड़ा है, कौन जाने ?" (हिन्दी-प्रचारक, मार्च, १९६१) उनके विचार से समस्त शब्दों में युगरेखा वहीं दी जानी चाहिये, जहाँ समास करते हुए उन्हें पृथक् दीखनेवाले शब्दों के रूप में रखना अभीष्ट हो। इसी प्रकार वही शब्द एक शिरोरेखा में मिले हुए आते हैं, जो या तो संधि से जुड़े रहते हैं, या फिर बहुधा जो मिलकर एक अलग अथवा विशिष्ट अर्थ प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय हिन्दी-परिषद् द्वारा प्रस्तावित वर्तनी-नियम

प्रकाशक-संघ के सुझावों के पश्चात् भारतीय हिन्दी-परिषद् का भी ध्यान इस समस्या की ओर गया। उसने अपने आनन्द-अधिवेशन में तत्सम्बन्धी एक प्रारूप तैयार करने का कार्य एक समिति को सौंपा, जिसके सदस्य थे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० हरदेव बाहरी और डा० रघुवंश (संयोजक)। इस समिति ने पहले अपने उद्देश्यों का निर्धारण कर लिया, नियमों का आधार चुन लिया और तब एक प्रारूप तैयार किया। अपने उद्देश्य में समिति ने निर्धारण किया—"वस्तुतः, वर्तनी के प्रश्न पर केवल यांत्रिक सुविधा तथा उपयोगिता की दृष्टियों से विचार करना उचित नहीं माना जा सकता। वर्तनी भाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होती है और भाषा की शैली तथा प्रवाह पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। वर्तनी के नियमों के निर्धारण करने में इस कारण भाषा की मौलिक प्रकृति को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ साहित्यिक प्रकाशन-संस्थाएँ छपाई की सुविधा के नाम पर वर्तनी की जिस पद्धति का अनुसरण कर रही हैं, वह भाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल नहीं है और उससे भाषा की शैली बोझिल होती है तथा गति अवरुद्ध। लेखन-शैली अथवा वर्तनी में संशोधन करने का एकमात्र उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह भाषा की मूल प्रकृति को अक्षरों तथा अंकों के माध्यम से व्यक्त करने में अधिक-से-अधिक सहायक हो सके।"

'नियमों के आधार' के सम्बन्ध में परिषद् की समिति ने निश्चय किया—"भाषा की मूल प्रकृति की रक्षा करते हुए इस सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण १. भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण, २. स्पष्टता : वर्तनी के साथ अर्थ की, ३. परम्परा तथा ४. सुविधा के आधार पर किया जाना अपेक्षित है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि भाषा का मूल रूप उसके प्रयोग करनेवाले लेखकों, विचारकों और साहित्यिकों के द्वारा निरूपित होता है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त आधारों का निरूपण भाषा के प्रयोग करनेवालों की दृष्टि से ही होना चाहिये।"

नियमावली

१. वियुक्त शब्द, संयुक्त शब्द या हाइफ़न का प्रयोग

१—हिन्दी की मूल प्रकृति विश्लेषणात्मक है, संस्कृत के समान संश्लिष्ट नहीं। समास-युक्त शब्दों का प्रयोग भी संस्कृत की शैली है, हिन्दी की नहीं। हिन्दी में संज्ञा-शब्दों का विशेषण रूप में प्रयोग सर्वप्रचलित है, इस कारण संस्कृत के समान दो संज्ञा-शब्दों में विभक्ति-चिह्नों का प्रयोग हुए बिना भी उनका समासयुक्त होना उसमें आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में इस सम्बन्ध में हिन्दी में प्रयोग के आधार पर संस्कृत से भिन्न नियमों का अनुसरण आवश्यक है।

(क) हिन्दी की परम्परा कर्मधारय समास में शब्दों को पृथक्-पृथक् रखने की है, जैसे—कृष्ण सर्प, गंभीर पुरुष, शुद्ध जल। यह हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के अनुकूल है, साथ ही विशेषण तथा विशेष्य की स्पष्ट अलग स्थिति को भी व्यक्त करती है। अतः, इसे ही मान्य माना जाय।

(ख) हिन्दी की इसी प्रकृति के अनुसार द्वन्द्व समास को स्थिति में भी शब्दों को अलग-अलग (कॉमा देकर) रखना उचित है; जैसे—राम, कृष्ण, बुद्ध आदि।

(ग) तत्पुरुष समास की वर्तनी प्रयोग के अनुसार विविध रहनी चाहिये, यथा-

(अ) दो छोटे-छोटे शब्दों को जोड़ देना अपेक्षित होगा; जैसे भूदेव, नरपति आदि।

(आ) पहला तत्त्व यदि विकृत है या अपने मूल रूप में है, तो भी दोनों शब्दों को जोड़कर लिखना उचित है; जैसे वाक्कलह, द्विजार्थ, राजपुरुष, पितृसम आदि। वास्तव में ऐसे शब्द संस्कृत के नियमानुसार ही सिद्ध हैं, अतः इनका प्रयोग उसी रूप में करना चाहिए।

(इ) दो बड़े-बड़े शब्दों को अलग रखना ही उचित होगा, जैसे—साहित्य समारोह, शब्द चमत्कार (कर्मधारय) आदि। उन्हें मिलाकर लिखने से भाषा बोझिल होगी।

(ई) दो से अधिक शब्दों के समास-युक्त शब्द पृथक् ही रखे जायँ; जैसे—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा।

(घ) द्विगु समास जोड़कर लिखना उचित होगा; जैसे—पांचजन्य, त्रिभुवन आदि। ये शब्द भी संस्कृत से ही सिद्ध हैं, हिन्दी में भी इस प्रकार समास जुड़कर एक शब्द बन गये हैं, जैसे—दुचित्ता, चौराहा, छपेटी, सतनजा आदि।

(ङ) बहुव्रीहि समास तो वास्तव में संस्कृत में भी अर्थ की दृष्टि से एक ही शब्द हो जाता है, हिन्दी में तो वह इस रूप में माना ही जाना चाहिए। जैसे—मेघनाद, अपुत्र, सपत्नी आदि।

(च) अव्ययीभाव समास की स्थिति में शब्दों को जुड़ा ही रखना चाहिए। जैसे—यथास्थान, यथासंभव आदि।

२—(क) हिन्दी के अपने शब्दों में इस प्रकार का समास करना उसकी अपनी प्रकृति के विरुद्ध होगा। हिन्दी में ऐसे शब्द अलग-अलग रहेंगे अथवा हाइफन से जोड़े जायँगे; जैसे—सिगरेट-केस, देख-भाल।

(ख) प्रति (अलग)—प्रति-दिन, हर-रोज।
वाला (अलग) बाँसुरी वाला, दौड़ने वाला।

अपवाद—किन्तु, जब 'वाला' लगाकर एक वस्तु या व्यक्ति का अर्थ घोषित होता हो, तो उसे मिलाकर लिखना चाहिए। जैसे—झुनझुनवाला, शोरेवाला, अगरवाला।

(ग) 'जी' का प्रयोग अलग होना चाहिए, जैसे हिन्दी में 'श्री' का हो रहा है।

३—(क) परसर्ग अलग रहने चाहिए। वास्तव में इनको विभक्ति कहना गलत है। हिन्दी में कारकों को गलत ढंग से कहा जाता रहा है। वस्तुतः, ये अन्य परसर्गों के समान ही हैं। अन्य परसर्गों को अलग रखने के बारे में कोई समस्या नहीं है; जैसे—समान, नीचे, ऊपर, तले, भर आदि। अतः ने, को, से, के लिए, का, की, के, में, पर, आदि को संज्ञा और सर्वनाम—दोनों में अलग रखा जाना चाहिए।

(ख) पूर्वकालिक क्रियाओं का 'कर' अलग रहना चाहिए। ऐसा करने से अधिक स्पष्टता रहेगी; क्योंकि इस प्रकार के अन्य शब्द भी बनते हैं, जिनमें भ्रम हो सकता है। साथ ही, उच्चारण में आघात का अन्तर पड़ता है। पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप में 'कर' का उच्चारण क्रिया के अंश के बाद अलग, स्वतंत्र हो जाता है; जैसे—सी कर, और सीकर के उच्चारण में अन्तर है, यहाँ अर्थ में भी अंतर है। मिला देने से उच्चारण स्पष्ट नहीं होगा। मिला देने से 'कर' के 'क' का उच्चारण हिन्दी की प्रकृति के अनुसार स्वरहीन हो जायगा और यहाँ 'कर' का स्पष्ट उच्चारण आवश्यक है, जैसे—जा कर, खा कर, पी कर, सो कर।

(ग) संयुक्त क्रियाओं में दोनों क्रियाएँ अलग होती हैं। अतः उनको अलग ही रखना चाहिए। वस्तुतः ऐसा ही होता है, यहाँ कोई समस्या नहीं है।

२. या, ये अथवा आ, ए, ई अन्त्य ध्वनियों के रखने की समस्या

इस विषय में पहले हिन्दी में लगभग सर्वमान्य मत था कि इनका वर्तनी में प्रयोग उच्चारण के अनुसार किया जाय, अर्थात् विना इस बात को ध्यान दिये शब्द-संज्ञा, विशेषण अथवा भूतकालिक कृदन्त आदि का पुंलिंग या एकवचन रूप केवल स्वर में अन्त होता है अथवा 'य' के साथ, इसकी बहुवचन तथा स्त्रीलिंग की वर्तनी में उच्चारण के अनुसार स्वर का ही प्रयोग किया जाता था—अर्थात् गाय-गाएँ, नया-नई, गया-गए। इधर वर्तनी की एकरूपता की दृष्टि से यह नियम प्रतिपादित किया गया कि जो शब्द पुंलिंग एकवचन में केवल स्वरांत हों, वे बहुवचन और स्त्रीलिंग रूपों में भी स्वरांत रहने चाहिए; किन्तु जिनके पुंलिंग एकवचन रूप में अन्त में 'य' अथवा 'या' आता हो, उनके बहुवचन और स्त्रीलिंग रूपों में 'ये' तथा 'यी' होना चाहिए। यह नियम अपनी स्पष्टता के कारण इधर कुछ स्वीकृति भी पा रहा है।

परन्तु, ध्वनियों के नियम तथा उच्चारण की स्पष्टता की दृष्टि से उच्चारण के अनुसार वर्तनी में अन्त्य स्वरों का ही प्रयोग अधिक संगत जान पड़ता है। अन्ततः यह नियम ही अधिक सुगम सिद्ध होगा; क्योंकि वर्तनी का सम्बन्ध उच्चारण से भी मानना पड़ेगा। वर्तनी के आधार में सुविधा हो—यह भी एक विचारणीय बात है। साथ ही 'य' और 'या' के स्थान पर 'ई' तथा 'ए' का परिवर्त्तन समझना भी कठिन है। क्योंकि अर्ध स्वर 'य' और स्वर 'इ' में निकटता का सम्बन्ध है। (इस सम्बन्ध में अखिलभारतीय प्रकाशक-संघ के प्रस्ताव तो और भी अधिक भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं।)

३. हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों का प्रयोग

१—हिन्दी में संस्कृत मूल के तद्भव शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक है, और इस प्रवृत्ति पर बल देना चाहिए।

२—संस्कृत तत्सम रूपों का प्रयोग शुद्ध रूप में ही होना चाहिए। इससे शब्द-रूपों को भाषावैज्ञानिक दृष्टि से समझने में आसानी होगी; सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त तत्सम शब्दों में एकरूपता रहेगी तथा शब्दों की व्याख्या करना आसान होगा; यथा—

महत् + त्व (प्रत्यय) = महत्त्व; न कि महत्व।
उत् + ज्वल (धातु) = उज्ज्वल; न कि उज्वल।
तत् + त्व (प्रत्यय) = तत्त्व; न कि तत्व

३—हलन्त शब्दों में हलन्त रखना ही उपर्युक्त दृष्टि से आवश्यक होगा; यथा—विद्वान्, महान् आदि।

४. विदेशी ध्वनियों की समस्या

१—फारसी-अरबी की कुछ ध्वनियाँ हिन्दी में आ गयी हैं। विशेष कर उत्तर भारत के पश्चिमी क्षेत्रों में उनका प्रयोग बहुत होता है। यों फारसी-अरबी की सारी ध्वनियाँ उर्दू में तद्वत् नहीं रही हैं। जैसे 'क़' ध्वनि का उच्चारण उर्दू में भी शुद्धतावादी ही करते हैं। ऐसी स्थिति में ख़, ज़, फ़, ग़ ध्वनियों को हिन्दी में स्वीकार कर लेना चाहिए। इनके विरोधी जोड़ भी हिन्दी में हैं। ज़, फ़, अंग्रेजी से भी प्राप्त हैं। अतः, शुद्धता के नाते इन ध्वनियों को हिन्दी में रखना चाहिए।

२—अन्य भाषाओं के अनेक शब्द, जिनके उच्चारण में बीच के अक्षर की अर्धध्वनि और पूर्ण-ध्वनि संदेहास्पद हों, उन्हें पूरे अक्षर से ही लिखना चाहिए; जैसे—गरमी, सरदी, शरम, बरफ़, बरतन, फ़ुरसत आदि।

३—शुद्धता की दृष्टि से अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण की आवश्यकता के अनुसार वर्त्तनी में अर्धचन्द्र का प्रयोग करना अपेक्षित है; जैसे—डॉक्टर, नॉर्मल, ऑपरेशन आदि।

५. अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु

१—संस्कृत में अनुस्वार तथा पंचम वर्ण का विकल्प से प्रयोग होता है। हिन्दी में भी यही पद्धति प्रचलित है। परन्तु, लेखन तथा छपाई में अनुस्वार की बिन्दी के छूट जाने, मिट जाने तथा गिर जाने की बहुत सम्भावना रहती है। हिन्दी में अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग की वैसे भी बहुत प्रवृत्ति है, इस कारण भी यदि वर्तनी में बिंदुओं का प्रयोग कम किया जा सके तो सुविधाजनक होगा।

क. पंचवर्गीय व्यंजनों की अनुनासिक ध्वनियों में ङ तथा ञ का यों भी ह्रास हो चुका है। ऐसी स्थिति में इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किया जाना चाहिए; जैसे—अकिंचन, पंगु आदि।

ख. अन्य पंचवर्गीय व्यंजनों के अनुनासिक ध्वनियों का ण, न तथा म का योग इसी रूप (पंचम वर्ण) में किया जाना चाहिए; जैसे—सम्बन्ध, अन्त, गुण्ठन आदि।

ग. अन्यत्र (ऊष्म तथा अन्तःस्थ व्यंजनों के पूर्व) अनुस्वार के रूप में अनुनासिक ध्वनि का प्रयोग होना चाहिए; जैसे—संबंधी, संयम, संरक्षण आदि।

घ. अंग्रेजी तथा अन्य विदेशी शब्दों में उच्चारण के अनुसार वर्गों के पंचम वर्ण का प्रयोग किया जा सकता है; जैसे—सेन्ट, पेन्टर आदि।

२—अनुस्वार तथा चंद्रबिन्दु का अन्तर उच्चारण के कारण है और वह रहना चाहिए। अर्थ की स्पष्टता की दृष्टि से भी आवश्यक है; जैसे संवार-सँवार, हंस-हँस आदि।

परन्तु, सुविधा की दृष्टि से स्वरों में अ, आ, उ, ऊ के साथ, जिनकी मात्राएँ ऊपर नहीं लगती हैं, चन्द्रबिन्दु आना चाहिए; परन्तु अन्य स्वरों में बिन्दु से चन्द्रबिन्दु का काम लिया जा सकता है। स्वरों में अनुनासिकता की समस्या हिन्दी की अपनी है, इस कारण इस विषय में भ्रम की गुंजाइश नहीं होगी ; जैसे—हँस, काँस, कुँअर, सूँस, जायेंगी, नहीं, साईं आदि।

[परिषद्-पत्रिका, वर्ष १, अंक १]

शिक्षा-मन्त्रालय का वर्तनी-निर्णय

अगस्त, १९६१ में भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय की वर्तनी-समिति के निर्णय प्रकाशित हुए। इसमें किसी विशेष सूझ-बूझ का परिचय नहीं दिया गया। प्रकाशक-संघ के सुझावों की तरह इसके सुझाव भी 'आधा तीतर-आधा बटेर' ही थे। "यह निर्णय, प्रकाशक-संघ के प्रारूप पर और उसपर पत्रिकाओं में प्रकाशित अन्य विद्वानों के संशोधनों पर आधारित है।" (वागीश्वर, प्रकाशन-समाचार, अक्टूबर, १९६१) यही सज्जन आगे कहते हैं—"शिक्षा-मंत्रालय की वर्तनी-समिति ने अपने 'अन्तिम' निर्णयों में प्रकाशक-संघ के प्रारूप पर प्रकाशित विविध संशोधनों को तोड़-मरोड़कर अधूरे रूप में प्रस्तुत किया है। इससे कहीं तो सम्यक् रूप से लाभान्वित ही नहीं हुआ जा सकता

है, और कहीं गोल-मटोल भाषा रहने से नियम को जिधर चाहें, उधर ही मोड़े जा सकने की गुन्जाइश बनी रह जाती है।'' (वही)

इसकी कतिपय सिफारिशें (जो प्रकाशक-संघ के सुझावों से भिन्न पड़ती हैं) निम्नलिखित हैं—

(१) द्वन्द्व और तत्पुरुष समासों की विशिष्टावस्था के लिए हाइफन का प्रयोग होना चाहिये। "तत्पुरुष समास में हाइफन का प्रयोग केवल वहाँ किया जाय, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की संभावना हो, अन्यथा नहीं।''

(२) क्रिया, विशेषण, अव्यय (गए, नई, चाहिए) आदि सभी शब्दों में स्वरात्मक रूप ग्रहण किये जायँ।

(३) 'महान', 'विद्वान' आदि कुछेक शब्दों को छोड़कर शेष सामान्यतः सभी शब्दों को संस्कृत रूप में लिखा जाना चाहिए।

(४) जहाँ चन्द्रविन्दु लगाये जा सकते हैं, वहाँ उसका प्रयोग हो।

(५) अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्धविवृत 'ऑ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप को लिखने के लिए अर्धचन्द्र का संकेत (ॅ) लगाया जाय।

कतिपय अन्य सुझाव और निष्कर्ष

श्रीसियाराम तिवारी के सुझाव हिन्दी-प्रचारक, सितंबर, १९६० और परिषद्-पत्रिका, अप्रैल, १९६१ में प्रकाशित हुए। आपका कहना है—"उच्चारण के अतिरिक्त अन्य किसी भी नियम से उन्हें अनुशासित करने पर उच्चारण-भेद की पूर्ण सम्भावना है। इसका अनुमान हम इसलिए नहीं कर पाते कि हमारी दृष्टि केवल हिन्दी-भाषियों तक ही सीमित है। सर्वथा भिन्न परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले भी हिंदी सीखेंगे और सीखते हैं। उनकी कठिनाई का अनुमान नहीं किया जा रहा है। हिन्दी-प्रकाशक-संघ के विचार को मानकर अगर 'पंगु' और 'अकिंचन' दोनों की अनुनासिकता को अनुस्वार से अभिव्यक्त करें तो क्या यह आशंका नहीं है कि कोई अहिंदी-भाषी 'पंगु' को 'पन्गु' या 'अकिंचन' को 'अकिङ्चन' पढ़ ले?.........इसीलिए, एकरूपता को किसी नियम के सूत्र में ग्रथित करना ही होगा। और, यह नियम भाषा के लिखित रूप के मामले में उच्चारण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि भाषा का मूल रूप उच्चरित रूप ही होता है।'' तिवारीजी अहिंदी-भाषियों को भी ध्यान में रखने को कहते हैं; किंतु आशंका है कि दूसरों का ध्यान रखते-रखते अपनी ही लुटिया न डूब जाय। हम हिंदी-वाले कुछ भी काम करना शुरू करते हैं तो तत्क्षण प्रादेशिक से राष्ट्रीय और फिर अन्तर्राष्ट्रीय बनने लगते हैं। अंग्रेजीवालों ने जब Labour और Programme की वर्तनी निर्धारित की थी तब यह कहाँ सोचा था कि एक दिन उनकी भाषा सम्पूर्ण विश्व की व्यापारिक भाषा बन जायगी। और, जब वह बन गयी तथा अमेरिकावालों ने Labor और Program बना लिया तब इंगलैंड से प्रकाशित होनेवाले किस

छोटे-बड़े कोश ने वैसा परिवर्त्तन कर लिया ? उल्टे, और भी दृढ़ता से वे अपनी वर्तनी-विधि से चिपक गये। दूसरे भाषा-भाषी हिंदी सीखेंगे, तो उसके सभी व्यवहृत रूपों का अध्ययन करना उनके लिए आवश्यक होगा। हम यह क्यों भूल जाते हैं कि अब भी अंग्रेजी की वर्त्तनी हमारे यहाँ के अंग्रेजीदाँ लोगों को उँगलीं पर पाँच बार गिनकर रटनी पड़ती है। तिवारीजी ने उच्चारण का प्रश्न उठाया है—भाषा-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का ध्वनियंत्र भिन्न होता है। हम बिहार के लोग जिस प्रकार खड़ी बोली बोलते हैं, उस प्रकार मेरठवाले नहीं। 'डॉक्टर' कभी 'डाक्टर' बन जाता है, कभी 'डागटर'। रेणु के 'मैला आँचल' और 'ठुमरी' में ऐसे उच्चारणों के हजारों उदाहरण प्रस्तुत हैं। तो, विचारणीय यह है कि परिनिष्ठित उच्चारण हम कहाँ के लोगों का, किनका मानें ? पंजाबवाले 'पाणी' बोलते हैं और तिवारीजी के गाँव के लोग 'पानि'। क्या ये दोनों ही अपनी-अपनी तरह से हिन्दी लिखना शुरू करें और उन्हें हम परिनिष्ठित मान लें ? मेरा विश्वास है—लिखित भाषा, उच्चरित भाषा से कुछ भिन्न अवश्य होगी, रहेगी, है। इसलिए, सिर्फ उचारण को ही लेकर वर्तनी में एकरूपता नहीं आ सकेगी, उसके लिए कुछ नियम जो परम्परा, व्युत्पत्ति और प्रयोग-सम्मत हों, गढ़ने ही होंगे, और उनका दृढ़ता से पालन करना ही होगा। सिर्फ उच्चारण को लेकर जो गड़बड़ी हो सकती है, उसकी ओर श्रीविश्वनाथ अय्यर ने भी संकेत किया है—"मान लीजिए कि कोई हिन्दीतर-भाषी सज्जन जिस हिंदी-भाषी के मुँह से पहले-पहल 'मजा' शब्द सुनता है, वह 'ज'-प्रधान 'मजा' शब्द ही कहता है। दूसरा हिंदी-भाषी बिन्दुयुक्त 'ज़' का उच्चारण करता है। बस, गड़बड़ी शुरू हो जाती है कि शुद्ध क्या है, अशुद्ध क्या है।" (भाषा, वर्ष १, अंक ३) अय्यर महोदय ने भी "वर्तनी की एकरूपता के निर्णय से पहले हिंदी-भाषा-पंडितों को दक्षिण की ओर भी ध्यान देना चाहिए"—ऐसा लिखा है; और फिर उल्लेख किया है कि "अन्य भाषाओं में केवल प्रसंग के अनुसार एक ही चिह्न से कई ध्वनियाँ अभिव्यक्त की जाती हैं, जैसे—अंग्रेजी में। उदा० ganges, gigantic. यों इस प्रकार एक ही ध्वनि-तत्त्व कई वर्णों से अभिव्यंजित हैं—cat, kite, cold, sky.।" यह क्रम सर्वथा शुद्ध माना जाय या नहीं, पर अय्यर साहब जरा अंग्रेजीवालों को यह पूछकर देख लें कि अंग्रेजी-भाषा-पंडितों को भारत की ओर भी ध्यान देना चाहिये—उन्हें कैसा करारा उत्तर मिलता है। दुनिया भर की सारी चीजें हिन्दी में ही चाहिये और हिन्दीवाले दुनिया भर का ख्याल रखें—ऐसा क्यों ? अंग्रेजीवाले जब Munger बोलकर भी Monghyr लिखते हैं, 'देहली' बोलते हुए भी 'Delhi' लिखते हैं, 'गवर्मेंट' बोलते हुए भी 'government' लिखते हैं तो उन्हें किसने कब क्या कहा ? शब्द-रूप-सम्बन्धी एकरूपता पर हम श्रीभोलानाथ तिवारी के इस कथन को युक्तियुक्त मानते हैं—"दिल्ली-पंजाब, पश्चिमी और मध्यवर्त्ती उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश के लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऐसे शब्दों

की भी सूची बना लेनी चाहिए और उनपर विचार करके हर युग्म या त्रिक में से एक या अधिक को मानक मान लेना चाहिए।'' (भाषा—वर्ष १, अंक १) बात ठीक है, यह काम 'मानक मान लेने' पर ही संभव हो सकता है, उच्चारण और व्यवहार के पीछे भागते रहने से नहीं। भाषा-विज्ञान का कोई भी छात्र यह कदापि नहीं विश्वास कर सकता कि ऋग्वैदिक समय में 'ॐ' का जो उच्चारण था, वही आज भी है या पिछले हजार वर्षों में रहा है, ठीक उसी प्रकार 'ऋ' का उच्चारण भी पहले सदैव एक-सा होता रहा था और एक दिन अहले-सुबह गायब हो गया। संस्कृत में भी वर्तनी के मानक रूप का ही प्रचलन था, रहा है और है। संस्कृत का कोई भी जानकार आज भी 'ॐ' या 'ऋषि', 'ऋतु, 'ऋचीक', 'ऋण' उसी प्रकार से लिखता है, जिस तरह पाणिनि लिखा करते थे।

इसलिए, मेरी समझ में पहला व्यावहारिक कदम यह होगा कि हम यह स्वीकार कर लें कि दुनिया की कोई भी लिपि पूरी तरह वज्ञानिक नहीं हो सकती और ध्वनि कभी जड़ नहीं हो सकती। ध्वनि बदलती रहती है, उसके अनुरूप उच्चारण बदलते रहते हैं और लिपि उससे होड़ नहीं ले सकती। और, इसलिए कि लिपि को हम ध्वनि तथा उच्चारण के अनुरूप पूरी तरह प्रतिदिन नहीं बदल सकते—आवश्यक यह है कि नागरी-प्रचारिणी, साहित्य-सम्मेलन, भारतीय हिन्दी-परिषद्-ऐसी कोई मान्य संस्था शब्दों की वर्तनी के मानक रूप निश्चित कर दे, जिसे सभी हिन्दी-भाषी (देशी या विदेशी) बिना किसी तर्क के स्वीकार करें और उसका—उसीका प्रयोग करें। दूसरा व्यावहारिक कदम यह होगा कि वह मान्य संस्था समय-समय पर ऐसा कोश प्रकाशित करे, जिसमें मानक वर्तनी हो और कोष्ठ में बलाघात-चिह्न-सहित उसके परिनिष्ठित उच्चारण हों। इस मत का समर्थन डा० हरदेव बाहरी भी करते हैं--''हिन्दी के उच्चारण में बलाघात और अक्षर-विभाजन की समस्या महत्त्वपूर्ण है। अहिन्दी-भाषियों को हिन्दी का निरालापन विशेषतः बलाघात और अक्षर-विभाजन के अन्तर के कारण खटकता है। हिन्दी-प्रदेश में भी इस विषय में पूरी-पूरी एकरूपता नहीं है और यह काम वैयाकरणों और प्रमुखतः कोशकारों का है कि वे इन तत्त्वों के स्पष्टीकरण में सहायक हों।'' (भाषा, वर्ष १, अंक २)

———

अनुवाद

अनुवाद वह सेतु है, जिसके द्वारा एक भाषा का पाठक दूसरी भाषा के ग्रंथ और ग्रंथकार से सम्पर्क स्थापित करता है। पर, जिस प्रकार शिल्पी सेतु बनाने के पहले उसके उपयुक्त स्थल, नदी की गहराई, व्यावहारिकता और साधन आदि की छानबीन कर लेता है, उसी प्रकार अनुवादक किस साहित्य और भाषा से किस लेखक के किस ग्रंथ का किस प्रकार अनुवाद करे, इसकी जाँच-पड़ताल कर लेता है। छोटी और कम गहरी नदियों पर हम जिस-किसी बढ़ई से काठ का पुल बनवा लेते हैं, किन्तु गंगा पर राजेन्द्र पुल बनवाने के सिलसिले में हमें विश्वेश्वरैय्या से पूछ-ताछ करनी पड़ती है।

और, जिस प्रकार सेतु-निर्माण के पूर्व नदी के दोनों किनारों पर जगह ऊँची करके उपागमन-रथ्याएँ तैयार की जाती हैं, उसी प्रकार अनुवादक जिस ग्रंथ या ग्रंथकार का अनुवाद करता है और जिस पाठक-वर्ग के लिए अनुवाद करता है, उन दोनों के मानसिक, बौद्धिक और भावात्मक धरातलों के उत्कर्ष की भी जाँच कर लेता है, जिससे उसे दोनों छोरों के बीच सम्बन्ध स्थापित कराने में स्वाभाविक सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ।

प्रसिद्ध समीक्षक सैवरी ने अपनी "द आर्ट ऑफ ट्रान्सलेशन"-नामक पुस्तक में अनुवाद-कार्य के विषय में कई-एक सामान्य सूत्र उपस्थित किये हैं—

(१) अनुवाद में मूल ग्रंथ के शब्दार्थ अक्षुण्ण रहने चाहिए।

(२) मूल ग्रंथ के आदर्श को विकृत करना उचित नहीं है।

(३) अनुवाद से पाठकों को यही प्रतीत हो कि उन्हें मूल ग्रंथ का ही आनन्द मिल रहा है।

(४) फिर भी उसे ऐसा लगना चाहिये कि वह मूल ग्रंथ नहीं, उसका अनुवाद पढ़ रहा है।

(५) मूल ग्रंथ की शैली का भरसक अनुसरण करना श्रेयस्कर है।

(६) और, यदि अपरिहार्य हो तो अनुवादक मूल ग्रंथ के अंश-विशेष में परिवर्द्धन और परिवर्तन भी कर सकता है।

(७) गद्य का अनुवाद गद्य में और पद्य का अनुवाद पद्य में ही होना चाहिये।

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सिद्धांत-समूह सर्वसम्मत नहीं हो सकेंगे। फिर भी, एक सर्वनिम्न आदर्श के हिसाब से इन्हें ग्रहण किया जा सकता है। (श्रीविश्वबंधु भट्टाचार्य—अनुवाद : विषय और विवेचन, पुस्तक-जगत्, फरवरी, १९६०।

ऊपर जो सिद्धांत-सूत्र दिये गये हैं, उनसे पहली अनिवार्य शर्त यह प्रकट होती है कि अनुवादक को दोनों भाषाओं का इस हद तक विज्ञ होना चाहिये कि वह जिस भाषा

से अनुवाद कर रहा है, उसकी सभी विलक्षणताओं और मर्म को हृदयंगम कर सके, तथा जिस भाषा में अनुवाद कर रहा है, उसमें उन तत्त्वों को उसकी स्वभावानुकूल विलक्षणताओं के साथ उतनी ही सशक्त अभिव्यक्ति दे सके। यह तभी हो सकता है जबकि अनुवादक मूल लेखक और अपने पाठकवर्ग से भी बड़ा भाषाविद् हो। उसकी स्थिति उस दुभाषिये की होती है, जो एक दूसरे की भाषा से सर्वथा अपरिचित दो बड़े राजनीतिज्ञों के गंभीर विचार-विमर्श में भाग ले रहा हो। अनिवार्य यह है कि दोनों का अगाध विश्वास उसे प्राप्त होना चाहिये—कि, वह जो वहाँ की बात यहाँ और यहाँ की बात वहाँ कर रहा है—उसमें उसने पूरी ईमानदारी निभायी है। अतएव, "साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से अनुवादक की महत्ता मौलिक रचनाकार से किसी तरह कम नहीं; बल्कि वह यदि राष्ट्र-सेवा का भी गर्व करे तो अनुचित न होगा। विविध भाषाओं को परस्पर निकटतर लाने का प्रयत्न करके वह राष्ट्र की सेवा करता है—इसमें संदेह नहीं।" (श्रीमहेन्द्र चतुर्वेदी—अनुवाद की समस्याएँ, भाषा, वर्ष १—अंक २) श्रीसुनील गंगोपाध्याय ने भी यही बात कही है—"अच्छे अनुवादक की तुलना एक अच्छे देशभक्त के साथ करना उचित ही होगा।" (स्मृति-उपायन—अ० भा० हिन्दी-प्रकाशक-संघ, छठा अधिवेशन) अनुवादक अपनी इसी ईमानदारी में वास्तविक गौरव का अनुभव करता है। कूपर ने होमर का अनुवाद करते समय कहा भी है—"My chief boast is that I have adhered closely to the original" (श्रीविश्वबंधु भट्टाचार्य के निबंध में उद्धृत)

उपागमन-रथ्याएँ

ऊपर हमने अनुवाद की उपमा सेतु से दी है और सभी सेतु के लिए उपागमन-रथ्याएँ होती हैं। अनुवाद की उपागमन-रथ्याएँ क्या हैं? यह अनुवादक के मन पर नहीं है कि वह जिस-किसी भाषा से जिस-किसी ग्रंथ का अनुवाद प्रस्तुत कर दे। अनुवादक सेतु-शिल्पी की तरह पाठक-वर्ग की आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है। 'कल्याण' प्रतिवर्ष किसी-न-किसी पुराण का अनुवाद प्रस्तुत कर लाखों प्रतियाँ बेच लेता है, उस सीमा तक शेक्सपियर के अनुवाद हिन्दी में नहीं हुए। हिन्दी के प्रत्येक पत्र के संपादक और कुछ हों या न हों, अच्छे-बुरे अनुवादक अवश्य होते हैं, पर उनमें से कितनों ने रिचर्ड्स के Principles of Literary criticism" या इलियट के निबंधों के अनुवाद की बात सोची है? 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या हिन्दी में सबसे अधिक है, और उन ग्राहकों में सबसे अधिक संख्या उन व्यक्तियों की है, जो कुछ हद तक धार्मिक हैं। बाद में समाचार-पत्रों की ग्राहक-संख्या आती है, जिन्हें रोज-ब-रोज खबर चाहिये। यही कारण है कि सर्वाधिक अनुवाद या तो धार्मिक ग्रंथों का होता है, नहीं तो समाचारों का। हमारे निन्यानबे प्रतिशत अनुवादक इन्हीं दो क्षेत्रों में नियुक्त हैं। दिल्ली में अनुवादकों की एक अच्छी संख्या दूतावासों से सम्बद्ध है—वहाँ के प्रचारात्मक साहित्य

को जल्द-से-जल्द हिन्दी में प्रस्तुत करने के लिए। तीसरा कारण यह है कि वर्त्तमान स्थिति में हिन्दी का जो पाठक शेक्सपियर और रिचर्ड्स से गहरा परिचय प्राप्त करना चाहता है, वह कुछ अंशों तक शेक्सपियर और रिचर्ड्स से अंग्रेजी के माध्यम से ही परिचय प्राप्त कर चुका है। इसलिए अनुवाद की उपागमन-रथ्याएँ दो होती हैं—एक इस पार की—पाठक-वर्ग की, और एक उस पार की—किसी विदेशी भाषा या ग्रंथ की। नदी तो हजार-हजार मील लंबी होती है, पर देखना यह है कि पाठक किस घाट से उस पार जाना चाहता है। जिस घाट से आवागमन अधिक होता है, सुविधाओं की गुंजाइश अधिक होती है, वहीं पर पुल बनाया जाता है। रेल के लिए मोकामा में पुल बना तो पटनेवालों को संतोष नहीं हुआ। वे पटने में भी गंगा पर पुल चाहते हैं। हिन्दी में तात्सताय के अनुवाद हैं, शोलाखोव की कई पुस्तकों के नहीं। पर हिन्दी के पाठकों को एक दिन अहले-सुबह पेस्टरनाक के 'डा० जिवागो' का अनुवाद चाहिये। शोलोखोव धरे रहे गये, 'पेस्टरनाक' हिन्दी में झट आ गये, गोकि किसी भी प्रकार से पेस्टरनाक शोलोखोव का मुकाबला नहीं कर सकते। उस पार की रथ्या भी वहाँ की धरती पर निर्भर करती है, यद्यपि दोनों रथ्याएँ अन्योन्याश्रित हैं। मान लीजिये, नदी के इस पार खेत हैं और उस पार कारखाने। तो निश्चयात्मक रूप से, इस घाट से, इस पार से मजदूर जायँगे, किसान जायँगे, अनाज जायेगा, बैलगाड़ियाँ जायँगी। उस पार से तैयार माल आयगा, धुआँ आयगा, औद्योगिक विभीषिकाएँ आयँगी, रुपया आयगा। अंग्रेजी में संस्कृत के लगभग सभी अच्छे ग्रंथों के अनुवाद हैं,—१६ वीं शती के प्रारम्भ में वहाँ पूर्व को जानने की जो उत्कट आकांक्षा जागरित हुई थी, उसके फलस्वरूप यह कार्य हुआ ; अंग्रेजों ने भारतवर्ष की लगभग सभी भाषाओं का अध्ययन अंग्रेजी में प्रस्तुत किया—अपने राज्य-काल में यहाँ के लोगों को जानने-समझने की जो अनिवार्यता आ गयी थी, उसके फलस्वरूप यह कार्य हुआ ; नवलकिशोर प्रेस से उर्दू में अनेक हिन्दू धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद प्रस्तुत हुए—तब के हिंदू भी अनिवार्य रूप से फारसी लिपि जानते थे, उसके फलस्वरूप यह कार्य हुआ। अंग्रेजी में 'कामायनी' का अनुवाद नहीं है, 'नदी के द्वीप' का नाम भी उन्होंने नहीं सुना और 'भारत-भारती' का अनुवाद वे कैसे प्रस्तुत करते ? उनके यहाँ मंगोलियन भाषा का अध्ययन नहीं किया गया, अफ्रिका की बहुत सारी भाषाएँ अब भी वहाँ अछूती हैं—उन्हें क्या जरूरत थी इन भाषाओं के अध्ययन की ? नवलकिशोर प्रेस ने फारसी लिपि जाननेवाले हिन्दुओं के लिए धार्मिक ग्रंथ उर्दू में प्रकाशित किये, पर पृथ्वीराजरासो, शिवराजभूषण का अनुवाद नहीं प्रस्तुत किया। डा० प्रभाकर माचवे लिखते हैं—"इससे उलटे 'हिन्दी से उर्दू में तर्जुमा कितना और क्या हुआ है, यह सोचने की और गौर करने की बात है। संस्कृत से, बँगला से और प्रेमचंद तक कुछ हिन्दी-किताबों के तर्जुमे उर्दू में जरूर हुए हैं, मगर सन् १६३० (तिथि पर ध्यान दिया जाय—लेखक) के बाद से अबतक के उर्दू-साहित्य में हिन्दी

या अन्य भारतीय भाषाओं से उर्दू-अनुवाद बहुत कम मिलेंगे। उसकी वजह शायद यह है कि जो हिन्दी सीखना चाहते हैं, वे हिन्दी से ही पढ़ लेते हैं। (माचवे साहब इस समय उस साहित्य-अकादमी के अधिकारी थे, जिसके अध्यक्ष पंडित नेहरू हैं--लेखक) 'हिन्दी छुट किसी और भाखा की पुट' हिन्दी में न हो, ऐसा तो इन्शाअल्ला, कुछ संकीर्णतावादियों को छोड़ किसी का दावा नहीं। मैं इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहता, (इस सादगी पै कौन न मर जाय ऐ खुदा--ले०) केवल एक तथ्य-कथन कर रहा हूँ कि दोनों भाषाओं की प्रवृत्तियाँ भिन्न दिशाओं में कैसे बढ़ रही हैं, चाहे अनजाने ही क्यों न हो। कभी-कभी तो बहुत नेक इरादों से बात यह हो ही रही है। अलगाव न चाहकर भी जैसे दोनों को मिलाकर एक बनाने के सब कृत्रिम प्रयत्न कुछ कामयाब नहीं हो रहे हैं।''—(अनुवाद की समस्या : हिन्दी और अन्य भाषाएँ—राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।)

इसलिए, अनुवाद की सबसे पहली समस्या पाठक की ओर की रथ्या को अच्छी तरह समझ लेना है। अनुवादक को सबसे पहले इसे ध्यान में रखना है कि १. पाठक-वर्ग कैसा है, और २. वह क्या चाहता है। आगे हिन्दी को लेकर हम इस समस्या पर विचार करेंगे।

उस पार की रथ्या के सम्बन्ध में मैं श्रीसुनील गंगोपाध्याय का एक संस्मरण प्रस्तुत करता हूँ—''एक दफा किसी विख्यात लेखक के पास उनकी किसी विख्यात उपन्यास-कृति का अनुवाद अंग्रेजी में करके कहीं प्रकाशित करने की मैंने प्रार्थना की। उन्होंने पहले उत्साहित होकर बाद में उस उपन्यास-कृति के अनुवाद के विषय में आपत्ति की। मैंने उनकी दूसरी उपन्यास-कृति के विषय में चर्चा की, किन्तु उसके विषय में भी उन्हें हुई आपत्ति। अन्त में इसी प्रकार लगातार चार उपन्यास-कृतियों के विषय में मुझे अनुत्साहित करने के बाद, वे अपनी एक विशिष्ट पाँचवीं उपन्यास-कृति के विषय में उत्साहित करने की चेष्टा कर सके। उनके इस प्रकार के व्यवहार का कारण स्पष्ट है। उन चारों उपन्यास-कृतियों में किसी दूसरे देश की उपन्यास-कृति की भित्ति की अवश्य ही चोरी थी।'' (ग्रंथों के अनुवाद के विषय में—स्मृति-उपायन, ज्ञानपीठ, पटना) मेरा भी एक अनुभव ऐसा ही है। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध कवि के साहित्यिक लेखों का अनुवाद मैंने बड़े परिश्रम से हिन्दी में प्रस्तुत किया। मित्रों को भाया भी। मैंने प्रयत्न किया था कि लेखक की शैली को, उसके विराम-चिह्नों तक को भरसक यथावत् रखूँ। उसके प्रकाशन की स्वीकृति के लिए जब लेखक-प्रकाशक के पास लिखा गया तो प्रकाशक ने स्पष्टतः नकार दिया, और लेखक ने तो पत्र का उत्तर तक नहीं दिया। प्रकाशक के स्वीकृति न देने के पीछे उसकी व्यावसायिक बुद्धि काम कर रही थी। उसने शायद यह सोचा हो कि अभी तो भारत में उसकी पुस्तकों की काफी खपत हो जाती है, यदि कहीं ''भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी' (मैंने उसके पास ऐसा ही लिखा था) में लेख

अनूदित हो गये तो उसकी वे सभी पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में पड़ी रह जायँगी, जिनमें कि वे लेख संगृहीत हैं।

अनुवादक की अन्य कठिनाइयाँ

अनुवादक जब अनुवाद-प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है तो उसे कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। डा० माचवे के अनुसार—"अनुवाद एक कला है। वह निरा भाषांतर नहीं, वैसी ही निरी भाव-छाया पर आधारित स्वतंत्र रूपांतर नहीं। वह तंत्र-विद्या के परकाय-प्रवेश-जैसा कठिन कार्य है। वह निरा बहुरुपियापन नहीं, न ही वह निरा किसी अन्य भाषा का मुखौटा ओढ़ लेना है।" (अनुवाद की समस्या : हिन्दी और अन्य भाषाएँ) वे समस्याएँ हैं—

(१) जिस विषय की रचना है, उसकी पारिभाषिक शब्दावली,

(२) विषय की गूढ़ता और इंजीनियरी आदि विषयों में कार्य-पद्धति, प्रक्रियाओं तथा वैज्ञानिक क्रियाओं का समुचित ज्ञान,

(३) दोनों भाषाओं के वाक्य-विन्यास की भिन्नता,

(४) अनुवाद की भाषा तथा अनुवाद की भाषा और मूल की भाषा में परस्पर कोई सांस्कृतिक अथवा आनुवंशिक संबंध है या नहीं ? और,

(५) अनुवाद किसके प्रति उद्दिष्ट है ? [विस्तार के लिए देखिये, भाषा—वर्ष १, अंक २-३ में श्रीमहेन्द्र चतुर्वेदी और श्रीरामचंद्र तिवारी के लेख]

इन समस्त समस्याओं को पार कर चुकने के पश्चात् अनुवादक कलाकार बन जाता है और तब उसकी समस्याएँ एक कलाकार की सामान्य समस्याओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। वे समस्याएँ दो प्रकार की होती हैं—"प्रथम को हम अर्थवत्ता-बोध का अवस्थान कह सकते हैं और दूसरे को सम्प्रेषण का।...मूल रचना के इस सर्वाङ्गबोध के लिए आवश्यक है कि अनुवादक मूल रचनाकार के साथ और साथ-ही-साथ उसके कृतित्व के साथ पूर्ण तादात्म्य कर ले।" (श्रीमहेन्द्र चतुर्वेदी) इसी सिलसिले में उसे शब्द के पूर्ण ज्ञान, उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियों, रूढ़ियों, परम्पराओं और संस्कार के ज्ञान की अपेक्षा होती है। रचना या रचनाकार के प्राण को "हृदयंगम करने के लिए भाषा के हर शब्द का अंतरंग परिचय, उसकी व्यंजना और लक्षणा-शक्ति का आकलन, शब्द-विन्यास और ध्वनि-प्रतिमान की समझ—ये सभी आवश्यक हैं। इसके बिना अनुवादक कभी कृतकार्य नहीं हो सकता।" (वही) इस मानसिक प्रक्रिया की परिणति दूसरे अवस्थान—सम्प्रेषण—में होती है। सम्प्रेषण की सफलता ही अर्थवत्ता की क्षमता की कसौटी है। यहीं पर अनुवाद की भाषा में अनुवादक की क्षमता का ज्ञान होता है। यहीं पर अनुवादक यह निर्णय करता है कि वह शब्दशः अनुवाद प्रस्तुत करेगा या वाक्य को इकाई के रूप में ग्रहण करेगा। शब्दशः अनुवाद करने में अर्थ पर आघात पड़ता

है। वाक्य को इकाई के रूप में ग्रहण करने पर जहाँ एक ओर सुबोधता की रक्षा होती है, वहीं मूल भाषा की प्रकृति और शैली का भी निर्वाह हो जाता है।

हिन्दी का अनुवाद-साहित्य

हिन्दी में अनुवाद-साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक तीन दशकों में प्रमुख रूप से निर्मित ही नहीं हुआ; बल्कि प्रधान भी रहा है। इस अवधि में हिन्दी में अधिकतर अनुवाद-साहित्य का ही सर्जन हुआ है। इसका कारण यह हो सकता है कि किसी भी साहित्य को अपने प्रारम्भिक काल में किसी-न-किसी समुन्नत साहित्य का आश्रय लेना ही पड़ता है। हिन्दी के सामने इस अवधि में चार प्रधान साहित्य थे—संस्कारों और परंपराओं के ज्ञान एवं सुरक्षा के लिए संस्कृत-साहित्य, विशिष्ट राजनीतिक एवं सामाजिक अनिवार्यताओं के चलते फारसी-उर्दू साहित्य, नव विचार एवं नव परिवेश से तादात्म्य स्थापित करने के लिए अंग्रेजी-साहित्य एवं भारत में नवजागृति का प्रथम मंत्रोच्चारण करने के कारण भावात्मक दृष्टि से सर्वाधिक आकर्षक बँगला-साहित्य।

हिन्दी के तथाकथित आरंभिक नाटक 'आनन्द-रघुनन्दन', 'हनुमन्नाटक' आदि संस्कृत के छायानुवाद ही हैं। इनके उपरान्त कलकत्ते के फोर्टविलियम कालेज के अन्तर्गत, जबकि हिन्दी-गद्य अपनी शैशवास्था से गुजर रहा था, अधिकांश अनुवाद ही होता रहा। उधर राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृत से हिन्दी-अनुवाद कर रहे थे। अतएव, यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पचास वर्षों में अधिकतर संस्कृत से ही हिन्दी अनुवाद अधिक हुआ है। सुखसागर, विश्रामसागर, प्रेमसागर आदि भी संस्कृत के ही अनुवाद हैं। इसी काल में 'इन्दर-सभा', 'किस्सा हातिमताई' आदि कथा-ग्रंथों तथा ऐयारी और तिलस्मी कथा-साहित्य का निर्माण भी अनुवाद के माध्यम से ही हुआ। कहानियों और कुछ-कुछ नाटकों के अतिरिक्त वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ तथा इण्डियन प्रेस, प्रयाग ने पुराणों, धर्मशास्त्रों एवं रामायण-महाभारत आदि संस्कृत के आकर ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित कर इस दिशा में हिन्दी को सबल और समृद्ध बनाने का सराहनीय प्रयत्न किया तथा हिन्दी में नवीन शैलियों के प्रयोग के द्वार उन्मुक्त किये। कुछ बाद चलकर वैदिक यंत्रालय (अजमेर), स्वाध्यायमंडल (सतारा), डी० ए० वी० कालेज (लाहौर), मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर), चौखंभा (काशी) तथा गीता-प्रेस (गोरखपुर) ने वैदिक और संस्कृत-वाङ्मय के प्रामाणिक और कुछ हद तक वैज्ञानिक अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयत्न किया।

अंग्रेजी से सबसे पहले नाटकों और निबंधों का ही अनुवाद शुरू हुआ जान पड़ता है। पारसी-थियेटरों के तत्त्वावधान में अंग्रेजी के लगभग सभी रोमांटिक नाटककारों के कुछ-न-कुछ नाटक अनुवादित हुए, जिनसे यहाँ की तत्कालीन रुचि के

अनुकूल अवांतर प्रसंग भी जोड़ दिये गये हैं। भारतेन्दु ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम उठाकर हिन्दी को अंग्रेजी और बँगला के नाटकों से परिचित कराया तथा अपनी गोष्ठी के अन्य लेखकों को भी इस दिशा की ओर उन्मुख किया। भारतेन्दु ने स्वयं भी 'नीलदर्पण' का अनुवाद किया। "और बाद में नाटक, उपन्यास तो अगणित अनूदित हुए। राखालदास बंद्योपाध्याय प्रभातकुमार मुखर्जी, बंकिम, रवीन्द्र, शरत्, ताराशंकर, बरेनबसु, भवानी भट्टाचार्य, प्रबोध सान्याल आदि सभी के उत्तमोत्तम कथा-साहित्य का अनुवाद उपस्थित है। निरालाजी, रूपनारायण पांडेय, धन्यकुमार जैन, हंसकुमार तिवारी, महादेव साहा, जगत शंखधर आदि अनेक लोगों के हम ऋणी हैं। विवेकानंद और रामकृष्ण की सब रचनाएँ हिन्दी में आ गयीं।" (प्रभाकर माचवे)

भारतीय भाषाओं में बँगला के बाद सबसे अधिक अनुवाद गुजराती ग्रंथों के हुए। नरसी, मीरा, प्रेमानंद, दयाराम आदि की रचनाएँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। क० मा० मुंशी और लीलावती मुंशी के प्रायः सब ग्रंथ हिन्दी में अनूदित हैं। दोनों साहित्यों के वैष्णव-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन डा० जगदीश गुप्त ने प्रस्तुत किया है। पुनः राष्ट्रपिता के प्रभाव के कारण भी गुजराती का अधिकांश गांधी-साहित्य, सर्वोदय साहित्य और काका कालेलकर के निबंध आदि हिन्दी में उपलब्ध हैं। मराठी से भी ज्ञानेश्वर, रामदास, तुकाराम, तिलक, कोसांबी, खांडेकर और वरेरकर आदि के साहित्य हिन्दी में पर्याप्त परिमाण में अनूदित किये गये हैं। हिन्दी और मराठी संतों के परस्पर प्रभाव पर डा० विनयमोहन शर्मा ने कार्य किया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जब से हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आरूढ़ हुई है, तब से भारतीय भाषाओं से अनुवाद के कार्य में काफी प्रगति दिखाई पड़ रही है। साहित्य-अकादमी और राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इस प्रकार कई भाषाओं से अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद प्रस्तुत किया है और ये दोनों संस्थाएँ इस दिशा में काफी प्रयत्नशील हैं।

ऊपर हमने जिन उपागमन-रथ्याओं की चर्चा की है, उनका प्रभाव यहाँ भी है। अनुवादकों का ध्यान विशेष कर कथा-साहित्य की ओर ही है। वाङ्मय की अन्य विधाओं के अनुवाद के दर्शन यदा-कदा ही होते हैं।

हिन्दी में अनुवाद की समस्याएँ

हिन्दी में अनुवाद की प्रधानतः तीन दिशाएँ हैं। प्रथम तो यह कि इसे झटपट राज्य-कार्य के उपयुक्त बन जाना है, इसलिए इसमें राज्य-कार्य-सम्बन्धी सभी पारिभाषिक शब्दों, अभिलेखों, टिप्पणियों, सूचनाओं आदि का प्रारूप तैयार हो जाना चाहिये। और, चूँकि यह हस्तान्तरण अंग्रेजी से होगा, इसलिए अंग्रेजी में जो शब्द चल रहे हैं, जिस प्रकार के अभिलेख, टिप्पणी और सूचना के मजमून तैयार हैं, यदि उनसे अच्छा नहीं तो कम-से-कम वैसे ही शब्द और मजमून हिन्दी में तैयार हों। द्वितीय यह कि इसे विश्वविद्यालयों के सभी स्तरों पर शिक्षा का माध्यम बनना है, इसलिए इसमें शिक्षा-

सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों की बहुलता होनी चाहिये। और, चूँकि यह हस्तान्तरण भी अंग्रेजी से होगा, इसलिए अंग्रेजी में जैसे पाठ्य ग्रन्थ चल रहे हैं, यदि उनसे अच्छे नहीं तो कम-से-कम वैसे ही पाठ्य ग्रन्थ हिन्दी में तैयार हों। और, तृतीय यह कि इसे देश की एकता बनाये रखनी है, इसलिए इसमें सभी भारतीय भाषाओं के प्रचलित ग्रन्थों का अनुवाद होना चाहिये, जिससे यह सीना तानकर कह सके कि इसमें सभी भारतीय भाषाओं को प्रतिनिधित्व मिल जाता है, चाहे वह कैसा भी क्यों न हो।

प्रथम दिशा के अन्तर्गत सबसे आगे डा० रघुवीर और भारत-सरकार का शिक्षा-मंत्रालय आये। दोनों ने अपने-अपने विशालकाय कोश प्रकाशित किये और अंग्रेजी शब्दों के आदर्श पर नये शब्द गढ़े, पुराने शब्दों का पता लगाया और इस प्रकार हिन्दी की मरम्मत की कि एक ने किरानी बाबू तक को 'लिपिक' कहना चाहा तो दूसरे ने 'क्लर्क' कहना अच्छा समझा। दोनों में से किसी को 'किरानी' का पता था या नहीं, पता नहीं। शिक्षा-मंत्रालय की ओर से प्रकाशित होनेवाली "भाषा" अपने प्रत्येक अंक में "सरकारी काम-काज में हिन्दी"-शीर्षक से सरकारी विज्ञापनों आदि के "दो-दो नमूने" प्रकाशित कर रही है और सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही है कि 'Form' के लिए 'फार्म' स्वाभाविक है कि 'प्रपत्र'। (विशेष सूचनाओं और विचारों के लिए देखिये "पारिभाषिक शब्दावली"-शीर्षक लेख।)

द्वितीय दिशा के अंतर्गत साहित्य और साहित्येतर शास्त्रों के लिए जो पाठ्य पुस्तकें तैयार हुईं या हो रही हैं, उनमें कोई एकरूपता नहीं है। वस्तुतः, इस दिशा में पारिभाषिक शब्दावली का कम महत्त्व नहीं है। कुछ पाठ्य पुस्तकें तो ऐसी तैयार हुईं, जिनकी भाषा पूरी तरह खिचड़ी थी, वैसी ही जैसी कि अंग्रेजी माध्यम से प्रशिक्षित अध्यापक अपने उन छात्रों को पढ़ाया करते हैं, जो हिन्दी माध्यम ग्रहण कर चुके हैं। कुछ की भाषा और पारिभाषिक शब्दावली एकदम विशुद्धतावादी दृष्टिकोण से तैयार किये गये हैं, जो कि वस्तुतः छात्रों के लिए अंग्रेजी की ही तरह कठिन सिद्ध हो रही हैं। इन कठिनाइयों को देखते हुए अब लोगों का यह विचार होता जा रहा है कि विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्रों में उच्चतम शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त ऐसे लोग व्यावहारिक पक्ष को प्रधानता देते हैं और समझते हैं, कि हमारी तात्कालिक आवश्यकता विज्ञान और तंत्र-विशारदों को तैयार करना है, जो विश्व के सतत विकसित ज्ञान को तत्क्षण हृदयंगम करें और देश की बहुमुखी उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकें। ऐसा तभी हो सकता है जबकि शब्दावली अंतर्राष्ट्रीय ही रहे। हाँ, अन्य विषयों में देशी भाषाओं का माध्यम अपनाया जा सकता है। इसके विरुद्ध वे आदर्शवादी हैं, जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं देश के स्वतंत्र गौरव के अनुकूल सारी शब्दावली संस्कृत के ही आधार पर बनाकर लागू करना चाहते हैं। तीसरा वर्ग बीचवाला है, जो प्रयत्नों और प्रयोगों द्वारा सिद्ध किसी भी भाषा के शब्द को अंगीकार कर लेने के पक्ष

में है। इस आपा-धापी में हमारे यहाँ सस्ती पाठ्य पुस्तकों के सस्ते-अधकचरे अनुवाद भले ही प्राप्त हों, अच्छी पुस्तकों के अच्छे अनुवाद कम ही उपलब्ध हैं।

इधर शिक्षा-मंत्रालय ने विश्वविद्यालय-स्तर की पाठ्य पुस्तकों को लिखवाने और अनूदित कराने के सम्बन्ध में एक योजना तैयार की है, जिसके अनुसार लगभग दो सौ चुनी हुई पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयों और राज्य-सरकारों द्वारा केन्द्रीय सरकार के व्यय पर निर्मित हो रही हैं। इनमें भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का प्रयोग अनिवार्य रूप से होगा। संदर्भ ग्रन्थों के अनुवाद की समस्या फिर भी रह ही जायगी। प्रसन्नता की बात है कि हमारे प्रकाशक इस सम्बन्ध में अब ध्यान देने लगे हैं। ऐसे प्रकाशकों को इस प्रकार के साहित्य के निर्माण के लिए समुचित सहायता देने का वचन भारत-सरकार ने दिया है।

तृतीय दिशा के अंतर्गत भी काफी कार्य हो रहे हैं, और जैसा कि मैंने पहले कहा है—कथा-साहित्य को लेकर तो विशेष रूप से। साहित्य-अकादमी, राजपाल ऐण्ड संस, साहित्य-सम्मेलन आदि कतिपय ऐसी संस्थाएँ हैं, जो अन्य भारतीय भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित कर रही हैं। यह ठीक है कि अभी उनका ध्यान कथा-साहित्य पर विशेष रूप से केन्द्रित है, पर इसके साथ यह भी सत्य है कि हिन्दी का पाठकवर्ग वही साहित्य अधिकतर खरीदता भी है। हमें आशा रखनी चाहिये कि हमारा अनुवाद-कार्य जब इन प्रारंभिक विकृतियों से मुक्त हो जायगा और हमारी रुचि जब और अधिक परिष्कृत हो जायगी तब हम दूसरे प्रकार के साहित्य का भी अनुवाद प्रस्तुत करेंगे और पढ़ेंगे।

हिन्दी अनुवादक की स्थिति

हिन्दी में "दुर्भाग्यवश अबतक अनुवाद को जूठन और अनुवादक को जूठनखोर-जैसा माना जाता रहा है। यह धारणा-सी बन गयी है कि जो व्यक्ति साहित्य-सर्जन में अपने को अक्षम पाता है, वही अनुवाद का सहारा लेकर साहित्य-रचना-सम्बन्धी अपनी भूख मिटाता है। इसी कारण उसे हीन दृष्टि से देखने का भी रिवाज चल पड़ा।" (विद्या-भूषण 'श्रीरश्मि'—अनुवाद की वास्तविक समस्याएँ, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १७ जून, १९६२) यही कारण है कि हमारे यहाँ अच्छे अनुवादकों की, अतएव, अच्छे अनुवादों की भी, कमी है। हमारे अधिकांश अनुवादक समाचार-पत्रों के कार्यालयों में नियुक्त हैं और वे सिर्फ एक ही भाषा से अनुवाद प्रस्तुत करते हैं—अंग्रेजी से। समाचार-पत्रों के अनुवादकों के सामने कई कठिनाइयाँ रहती हैं। उनके पास समय का इतना अभाव और कार्यालय का इतना दबाव रहता है कि नियमतः उन्हें छह घण्टों की शिफ्ट में कम-से-कम तीन अखबारी कालमों का अनुवाद प्रस्तुत करना पड़ता है। निश्चय ही वे मूल की भाषा के साथ वह न्याय नहीं कर सकते, जो अपेक्षित है। दूसरी प्रधान कठिनाई स्थान की है। समाचारों के अनुवाद के समय उन्हें अपने समाचार-पत्र के स्थान का भी

ध्यान रखना पड़ता है तथा मुद्रण की सुविधाओं का भी। फलतः वे अत्यावश्यक अंशों का ही अनुवाद करते हैं। साधारणतः होता है यह कि वे मूल समाचार को तेजी से पढ़ जाते हैं और तब स्थान, मुद्रण, समय आदि का ध्यान रखते हुए अपनी भाषा में झटपट एक सार तैयार कर देते हैं। कठिनाइयों की कड़ी यहीं नहीं समाप्त हो जाती-- उन्हें इसका भी ध्यान रखना पड़ता है कि भाषा 'अखबारी' हो; क्योंकि ये समाचार-पत्र जिस पाठक-वर्ग के पास पहुँचते हैं, उसका सामान्य स्तर कैसा है, यह किसी से छिपा नहीं। और सबसे बड़ी बात यह है कि ये अनुवादक पेशे से अनुवादक हैं, रुचि से नहीं; जिनकी रुचि भी है तो वे समझते हैं, या कम-से-कम अज्ञात रूप से यह विचार काम करता रहता है कि उनकी 'कृति' को, अच्छी-से-अच्छी होने के बावजूद चौबीस घंटे से अधिक स्थायित्व नहीं प्राप्त हो सकता। हिन्दी-अनुवादक-वर्ग का बहुलांश इतनी कठिनाइयों और विकृतियों से ग्रस्त रहता है। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि दैनिक समाचार-पत्र में काम करनेवाले व्यक्ति के अनुवाद का जो निम्न स्तर रहता है, वही स्तर उस व्यक्ति के उस अनुवाद का नहीं रहता जो कि एक साप्ताहिक, मासिक या किसी पुस्तक का होता है। स्थायित्व का यह बढ़ता हुआ क्रम उसके अनुवादों को भी क्रमशः निखारता चला जाता है। यही कारण है कि दैनिक समाचार-पत्र का कोई भी सह-संपादक (जो कि अनुवाद छोड़कर और कुछ नहीं करता) अनुवादक कहने पर चिढ़ जाया करता है, जब कि वही किसी स्थायी पुस्तक का अनुवादक होने पर दूसरों से यह कहता चलता है कि उसने अमुक पुस्तक का अनुवाद भी किया है।

जब अंग्रेजी से अनुवाद की यह हालत है तो अन्य विदेशी भाषाओं से अनुवाद का क्या कहना? अंग्रेजी पर अंग्रेजों से अधिक भारतीयों को ही नाज है और उसके जाननेवाले, ४४-४५ करोड़ की जनसंख्यावाले इस महादेश में एक प्रतिशत तो अवश्य हैं। अंग्रेजी अर्थकरी भाषा रही है, है; अन्य विदेशी भाषा, जैसे--अरबी, फारसी जाननेवाले लोग अधिकतर विशिष्ट संप्रदायगत भावनाओं से ग्रस्त हैं; रूसी-चीनी जाननेवाले लोगों की हालत उससे कम नहीं, और मेरा खयाल है कि इसके बाद कोई और दूसरी विदेशी भाषा जाननेवाले लोग भारत में उँगली पर ही गिने जाने योग्य हैं। इसलिए, अंग्रेजी को छोड़ यदि और किसी विदेशी भाषा से अनुवाद होता है तो अधिकतर उसके अंग्रेजी अनुवाद से ही, और ऐसे अनुवादों के लिए बँगला भाषा के मर्मज्ञ पंडित श्रीललितमोहन गंगोपाध्याय का यह कथन बावन तोले पाव रत्ती ठीक कहा जायगा कि "साले के साले के साथ भी कुछ आत्मीयता रह सकती है, किन्तु अनुवाद के अनुवाद के साथ मूल की कुछ भी आत्मीयता नहीं हुआ करती।" (श्रीसुनील गंगोपाध्याय के लेख में उद्धृत)

अनुवाद के प्रकाशकों की स्थिति

प्रकाशक मसिजीवी नहीं होता, हो ही नहीं सकता; वह अर्थजीवी होता है। जो लेखक प्रकाशक बन जाते हैं, उनको भी ध्यान में रखकर यह बात कही जा रही है।

इसलिए अनुवाद के आर्थिक पहलू पर भी थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा। हिन्दी में या अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवादक और प्रकाशक के बीच अर्थ-सम्बन्धी समझौता कुछ इस प्रकार का होता है—"१२८ पन्नों के दो रुपये दामवाले एक अनुवाद-ग्रंथ के लिए अनुवादक पाते हैं सौ, दो सौ के बीच कुछ रुपये। एवं १२८ पन्नों के इसी मूल्य के एक स्वरचित उपन्यास के लिए कोई भी लेखक कम-से-कम तीन सौ रुपये तो पा ही जाता है। मामला यहीं नहीं खत्म होता; लेखक अपने उपन्यास के प्रत्येक संस्करण पर ही तीन सौ रुपये करके पाता जाता है, जबकि अनुवादक उस दो सौ रुपये के बाद, पुस्तक का कितना भी संस्करण क्यों न हो, उससे अधिक एक भी पैसा नहीं पाता है। इसलिए, अनुवाद-ग्रंथ-प्रकाशन के व्यवसाय में प्रकाशक खास लाभवान होते हैं। इसके अलावा, उन्हें मूल लेखक को भी पैसा नहीं देना पड़ता। छपाई-बँधाई के खर्च में भी प्रेस के दफ्तरी-कर्मचारी, अनुवाद के नाते, अन्य मूल उपन्यास-कहानियों के काम से अधिक पाने का दावा नहीं करते। इसीलिए देखने में आता है कि सिर्फ दो सौ रुपये देकर ही प्रकाशक हमेशा के लिए एक पुस्तक पा जाते हैं।" (श्रीसुशील गुप्त—अनुवादक की बात, पुस्तक-जगत्, फरवरी, १९६१) यही कारण है कि अनुवाद अच्छे नहीं होते। यह बात पाठ्य ग्रंथों के अनुवाद के प्रकाशकों के साथ नहीं है। उन्हें मूल पाठ्य ग्रंथ के प्रकाशक की अनुमति लेनी पड़ती है और अनुमति के लिए कुछ देना भी पड़ता है। फलतः, अर्थजीवी प्रकाशक अधिक-से-अधिक मुनाफा पाने के लिए एक तो तीसरी श्रेणी की या बहुत पहले मृत लेखक की कृतियों (विशेष कर कथा-कहानियों) को अनुवादित कराना चाहता है। दूसरे अनुवादक भी कम अर्थ-प्राप्ति के कारण जैसा-तैसा अनुवाद तैयार कर छुट्टी पा लेता है। पाठ्य ग्रंथों के प्रकाशन का हिसाब कुछ दूसरा चल रहा है। एक अच्छे पाठ्यग्रंथ के परिश्रम से तैयार किये अच्छे अनुवाद की तुलना में एक विषय पर पाँच-दस अंग्रेजी पुस्तकों को सामने रखकर एक स्वतंत्र पाठ्य ग्रंथ तैयार कर लेना और उसे स्कूल या विश्वविद्यालय के पाठ्य क्रम में खपा देना अधिक आसान हो गया है। एक अच्छा अनुवादक धूल चाटता रह जाता है, जहाँ कि इतिहास, अर्थशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, भौतिकी, रसायनशास्त्र, मनोविज्ञान, 'राजनीतिविज्ञान आदि विषयों में दस-पाँच विदेशी पुस्तकों को पढ़कर एक पाठ्य ग्रंथ तैयार कर लेनेवाला "लेखक" सिर्फ एक ही "अनुवाद" के प्रकाशन से दो-तीन वर्षों में (जबतक उसकी पुस्तक पाठ्य क्रम में है) नयी जमीन खरीदकर एक अच्छा-सा रहने योग्य मकान खड़ा कर लेता है। और यह तो सभी मानेंगे कि जितनी आसानी से एक पन्ना अपनी देशी भाषा लिखी जाती है, एक पन्ना अंग्रेजी का अनुवाद अपनी भाषा में कर लेने में उससे भी अधिक परिश्रम और अध्यवसाय खर्च होता है। आजकल अधिकांश साहित्येतर विषयों के प्राध्यापक-अध्यापक जो एक पखवारे के ही अन्दर 'लेखक-प्रकाशक' बन जाते हैं और चार-पाँच वर्षों में ही अच्छी-खासी सम्पत्ति अर्जित कर लेते हैं, उसके पीछे यही रहस्य है।

मोटे तौर पर, आज हमारे सामने हिन्दी-अनुवाद की यही समस्याएँ हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि इनके समाधान के रास्ते लोगों को मालूम नहीं। सच्ची बात यह है कि इनके समाधान को एक पवित्र कर्त्तव्य मानकर हम आगे नहीं बढ़ना चाहते। जबतक उपर्युक्त उपागमन-रथ्याएँ ठीक नहीं की जातीं, सेतु की कोई उपयोगिता नहीं रह जायगी और सेतु का शिल्पी? भगवान् ही उसका मालिक है!

—— ——

व्याकरण

इस समस्या पर विचार करने के पूर्व दो-तीन तथ्यपूर्ण बातों को स्पष्ट कर देना अत्यावश्यक है। साधारणतः, हमारी यह धारणा है कि व्याकरण भाषा का नियामक है, इसलिए भाषा को व्याकरण का ही अनुगमन करना चाहिये। पर, तथ्य ठीक इसके विपरीत है। व्याकरण, एक विशेष कालावधि में उच्चरित या लिखित भाषा के तथ्यों का क्रमबद्ध प्रकटीकरण भर है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वह भाषा का लक्षण-ग्रंथ है। व्याकरण भाषा की निष्पन्नावस्था का द्योतक होता है, इसीलिए उसे हमारे यहाँ शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। यही बात स्वीट महोदय ने भी कही है—व्याकरण के अध्ययन का प्रथम उद्देश्य भाषा के वैज्ञानिक तथ्यों का अनुशीलन है—जैसे वे हैं, न कि जैसा उन्हें होना चाहिये या कि जैसे वे भाषा की पूर्ववर्ती स्थिति में थे।

दूसरी तथ्यपूर्ण बात यह है कि आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के नियमन के क्रम में कतिपय ऐसे सिद्धांतों का दृढ़ता से पालन किया, जो भाषा के वास्तविक प्रयोगों पर आधृत न होकर, उनकी अपनी राय पर ही विशेष रूप से आधृत थे। वे मानते थे कि उनकी राय में यह होना चाहिये, वह नहीं। इस प्रकार अभिव्यक्ति के नियमन के लिए सहज प्रणाली को छोड़ उन्होंने कृत्रिम विधानों को कार्यान्वित किया। वे दबंग भी ऐसे थे कि दूसरों को उनका अनुकरण करना पड़ा। फलस्वरूप, नियमन के नाम पर प्रच्छन्न रूप से प्रामाणिकता का एक भ्रान्त मापदंड बनता चला गया, जिससे बहुत हदतक हम आज भी पीछा नहीं छुड़ा सके हैं। भाषा के परिचय-युग या विस्तार-युग में लिखे व्याकरणों की जो स्थिति होती है, वही स्थिति द्विवेदी-काल के सबसे बड़े वैयाकरण श्रीकामताप्रसाद गुरु की थी। गुरुजी ने स्वीकार किया है—"यह व्याकरण, अधिकांश में अंग्रेजी के ढंग पर लिखा गया है। अतएव हिन्दी के आधार तथा ढंग पर अभीतक कोई व्याकरण लिखा ही नहीं गया, यह कहना अत्युक्ति न होगी।" तब यह कहना असमीचीन नहीं कहा जा सकता कि "जिस प्रकार हिन्दी-काव्यशास्त्र के स्थान पर संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुवाद ने आसन जमा रखा है तथा अभीतक हिन्दी-काव्य-ग्रंथों का विश्लेषण कर हिन्दी-काव्यशास्त्र की रचना नहीं हुई है, उसी प्रकार हिन्दी का 'अपना' व्याकरण भी अभी लिखा जाना शेष है।" (राजेश्वर गुरु तथा व्रजवासीलाल श्रीवास्तव, हिन्दी-व्याकरण की समस्याएँ, हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष १२, अंक ३)

हिन्दी-व्याकरणों का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी का सबसे प्राचीन व्याकरण, शायद १७ वीं शती के अन्तिम चरणों में, मिर्जा खाँ-नामक व्यक्ति द्वारा फारसी-दाँ मुसलमानों के व्यवहार के लिए लिखा गया। पुस्तक फारसी भाषा में है और उसका नाम है 'तुहफतु-ल-हिन्द'। "इसके चार उदाहरण हैं। पहले में हिन्दी-ध्वनियों और उनकी विशेषताओं पर, दूसरे में हिन्दी-ध्वनियों की संख्या तथा क्रम और अरबी तथा फारसी से उनकी पहिचान के चिह्न, तीसरे में स्वरों के चिह्न तथा उनसे सम्बन्धित व्याकरण संबंधी-नियम, चौथे में व्यंजनों के साथ प्रयुक्त स्वर, उनके प्रकार तथा विशेषताएँ और भाषा के व्याकरण-संबंधी नियम दिये गये हैं जिसमें शब्द, सर्वनाम, उपसर्ग, प्रत्यय आदि पर प्रकाश डाला गया है।" दूसरी पुस्तक भी एक विदेशी द्वारा ही लिखी हुई मिलती है। शायद १७१५ ई० में जॉन जोशुआ केटेलर-नामक व्यक्ति ने डच भाषा में एक हिन्दी-व्याकरण तैयार किया था, जिसका लातिनी अनुवाद १७४३ ई० में हालैंड से ही प्रकाशित किया गया। "पुस्तक के प्रथम अनुच्छेद में ग्रंथकार ने नागराक्षर के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। शब्द-रूप में कर्तृकारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपादिक में पार्थक्य नहीं है। सर्वनाम के रूप; मत अव्यय का प्रयोग; ई तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक बन जाते हैं, इसके उदाहरण; विशेषण-पर्याय; विभिन्न प्रत्ययों के योग से कर्तृवाच्य विशेष्य बनाने की रीति के उदाहरण; और क्रियापद की आलोचना—यही विषय प्रस्तुत किये गये हैं।" इस पूरे व्याकरण से सुनीति बाबू के निष्कर्ष कुछ इस प्रकार हैं—"व्याकरण के सूत्र नितांत संक्षिप्त हैं, पर थोड़ा-सा भाषा-ज्ञान प्राप्त कराने के लिए काफी हैं। जो केटेलर ने हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी; उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ी बोली नहीं; बाजारू बोली है और विशेषतया बम्बई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिन्दुस्तानी है।"

केटेलर के समान ही कम-से-कम और आठ योरोपीय विद्वानों ने तो अवश्य ही, अपने देशवासियों को हिन्दुस्तानी भाषा सिखाने के लिए अपनी-अपनी भाषा में हिन्दी का जैसा-तैसा व्याकरण प्रस्तुत किया था। "परन्तु विदेशियों द्वारा लिखे जिन व्याकरणों का उल्लेख प्राप्त होता है, उनमें डा० जॉन बोर्थविक गिलक्राइस्ट का 'हिस्दुस्तानी-ग्रामर' (सं० १८४७–१७६० ई०); रोएबक का 'दि इंगलिश ऐंड हिन्दुस्तानी डिक्शनरी विथ् ए ग्रामर प्रिफ़िक्स्ड' (सं० १८६७–१८१० ई०), जिसका व्याकरण-भाग फोर्ट विलियम कॉलेज में पढ़ाया जाता था और टेलर के मतानुसार उस समय का सर्वोत्तम व्याकरण था; येट्स-कृत 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' (सं० १८८१–१८२४ ई०); प्लाट्स-कृत 'हिन्दुस्तानी ग्रामर'; पादरी आदम साहिब का 'हिन्दी व्याकरण', जो हिन्दी में लिखा गया था और डंकन फोरबस का लिखा 'ए ग्रामर आव दि हिन्दुस्तानी लैंगवेज', जो लंदन से (सं०

१६१२-१८५६ ई०) में छपा था और जिसकी एक प्रति नेशनल पुस्तकालय, कलकत्ता में रखी है, विशेष उल्लेखनीय हैं।" श्री गिलक्राइस्ट और फोरबस के बीच बीसों ऐसे व्याकरण उपलब्ध होते हैं, जो अनेक देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा निर्मित होकर देश-विदेश के अनेक स्थानों से प्रकाशित हुए। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार काशी के पादरी एथरिंगटन साहब द्वारा तैयार किया गया व्याकरण "भाषा-भास्कर" संभवतः किसी भी विदेशी द्वारा हिन्दी में तैयार किया गया पहला हिन्दी-व्याकरण है। यों भारतीयों द्वारा तैयार किये गये व्याकरणों में सबसे पहला नाम मौलवी अमानुल्ला के व्याकरण 'सर्फ-ए-उर्दू" तथा लल्लूलालजी के 'व्रजभाषा-व्याकरण" का आना चाहिये, जो कलकत्ते से ही क्रमशः १८१० और १८११ ई० में प्रकाशित हुए थे। विदेशियों द्वारा लिखित व्याकरणों में सर्वोत्तम केलॉग का 'ए ग्रामर आव हिन्दी लैंग्वेज' माना जाता है, जिसमें सर्वप्रथम सांगोपांग रूप से खड़ी बोली और उसकी सह-बोलियों, पूर्वी हिन्दी तथा उसकी उपबोलियों और तथाकथित बिहारी-भाषाओं के विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। डा० श्रीकृष्णलाल कहते हैं—"हिन्दी-व्याकरण के निर्माण का यह पहला दौर था, जिसमें विदेशी अथवा परदेशी विद्वानों ने विदेशियों और परदेशियों को हिन्दी सिखाने के लिए हिन्दुस्तानी या हिन्दी-व्याकरण लिखे। यूरोप-निवासी पादरियों और भाषाशास्त्रियों के व्याकरण यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण के नमूने पर लिखे गये थे और उनमें अधिकांश जनता की सामान्य बोलचाल की भाषा को आधार माना गया था।"

नयी शिक्षा-योजना के लागू होने पर, प्रारंभिक पाठशालाओं में छात्रों को हिन्दी भाषा सिखाने के उद्देश्य से देशी विद्वानों द्वारा जो व्याकरण लिखे गये, वहीं से हिन्दी-व्याकरण के निर्माण का दूसरा दौर शुरू होता है। यह काल निश्चयात्मक रूप से सिपाही-विद्रोह का है। बिहार में पं० श्रीलाल की 'भाषा-चंद्रोदय', उत्तर-प्रदेश में रामजसन पंडित की 'भाषा-तत्त्वबोधिनी', पंजाब में श्रीनवीनचंद्र राय की 'नवीनचंद्रोदय' आदि पुस्तकें छात्रों के बीच काफी प्रचलित थीं, फिर भी छात्रों की दृष्टि से अत्यधिक प्रामाणिक व्याकरण एथरिंगटन का 'भाषा-भास्कर' ही माना जाता था, जिसका निर्माण पं० विष्णुदत्त की सहायता से किया गया था।

१८७५ ई० में सितारे-हिन्द ने अपना 'हिन्दी-व्याकरण' प्रकाशित कराया, जिसकी भूमिका की कतिपय पंक्तियाँ आज भी व्याकरण-सम्बन्धी समस्याओं के मूल को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। राजा साहब लिखते हैं—"The absurdity began with the Maulvis and Pundits of Dr. Gilchrist's time, who being commissioned to make a grammar of the common speech of Upper India made two grammars, the one exclusively Persian and Arabic, the other exclusively Sanskrit and Prakrit. The Maulvis knew

nothing of Sanskrit and ignored the Aryan basis of the vernacular. The Pundits were equally intolerant in refusing to recognise semitic aftergrowth." यह तो सर्वविदित है ही कि सितारे-हिन्द ही वह पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा मानकर तत्कालीन भाषा-आंदोलन का सूत्रपात किया था। उनका व्याकरण "हिन्दी व्याकरण और उर्दू कवायद को निकट लाने का प्रयास" था, और वे "व्याकरण की एकता के माध्यम से इस खाई को पाटना चाहते थे।" १८७७ ई० में मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री का जो व्याकरण बिहार-बंधु प्रेस से प्रकाशित हुआ, उसमें भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया था। यह भी हिन्दी-उर्दू का एक मिला-जुला व्याकरण था। १८८५ ई० में प्रकाशित बाबू रामचरण सिंह द्वारा लिखित और अम्बिकादत्त व्यास द्वारा संशोधित 'भाषा-प्रभाकर' डा० लाल के अनुसार "विशुद्ध हिन्दी का व्याकरण था" और जो लेखक के अनुसार "उस शुद्ध हिन्दी भाषा की नियमावली दिखलाता है, जो प्रधान करके संस्कृत और प्राकृत से निकली है और जिसे गवर्नमेंट ने भी ठीक हिन्दी समझा है।" १६०६ ई० में बाबू श्यामसुन्दर दास का 'ऐन एलीमेंटरी ग्रामर ऑव हिन्दी ऐण्ड उर्दू' प्रकाशित हुआ, जिसमें स्पष्टतः "अंग्रेजी भाषा के व्याकरणों को आदर्श मानकर हिन्दी-उर्दू-व्याकरण की रचना की जाय तो उससे अंग्रेजी भाषा सीखने में सुविधा होगी"—यह सिद्धांत अपनाया गया।

निष्कर्ष यह कि अबतक जो व्याकरण-ग्रंथ रचे गये थे, उनमें अनेक अपरिहार्य कारणों से अंग्रेजी, संस्कृत और अरबी-फारसी के आदर्शों का ही अनुसरण किया गया था और इस काल में लिखा गया अधिकांश हिन्दी-साहित्य उच्चारण-सम्मत और तद्भव-प्रधान शब्दावली से युक्त था। भारतेन्दु-युग में भाषा के क्षेत्र में यही कारण है कि एक भयानक अराजकता आ गयी थी, जो द्विवेदीजी के आगमन तक कायम रही। उस अराजकता का उल्लेख करते हुए श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी कहते हैं—"क्या करें, दुविधा में जान है। एक ओर तो हिन्दी का यह गौरवपूर्ण दावा है कि इसमें जैसा बोला जाता है, वैसा ही लिखा जाता है, और जैसा लिखा जाता है, वैसा ही बोला जाता है। दूसरी ओर हिन्दी के कर्णधारों का अविगत शिष्टाचार है कि जैसे धर्मोपदेशक कहते हैं, हमारे कहने पर चलो, हमारी करनी पर मत चलो, वैसे ही जैसे हिन्दी के आचार्य लिखें वैसे लिखो, जैसे वे बोलें वैसे मत लिखो; शिष्टाचार भी कैसा? हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति अपने व्याकरण-कषायित कंठ से कहें—'पर्सोत्तमदास' और 'हर्किसन लाल' और उनके पिट्ठू छापें ऐसी तरह कि पढ़ा जाय 'पुरुषोत्तमअ दासअ' और "हरिकृष्ण लालअ"।

और तब आया गुरुजी का व्याकरण—हिन्दी का प्रथम सर्वमान्य प्रामाणिक व्याकरण, जो कि स्वयं 'अंग्रेजी के ढंग पर लिखा गया।' लगभग चालीस वर्षों तक यही व्याकरण हिन्दी का नियमन करता रहा।

इस बीच भाषा विज्ञान-सम्बन्धी अध्ययनों से अनेक तथ्य उभरे, दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आये, हिन्दी और भी व्यापक बनी, अनेक भाषा-भाषी इसके लेखक हुए और विशिष्ट राजनीतिक एवं सामाजिक कारणों से कतिपय नियमों, अपवादों और व्याकरण-संम्बन्धी कठिनाइयों आदि को लेकर व्याकरण की एक बार फिर जोरदार चर्चा शुरू हुई। १६४८ में आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' प्रकाशित हुआ, जिसमें नयी परिस्थितियों, शोधों और अध्ययनों के अनुकूल हिन्दी के नये व्याकरण के बीज दिखलायी पड़े। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने "शैली, सिद्धांत और वर्तनी"—तीनों ही क्षेत्रों में कतिपय "असहमतियों" के बावजूद वाजपेयीजी से "हिन्दी-शब्दानुशासन" लिखाकर संवत् २०१४ में प्रकाशित कराया, जो कि अभी हिन्दी-व्याकरण-प्रणयन का अंतिम विराम है। (यह संक्षिप्त इतिहास तैयार करने में लेखक ने राजर्षि-अभिनन्दन-ग्रंथ में प्रकाशित श्रीमहेन्द्र के लेख "हिन्दी भाषा के अध्ययन की परंपरा" और हिन्दी-शब्दानुशासन में प्रकाशित डा० श्रीकृष्ण लाल के 'प्रकाशकीय वक्तव्य' से कई तथ्य और विचार लिये हैं।)

तो, वास्तविक स्थिति यह है

हिन्दी के राजभाषा-पद के लिए मनोनीत होने के बाद भारत की भाषा राजनीति में जो विभ्राट् हुआ, वह आश्चर्यजनक था। उसकी प्रतिक्रिया किन-किन रूपों में देश के भविष्य-निर्धारण में काम करेगी, यह तो आगेवाले इतिहासकार ही लिपिबद्ध कर सकेंगे; पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी वह 'गरीब की लुगाई' सिद्ध हुई, जो 'सबकी भौजाई' होती है। आक्रमण करने के लिए विरोधियों ने इसकी काल्पनिक और अवास्तविक उलझनों तक को इतने उलझे रूप में उपस्थित करना शुरू किया कि हिन्दी का सामान्य विद्यार्थी भी दंग रह गया। इतर-भाषा-भाषी एक भी व्यक्ति, बुद्धिवादी और यहाँ तक कि भाषा-वैज्ञानिक ऐसा नहीं दिखायी पड़ा, जो अपने स्वार्थों और पूर्वाग्रहों से सर्वथा मुक्त होकर, निस्पृह होकर इसपर विचार कर सके और जो निर्णय दे सके, उसमें उसके भाषा-भाषियों और सहकर्मियों को छोड़कर देश के अन्य भाषा-भाषियों की तनिक भी आस्था उत्पन्न हो सके। (राजभाषा-शीर्षक लेख में हम विस्तार से इनकी चर्चा कर आये हैं।) किसी ने इसके लिंगानुशासन को दूषित, अव्यवस्थित और कठिन करार दिया तो किसी ने इसके 'ने' को अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अधिक क्रूर और आततायी घोषित किया। संस्कृतज्ञ इसके संस्कृत-विपरीत आचरण से क्षुब्ध तो उर्दू-दाँ इसकी ध्वनि और उच्चारण से खफा। सभी यह चाहने लगे कि हिन्दी उतनी ही सहज और सरल हो, जितना कि बच्चों का अपने मन के अनुसार रोना और हँसना होता है। कोई यह चाहने लगा कि हिन्दी जब जन्मी तो टाइपराइटर और लाइनो-मशीन लेकर क्यों न आयी। और अंग्रेजी-दाँ साहिबों का तो कहना ही क्या? God और Her Majesty के लिए कैपिटल अक्षरों का अनिवार्य

रूप से प्रयोग करनेवाला और बी-यू-टी 'बट' तथा पी-यू-टी 'पुट' ऐसे शब्दों को झूम-झूम-कर रटते रहनेवाला भी इतनी एकरूपता चाहने लगा कि जब गाय उसके पीने के लिए लोटा-भर दूध दे सकती है तो बैल कम-से-कम उसकी एक प्याली कॉफी के लिए तो दूध दे ही।

हिन्दी-व्याकरण की समस्याओं के रूप

१९५३-५४ ई० में 'कल्पना' के विद्वान् संपादक डा० आर्येन्द्र शर्मा ने अत्यधिक स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाकर हिन्दी की कतिपय समस्याओं पर विचार करना शुरू किया था। दिसंबर १९५४, जनवरी और फ़रवरी १९५५ के 'संपादकीय' में उन्होंने "हिन्दी-व्याकरण की कुछ समस्याएँ "-शीर्षक से तीन लेख लिखे थे। प्रारम्भ में ही उन्होंने बताया था—"हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि अबतक लिखे गये व्याकरणों में से कोई भी सर्वांगपूर्ण और त्रुटिहीन नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि अधिकांश हिन्दी-व्याकरण संस्कृत अथवा अंग्रेजी-व्याकरणों के अनुकरण पर लिखे गये हैं।" आगे हम इनके सुझावों पर विचार करेंगे।

हिन्दी-व्याकरण की सभी समस्याओं को मोटे तौर पर हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—वर्ण-सम्बन्धी, उच्चारण-सम्बन्धी, शब्द-सम्बन्धी, वचन-सम्बन्धी और सर्वोपरि लिंग-सम्बन्धी।

सबसे पहले वर्ण-विचार। हिन्दी के सभी व्याकरणों में स्वरों की संख्या ११ और व्यंजनों की संख्या ३३ बतायी जाती है। स्वरों में 'ऋ' की भी गणना की जाती है, और किसी-किसी व्याकरण में तो 'लृ', 'ॡ', 'अं' तथा 'अः' की भी। 'ए', 'ऐ', 'ओ' और 'औ' को प्रायः संधि-स्वर अथवा संयुक्त स्वर माना जाता है।" "किन्तु आधुनिक हिन्दी में 'ए' और 'ओ' तो सर्वथा स्वतंत्र मूल स्वर हैं ही, 'ऐ' और 'औ' भी सच्चे संयुक्त स्वर नहीं है। 'कैवल्य', 'औदार्य' इत्यादि संस्कृत शब्दों में ही 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण संयुक्त स्वरों के रूप में किया जाता है। हिन्दी के कौआ, 'हौआ' और 'गौ' तथा 'तैयार', 'मैया', 'दैया', 'गैया' जैसे कुछ ही शब्दों में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण संयुक्त स्वरों का होता है। बहुसंख्यक हिन्दी शब्दों (ऐसा, कैसा, और, कौन इत्यादि) में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण लगभग मूल स्वरों का-सा होता है। इस उच्चारण-भेद का नियम किसी हिन्दी-व्याकरण में स्पष्ट नहीं किया गया।" (कल्पना, दिसम्बर १९५४, संपादकीय)

'ऋ' का उच्चारण तो स्पष्टतः हिन्दी में 'रि' के समान हो रहा है। (विरोध में भी मत हैं--देखिये 'भाषा', वर्ष १, अंक ४ में बच्चूलाल अवस्थी का लेख।) पुनः ये अनुस्वार और विसर्ग क्या हैं—स्वर? गुरुजी इन्हें व्यंजन मानते हैं, अन्तर दूसरे व्यंजनों से इतना भर ही है कि स्वर इनके पहले आता है, पर दूसरे व्यंजनों के पीछे। 'कल्पना' के संपादक लिखते हैं—"किन्तु क्या दूसरे व्यंजनों के पहले स्वर नहीं आते?

'अद्भुत' के 'अद्' और 'अंश' के 'अं' में क्या अन्तर है ? दोनों के पहले स्वर हैं। श्रीकिशोरीदास वाजपेयी की नवीनतम पुस्तक 'राष्ट्रभाषा का व्याकरण' (पृ० १३) में भी यही बात कही गयी है--'व्यंजन वर्ण स्वरों से पहले आते हैं······अनुस्वार और विसर्ग स्वर के बाद आते हैं।' वास्तविकता यह है कि हिन्दी में अनुस्वार कोई स्वतंत्र ध्वनि नहीं है। सवर्ग व्यंजनों से पहले आनेवाले 'ङ्', 'ञ्', 'न्' और 'म्' का एक चिह्नमात्र है। (सवर्ग व्यंजनों से पूर्ववर्ती ध्वनि 'ण्' हिन्दी में नहीं है।) विसर्ग वस्तुतः 'ह्' का ही एक (अघोष) भेद है। चाहें तो दोनों को अर्ध-व्यंजन कह सकते हैं। (कल्पना, वही)

'अनुस्वार' और 'अनुनासिक' के लिखने तथा उच्चारण के सम्बन्ध में भी कम उलझन नहीं बतायी जाती। हमें यह याद रखना चाहिये कि अनुस्वार शब्द एक संज्ञा है और अनुनासिक विशेषण। अनुस्वार स्वर के बाद ही आता है और उससे एकदम अलग बोला जाता है। अनुनासिक, नासिका की सहायता से बोले जानेवाले स्वर को कहते हैं। 'हंस' में 'अनुस्वार' है, जो 'ह' के 'अ' के बाद स्वतंत्र रूप से आया है, पर ठीक इसके विपरीत 'हँस' में 'ह' के बाद आनेवाला 'अ' अनुनासिक है। ''श्रीवाजपेयीजी के अनुसार 'अनुस्वार का उच्चारण प्रायः 'ङ्'-जैसा होता है' (पृ० १३) । क्या 'हंस' और 'संसार' में भी अनुस्वार का उच्चारण 'ङ्-जैसा' है ? और 'संवत्' तथा 'बंटाढा र' में ?'' (कल्पना, वही) अनुस्वार और अनुनासिक के लिखने तथा उच्चारण के सम्बन्ध में पूरी तरह स्पष्टीकरण हो जाना चाहिये; क्योंकि अहिन्दी-भाषियों के लिए यह एक बड़ी समस्या है।

रही व्यंजनों की संख्या की बात। यह ३३ बतायी जाती है। 'ड़' 'ढ़' 'क़' 'ख़' 'ग़' 'ज़' 'फ़'—ये सात ध्वनियाँ भी वर्त्तमान हैं, जो सर्वथा स्वतंत्र हैं। पिछली पाँच ध्वनियों को यदि हम विदेशी कहकर टाल भी जायँ तो प्रथम दो को कैसे टालेंगे ? हिन्दी-वर्णमाला में से न जाने कैसे इन्हें अछूत मानकर निकाला जा रहा है। संस्कृत में ३३ व्यंजन हैं तो भला हिन्दी में ३४-३५ कैसे हो सकते हैं ? बाकी पाँच को भी हमें ग्रहण कर लेना चाहिये, वह भी तब जबकि उर्दू को हम हिन्दी से पृथक् नहीं मानते। इस तरह हिन्दी-व्यंजनों की संख्या ४० तक पहुँच जाती है।

संस्कृत-व्याकरण की ही प्रणाली पर 'य', 'र', 'ल', 'व' को अन्तस्थ बताया जाता है, जबकि हिन्दी में 'व' का उच्चारण दो प्रकार से हो रहा है—''वस्त्र, वकील, वंश आदि शब्दों में 'व' का उच्चारण व्यंजनों का-सा होता है और विद्वान्, स्वाद और क्वाँरा इत्यादि स्वरों में अर्धस्वर का-सा। 'र' और 'ल' तो स्पष्टतः व्यंजन ही हैं। वही अवस्था 'ष' की है, जो केवल तत्सम शब्दों में ही आता है, उच्चरित भी ठीक से होता है या नहीं, विवादास्पद है।

व्यंजन के बाद आनेवाले, कतिपय स्थलों पर उच्चरित और कतिपय परिस्थितियों में अनुच्चरित, ह्रस्व 'अ' की समस्या भी कम विकट नहीं। ऊपर गुलेरीजी के

उद्धरण में इसी ओर संकेत किया गया है। यद्यपि डा० धीरेन्द्र वर्मा ने तत्सम्बधी तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है, फिर भी वे अधिकतर त्रुटिपूर्ण हैं। श्रीगुरु ने कहा है कि "इ', 'ई' वा 'ऊ' के आगे 'य' हो तो अन्त्य 'अ' का उच्चारण पूरा होता है, जैसे—प्रिय, सीय, राजसूय इत्यादि।" कल्पना-संपादक कहते हैं—"जय, तन्मय, हृदय इत्यादि में 'अ' का उच्चारण सुनाई पड़ता है।" गुरु ने कहा है कि "कविता में अन्त्य 'अ' का पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे—'समाचार जब लछमण पाये'; परन्तु जब इस वर्ण पर यति होती है तो इसका उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—'कुंद इन्दु समदेह, उमारमन करुना अयन।" कल्पना-सम्पादक कहते हैं—"किन्तु इस अंतिम पंक्ति में कोई 'अ' अनुच्चरित नहीं है। वस्तुतः हिन्दी-कविता में, विशेष कर प्राचीन कविता में 'अ' का उच्चारण पूर्ण ही होता है।" पुनः, गुरुजी आगे कहते हैं—"चार अक्षरों के ह्रस्व-स्वरांत शब्दों में यदि दूसरा अक्षर अकारांत हो तो उसके 'अ' का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—'गड़बड़', 'देवधन', 'मानसिक' इत्यादि।" कल्पना-सम्पादक कहते हैं—"किन्तु 'मनमाना', 'समझाना', 'लिखवाना' इत्यादि शब्दों में भी दूसरे अक्षर के 'अ' का उच्चारण अपूर्ण है और ये शब्द ह्रस्व-स्वरांत नही हैं।" गुरुजी आगे कहते हैं—"दीर्घ-स्वरांत चार-अक्षरी शब्दों में तीसरे अक्षर के 'अ' का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—'समझना', 'निकलना' आदि।" कल्पना-सम्पादक कहते हैं—"किन्तु नागफनी, मातबरी, गड़बड़ी, करधनी इत्यादि अनेक शब्द इसके अपवाद हैं। वस्तुतः अन्त्य 'अ' के पूर्ण अथवा अपूर्ण उच्चारण का सम्बन्ध शब्दांश-विभाजन (Syllabic Division) से है, जिसपर संभवतः हिन्दी के किसी वैयाकरण ने अभी तक ध्यान नहीं दिया है। 'समझना' में 'झ' के बाद आनेवाला 'अ' अनुच्चरित है, और 'समझाना' में 'म' के बाद आनेवाला। 'समझना' में यदि हम 'म' के बाद के 'अ' को अनुच्चरित रखें और 'समझाना' में उच्चरित, तो हिन्दी की दृष्टि से यह उच्चारण अशुद्ध माना जायगा।" (कल्पना—वही)

हिन्दी के व्याकरणों में संधि-विवेचन संस्कृत-व्याकरण के संधि-विवेचन और नियमावली की उद्धरणी है। तत्सम शब्दों के विच्छेद में उनकी उपयोगिता तो है, पर हिन्दी की कुछ अपनी संधियाँ भी हैं। वाजपेयीजी ने इसका विस्तृत विवेचन किया है; पर, उनके अधिकांश रूप लिखित भाषा के हैं, उच्चरित भाषा के नहीं।

अंग्रेजी-व्याकरणों की प्रणाली पर हिन्दी में भी संज्ञा के पाँच भेद किये गये हैं, जो संज्ञाओं की प्रकृति और प्रयोग की दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी रूप-भेद आदि की दृष्टि से निष्प्रयोजन सिद्ध होते हैं। संस्कृत में भी संज्ञाओं का इस प्रकार विवेचन नहीं किया जाता रहा है। उसी तरह विशेषणों का विवेचन तो पूरा भानमती का

पिटारा है। उसके चाहें तो सैकड़ों भेद-उपभेद प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो वस्तुतः व्याकरण की दृष्टि से अनावश्यक सिद्ध होंगे।

हिन्दी की आकारान्त संज्ञाएँ

आकारांत संज्ञाएँ और उनके विकल्प पर डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' भाषा, वर्ष १, अंक २ में विचार करते हुए लिखते हैं—"हिन्दी भाषा के आकारान्त पुंलिंग जातिवाचक संज्ञा-शब्द अपने बहुवचनीय ऋजु रूप में एकारान्त हो जाते हैं; किन्तु, 'लाला', 'काका', 'बाबा', 'देवता', 'राजा' और 'दरोगा' (या दारोगा ?) इसके अपवाद हैं। 'देवता' और 'राजा' शब्द तत्सम हैं, अर्थात् संस्कृत से ज्यों-के-त्यों अपना लिये गये हैं। तत्सम आकारान्त पुंलिंग जातिवाचक संज्ञा-शब्द बहुवचन में एकारान्त नहीं होते हैं। 'देवते स्वर्ग में और राजे धरती पर रहते हैं'-जैसे प्रयोग हिन्दी-व्याकरणानुसार अशुद्ध हैं। हिन्दी के कुछ लोग लिख देते हैं कि—'सभा में बहुत राजे-महाराजे बैठे थे।' ऐसे प्रयोगों को अशुद्ध मानना चाहिये। शुद्ध है—'सभा में बहुत राजा-महाराजा बैठे थे।" 'सुमन'जी जो कहें, पर हिन्दी में 'देवता' और 'राजा'—दोनों के बहुवचन बनते हैं, कम-से-कम उच्चरित भाषा में। 'दरोगा' के बहुवचन के भी उदाहरण मिलते हैं—'दरोगे, 'दरोगों'। यदि 'दरोगे' प्रयोग 'सुमन'जी ठीक मानते हैं तो 'राजा' और 'देवता' के ही साथ यह पक्षपात क्यों? हमें 'तत्सम' शब्दों को उसी रूप में नहीं लेना चाहिये, जिस रूप में संस्कृत में वे प्रयुक्त होते हैं। वे 'तत्सम' ही तो हैं, 'तत्' नहीं हैं।

स्थानवाची आकारांत पुंलिंग व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ एकवचनीय तिर्यक् रूप में एकारांत हो जाती हैं; जैसे—पटने, कलकत्ते, राजपूताने, आगरे, दरभंगे में आदि। पर, अमेरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि के साथ प्रायः ऐसा नहीं होता। गुरुजी ने अपवाद देते हुए लिखा है—"पाश्चात्य स्थानों के और कई देशी संस्थाओं के आकारांत पुंलिंग नाम अविकृत रहते हैं; जैसे—अफ्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, लासा, रीवाँ, नाभा, कोटा आदि।" (पृ० २२७) ये दो नियम निरर्थक हैं और कभी-कभी भ्रमोत्पादक भी। यदि किसी बढ़ई से अचानक कह दिया जाय कि 'सुना तुमने, आरे में आग लग गयी', तो उस बेचारे को व्यर्थ ही स्पष्टीकरण माँगना होगा। यहाँ 'सुमन'जी का यह कहना ठीक ही है कि "हिन्दी के वैयाकरणों को एकमत होकर यह निर्णय दे देना चाहिये कि स्थानवाची आकारांत पुंलिंग व्यक्तिवाचक संज्ञा-शब्द तिर्यक् रूप में भी वैसे ही रहेंगे।" (भाषा, वर्ष १, अंक २)

'वह' का आदर-सूचक 'वह' अथवा 'वे'

हिन्दी में कतिपय लेखक एकवचन 'वह' सर्वनाम का क्रियारूप आदर-भाव से बहुवचन में प्रयुक्त करते हैं। गुरुजी ने अपने व्याकरण में लिखा है—"'यह' और 'वह'

एक वस्तु के लिए और 'ये' और 'वे' अनेक वस्तुओं के लिए अथवा आदर के लिए आते हैं।" डा० विनयमोहन शर्मा ने भाषा (वर्ष १, अंक १) में बीसों उदाहरण देकर इस विकृति पर प्रकाश डाला है। इसके संबंध में अन्तिम रूप से किसी निश्चय पर झटपट आ जाने में ही कल्याण है। इस विकृति के लिए कुछ हद तक उर्दू ध्वनि पर भी उत्तरदायित्व डाला जा सकता है।

हिन्दी-व्याकरण में लिंग-भेद

हिन्दी-व्याकरण में लिंग-भेद—यह तो इतनी बड़ी चर्चा का विषय है और रहा है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना थोड़ा ही माना जायगा। आलोचकों ने लिंग-विधान पर जितना आक्रमण किया है, उतना शायद हिन्दी-व्याकरण के और दूसरे अंगों पर नहीं। यह ठीक है कि हिन्दी का लिंग-विधान कठिन है, और इस हद तक कठिन है कि इसके धुरंधर-से-धुरंधर विद्वान अनायास यह दावा नहीं कर सकते कि वे जो बोल या लिख रहे हैं—वह सर्वांशतः ठीक ही है। पर, उसके साथ यह विचार भी गलत नहीं माना जा सकता कि वैज्ञानिक और तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर वे किसी-न-किसी नियम से बँधे हैं और वे नियम उस हद तक कठिन नहीं हैं, जिस हद तक डौंड़ी पीटी जा रही है।

इस कठिनाई का एक सबसे बड़ा कारण यह बताया जाता है कि स्वाभाविक लिंग तीन हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक ; परन्तु हिन्दी में नपुंसक लिंग उड़ाकर जड़ पदार्थों में भी स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व का आरोप कर दिया गया है। इससे भी आगे बढ़कर हाय-तौबा तो तब मच जाती है जब सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और क्रिया-विशेषण तक में लिंग-भेद कर दिया जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है—हिन्दी में नपुंसक लिंग भी है। वाजपेयीजी ने इसपर विचार किया है—हाँ, उसका लोप होता जा रहा है। "कर्मवाचक 'को' विभक्ति के प्रयोग में प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक संज्ञाओं का पारस्परिक भेद स्पष्ट दिखायी पड़ता है। प्राणिवाचक संज्ञा में 'को' लगाया जाता है और अप्राणिवाचक संज्ञा में नहीं—'मैं राम को देखता हूँ' और 'मैं किताब देखता हूँ।' इसी प्रकार 'क्या' और 'कुछ'—ये दो सर्वनाम केवल अप्राणिवाचक पदार्थों के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।" (कल्पना, संपादकीय, जनवरी १९५५)

लिंग का नियम प्राणिवाचक शब्दों में भी कठिनाई उपस्थित कर देता है, अप्राणिवाचक का तो कहना ही क्या ? मील यदि पुंलिंग है तो खैर, अंग्रेजी शब्द है ; पर कील, खील, झील, ढील, सील ये शब्द जिस-किसी भी रूप में आवें, स्त्रीलिंग हैं ; पर डील, नील, बील, शील आदि वैसे ही शब्द पुंलिंग हैं। प्राणिवाचक में भी चील यदि स्त्रीलिंग है तो गीध पुंलिंग। लोगों ने प्रश्न उठाया है कि लिंग या तो शब्द पर निर्भर हों, नहीं तो अर्थ पर। शब्द-रूपों की लिंग-विविधता के उदाहरण हम

ऊपर देख चुके हैं, अर्थ-रूपों में भी लिंग-विविधता है—दारा, कलत्र और स्त्री—तीनों के अर्थ एक, पर लिंग भिन्न। प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव लिखते हैं—"हमारे विचार में अप्राणिवाचक शब्दों में अधिकतर रूपानुसार लिंग होता है, अर्थानुसार नहीं"—(साहित्य, अप्रैल १९५१) यह कुछ ही अंशों में सत्य माना जा सकता है, जैसे—'मही' स्त्रीलिंग है पृथ्वी के अर्थ में, पुंलिंग है मठा या छाछ के अर्थ में (प्रामाणिक हिन्दी-कोश, रामचंद्र वर्मा, पृ० १०१५)

आपका यह कहना है कि "प्राणिवाचक शब्दों का लिंग जानना सरल है।" (वही) जी नहीं, खटमल, चील, कोयल, कौआ आदि के सम्बन्ध में लिंग जानना क्या सरल है ? कौआ उड़ा, गोरैया उड़ी (दोनों आकारांत), उसी तरह अन्य भी। गुरुजी ने लिखा है—"बहुधा प्राणिवाचक शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार और अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग रूप के अनुसार निश्चित करते हैं। शेष शब्दों का लिंग केवल व्यवहार के अनुसार माना जाता है, और इसके लिए व्याकरण से पूर्ण सहायता नहीं मिल सकती।" (पृ० २१८) उसी पृष्ठ पर वे आगे लिखते हैं—"हिन्दी में अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग जानना विशेष कठिन है, क्योंकि यह बात अधिकांश में व्यवहार के अधीन है।" व्याकरण में जबतक हम 'बहुधा', 'प्रायः', 'अधिकतर', 'कभी-कभी' आदि शब्दों का प्रयोग करते रहेंगे, तबतक ये कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहेंगी और जहाँ तक प्रयोग और व्यवहार का प्रश्न है—समर्थ साहित्यकारों को छूट मिलती ही रहेगी यह कहने की, कि "अरे, मैं लिखता हूँ, तुम व्याकरण बनाओ।" हिन्दी के एक साहित्यकार को यह सुझाने पर कि 'लालच' और 'तरस' पुंलिंग हैं और उसी रूप में उनका व्यवहार आप क्यों नहीं करते—कुछ ऐसा ही उत्तर मिला था।

पर, सभी अचेतन या अप्राणिवाचक पदार्थों के द्योतक शब्दों के लिंग रूप ही के अनुसार निश्चित कर देने से काम नहीं चलेगा। सैकड़ों ऐसे अप्राणिवाचक शब्द हैं, जिनके बड़े और कठोर रूपों के द्योतक शब्द पुंलिंग हैं और छोटे तथा कोमल रूपों के द्योतक शब्द स्त्रीलिंग हैं। प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव ने तद्भव संज्ञाओं के लिंग-निर्धारण के लिए दो सामान्य नियम दिये हैं—

(१) तद्भव संज्ञाओं का लिंग मूल संस्कृत शब्दों के लिंग के अनुसार होता है।

(२) अकारांत अतत्सम संज्ञाएँ पुंलिंग हैं। हिन्दी के आँख, नाक, भीख, लाख, सिल, बाँझ, साँझ, जीभ, दूब, रात, बात, मिट्टी, घड़ी के स्त्रीलिंग होने का, इसको छोड़कर क्या कारण बताया जाय कि इनके मूल शब्द अक्षि, नासिका, भिक्षा, लाक्षा, शिला, बन्ध्या, संध्या, दूर्वा, रात्रि, वार्ता, जिह्वा, मृत्ति और घटी संस्कृत में स्त्रीलिंग हैं। (वही) श्रीवास्तवजी के ये नियम एकदम ऐसे नहीं हैं कि इनके अपवाद न मिलें। सभी हिन्दी पढ़ने और जाननेवालों से यह अपेक्षा नहीं की जानी चाहिये कि सभी तद्भव संज्ञाओं के मूल संस्कृत शब्दों को जानें और उनके वहाँ के लिंग का

भी ज्ञान रखें। इस विषय पर वाजपेयीजी ने भी अंततः स्वीकार किया ही है—"तो, छह-छह, बड़े-बड़े प्रदेशों में प्रचलित शब्द-व्यवहार के विरुद्ध कोई राष्ट्रभाषा का नियम कैसे बना दिया जाय ? उसे मानेगा कौन ?" (हिन्दी-शब्दानुशासन, पृ० १८४) तो, सारी बात यहीं आकर रुक जाती है। बोलनेवाला जैसे चाहे प्रयोग करे, मन में हो तो 'दौर्बल्य' को पुंलिंग में लिखे, 'सामर्थ्य' को स्त्रीलिंग में, 'मैल' को पुंलिंग करार दे, 'गैल' को स्त्रीलिंग और फिर 'शैल' को पुंलिंग।

कारक की समस्या

कारक की समस्या लिंग-समस्या से छोटी नहीं मानी जा सकती। पहले तो कारक की परिभाषा के सम्बन्ध में ही अनेक मत हैं। कुछ लोग संज्ञा अथवा सर्वनाम के उस रूप को कारक कहते हैं, जो उसका सम्बन्ध वाक्य के दूसरे शब्दों के साथ बताता है, दूसरे कहते हैं कि क्रिया के साथ जिसका सीधा सम्बन्ध हो, उसे कारक कहते हैं। विभक्तियों का प्रश्न अलग है। कोई उसे विभक्ति मानता है, कोई परसर्ग। यह अव्यवस्था निश्चयात्मक रूप से संस्कृत-व्याकरण का अनुसरण करने के कारण है। संस्कृत में विभक्तियाँ संज्ञाओं से संयुक्त हो जाती हैं, हिन्दी में वे अलग रहती हैं। "अब यदि संस्कृत के अनुसार कारक को 'क्रिया से सम्बन्ध रखनेवाली संज्ञा' माना जाय, जिसमें एक विशेष विभक्ति जुड़ी रहती है तो हिन्दी में अपादान और करण को तथा संप्रदान और कर्म को एक ही कारक मानना पड़ेगा ; क्योंकि दोनों में 'से' तथा 'को' विभक्तियाँ लगती हैं। दूसरी ओर यदि हम विभक्ति-युक्त संज्ञाओं के रूप को कारक का नाम दें तो विभक्ति-रहित रूप तथा 'को', 'ने', 'से', 'का' ('की' 'के') और 'में' (पर)—इस प्रकार छह ही कारक माने जा सकते हैं। इस अवस्था में न करण कारक के लिए कोई स्थान है और न संप्रदान कारक के लिए। केवल अर्थ-भेद से कारक-भेद माना जाय तो कारकों की संख्या शायद कई दर्जन हो जायगी।

कल्पना-सम्पादक ने इस झमेले का एक समाधान बताया है और "वह यह कि हिंदी में केवल दो कारक माने जाएँ—एक अविकारी और एक विकारी, और कारक का अर्थ केवल संज्ञाओं का रूप माना जाए। लड़का का अविकारी कारक (रूप) एकवचन में 'लड़का' और बहुवचन में 'लड़के' तथा विकारी कारक एकवचन में 'लड़के' और बहुवचन में 'लड़कों'। 'ने', 'से', 'को' आदि को विभक्तियाँ माना जाय, जिनमें से प्रत्येक अनेक अर्थ सूचित कर सकती है। "[विस्तार के लिए देखिये–कल्पना (संपादकीय), जनवरी और फरवरी, १९५५]

इस प्रकार, दूसरे व्याकरणों की ही तरह हिन्दी-व्याकरण की भी अनेक समस्याएँ हैं, जोकि किसी–न-किसी रूप में कमोवेश उच्चरित भाषाओं में रहती हैं। हिन्दी-व्याकरण को व्यवस्थित करने के लिए संगठित प्रयत्न किये जाने चाहिये। देश के प्रसिद्ध वैयाकरणों की एक गोष्ठी हो, जो विधिवत् इसपर विचार करे और जो निर्णय दे,

उसे समस्त हिन्दी-संसार दृढ़ता के साथ स्वीकार करे। लिंगानुशासन के सम्बन्ध में मेरे ऐसे तुच्छ व्यक्ति का यह विनम्र निवेदन है कि समस्त भारतवर्ष से एक ही स्तर के सौ छात्र एक जगह बुला लिये जायँ और उनके सामने अप्राणिवाचक शब्दों के कार्ड बाँट दिये जायँ। जिनपर वे जैसा बोलते हैं, उन शब्दों का लिंग-निर्देश कर दें। जिसपर बहुमत हो, हम उसे स्वीकार करें। इससे यह गड़बड़ी समाप्त हो जायगी और अहिन्दी-भाषियों को भी यह कहने का श्रेय मिलेगा कि हिन्दी के सर्वाधिक जटिल प्रकरण के निदान में उनका भी मत लिया गया है।

हिन्दी भाषा 'बहता नीर' है। हम उसकी लहर-लहर को नियंत्रित नहीं कर सकते तो कम-से-कम बाँध बाँधकर उसके किनारों का तो नियमन कर ही सकते हैं।

कोश

अक्षर-क्रम से नियोजित शब्द के ध्वनि, रूप, अर्थ, मूल, प्रसार, प्रयोग और पर्याय-सम्बन्धी वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले ग्रन्थ का नाम कोश है। चैम्बर्स डिक्शनरी में कोश की परिभाषा इन शब्दों में दी गयी है—"A book containing the words of a language, alphabetically arranged with their meanings, etymology, etc., a lexicon, a work containing information on any department of knowledge. (पृ० २६१)। उपर्युक्त परिभाषाओं से यह तो स्पष्ट है कि कोश में शब्द, व्युत्पत्ति एवं अर्थ की प्रधानता रहनी चाहिये। कोशकार शब्द का जौहरी होता है; वह उसके पुरानेपन, चमक, धुँधपालन, रूक्षता, नवीनता इत्यादि सभी गुणों का व्याख्याकार तथा अर्थों के विस्तार में प्रयोगकर्त्ताओं की भावनाओं तक का जानकार होता है। जो कोशकार शब्द के शरीर भर की जानकारी रखता है, वह मात्र संग्रहकर्त्ता कहा जा सकता है। सच्चा कोशकार तो शब्दों की आत्मा का परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है।

इसीलिए कोशकार का कार्य अन्य साहित्यिक कार्यों की अपेक्षा अधिक कठिन होता है। उसका वहिःपक्ष एक वैज्ञानिक का, पर अभ्यन्तर एक कलाकार का होता है। एक शिल्पी की ही तरह वह विभिन्न विषयों, शास्त्रों, सिद्धांतों, दैनिक व्यवहारों के शब्दों का चयन, परख, छाँट, विभाजन आदि करता है, एक-एक शब्द को वर्ण या और किसी क्रम के अनुसार व्यवस्थित करता है; उसका इतिवृत्त, उच्चारण-प्रक्रिया, प्रयोग आदि का निर्देश करता चलता है। तब वह अर्थ पर, उसकी व्याख्या, उसके पर्याय पर आता है। यहीं पर, शब्दों के आत्मिक ज्ञान, उनके बोध, उनकी सम्प्रेषणीयता और परिप्रेक्ष्य को समझने के क्रम में उसे कलाकार बनना पड़ता है। जहाँ तक शब्द के वस्तु-रूप के अध्ययन का सम्बन्ध है, वह उसका वैज्ञानिक पक्ष है, अर्थ-पक्ष कला के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार कोशकार को विज्ञान और कला—दोनों का ही अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है, और इन दोनों के सुनियोजित समन्वय में ही उसकी सफलता है।

कोशशास्त्र के सिद्धांत

कोश में कम-से-कम चार बातें अवश्य रहनी चाहिये—(१) शब्द-चयन का ठीक ढंग, जिसमें कोश की भाषा के साहित्य से प्रचलित शब्द, उचित ही नहीं, समुचित उदाहरण के साथ रहने चाहिये। (२) व्युत्पत्ति ऐसी होनी चाहिये कि शब्द के भीतर का रहस्य स्पष्ट हो जाय। यह रहस्य शब्दों के आगे सिर्फ सं० (संस्कृत), अं०

(अंग्रेजी), अ० (अरबी), फा० (फारसी) आदि दे देने से ही नहीं खुलता। (३) अपने मनगढ़न्त शब्द कोश में नहीं भरे जाते, उसमें तो साहित्य में वर्त्तमान और प्रचलित शब्द ही चुने जाते हैं। (४) कोश में कोश की भाषा का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन भी रहना चाहिये ; क्योंकि आजकल का भाषा-विज्ञान तुलनात्मक होता है। इस तुलना का ज्ञान न होने से, छात्र हो चाहे अध्यापक, सभी का भाषा-ज्ञान अधूरा रह जाता है। (डा० हेमचन्द्र जोशी)

शब्द-चयन कोशकार का पहला काम है, तब वह उन शब्दों को अक्षरानुक्रम के अनुसार एक निश्चित व्यवस्था में बद्ध करता है। शब्द-संग्रह की सर्वोत्तम विधि पत्र-विधि ही मानी जाती है, जिसमें एक ही नाप की पर्चियों पर शब्द लिख लिये जाते हैं। प्रत्येक शब्द के लिए एक पर्ची सुरक्षित रख ली जाती है। कोशकार जब-कभी उस शब्द के सम्बन्ध में कोई नयी जानकारी कहीं प्राप्त करेगा, उसी पर्ची पर उदाहरण-सहित लिखता चला जायगा। इस प्रकार 'क' वर्ण का शब्द है तो उसे 'क' विभाग की पेटी में रखता चला जायगा। अन्त में जब वह 'क' वर्ण के शब्दों को क्रम से ठीक करने के लिए तत्पर होगा तो उसे तत्सम्बन्धी सभी शब्द एक ही स्थान पर प्राप्त हो जायँगे, जिन्हें वह मात्राओं या अक्षरों के पूर्वापर-प्रयोग के अनुरूप क्रमबद्ध कर लेगा। क्रम-व्यवस्था के लिए कोशकार को स्वर, व्यंजन, अनुस्वार, संयुक्ताक्षर आदि का ध्यान रखकर प्रत्युत्पन्न बुद्धि से कार्य सम्पन्न करना पड़ता है। अक्षरानुक्रम के सम्बन्ध में प्रो० विजयकुमार शुक्ल ने एक उदाहरण दिया है, जो द्रष्टव्य है—

अं, अंअं, अंअ, अंआं, अंआ, अंइं, अंइ,
अंईं, अंई, अंउं, अंउ, अंऊं, अंऊ,
अंएं, अंए, अंऐं, अंऐ, अंओं, अंओ,
अंअः, अंकं, अंक, अंकां, अंका, अंकिं, अंकि
अंकीं, अंकी, अंकुं, अंकु, अंकूं, अंकू, अंकृं, अंकृ,
अंकें, अंके, अंकैं, अंकै, अंकों, अंको, अंकौं, अंकौ,
अंकः।

इसी प्रकार तीन या उनसे अधिक अक्षरों के शब्दों का क्रम भी निर्धारित किया जाना चाहिये। आपका मत है कि अर्द्ध-चंद्र-बिन्दु के स्थान पर पूर्ण बिन्दु ही रखना आसान है। क्ष, त्र, ज्ञ को क्रमशः क, त, ज के साथ ष, र, ञ से संयुक्त करके व्यवस्थित करना चाहिये।

शब्दों का संकलन कोश के विषय पर भी निर्भर करता है ; जैसे—अर्थशास्त्र-कोश, राजनीति-कोश, हिन्दी-साहित्य-कोश। ऐसे विशिष्ट कोशों में विषयगत पारिभाषिक शब्दावलिआँ रहती हैं तथा तत्सम्बन्धी संदर्भ एवं विवरण, पर वहाँ भी क्रम-व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार की ही रहती है।

शब्दों के वैज्ञानिक अध्ययन के अंतर्गत शब्द के उच्चारण, वर्तनी, व्युत्पत्ति या निरुक्ति, संधि-विग्रह, व्याकरण आदि दिया जाना आवश्यक है। मान लीजिये, अनुसंधान शब्द है तो कोष्ठ में (सं०), पुनः अनु + सम् + धा + अन संधि-विग्रह, फिर वर्तनी आदि देकर शब्द की पूर्ण स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिये। व्युत्पत्ति, शब्दों का इतिवृत्त जानने के लिए अत्यावश्यक है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि इस प्रणाली का आरंभ भारत से ही शुरू हुआ, पर विदेशों में उसका जितना उपयोग किया जाता है, अपने देश में अब उतना नहीं। यास्क इस प्रणाली के अग्रदूत थे। अपने निरुक्त में उन्होंने बताया कि जंगली सूअर के अर्थ में वराह शब्द कैसे बना। वराह वराहार से निकला, जिसका अर्थ होता है 'जिसका आहार बहुत है।' उसी तरह 'बिल' शब्द वैदिक काल से चला आ रहा है। यास्क ने बताया कि बिल भिद् (छेदना, तोड़ना) धातु का ही एक रूप है। यहाँ कालांतर में 'भ' का 'ब' और 'द' का 'ल' हो गया है। हिन्दी-कोशकार उसके सामने कोष्ठ में (सं०) लिखकर छुट्टी पा लेते हैं। इससे आगे व्युत्पत्ति के मूल में जाने का क्रम शुरू होता है। क्लूगे ने 'सव्युत्पत्तिक जर्मन-कोश' लिखा, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा तथा उससे भी प्राचीन आदि आर्य-भाषा तक पहुँचायी गयी। जोशी ने उस कोश से उदाहरण दिये हैं, जिससे कोशकार के अध्ययन, प्रयत्न, धैर्य और वैज्ञानिक प्रणाली का अंदाजा मिल जाता है। जर्मन में लोमड़ी को 'फ़ु.ख़.ज़' कहते हैं। क्लूगे ने खोज से निदान निकाला कि फ़ु.ख़.ज़ प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के 'पुच्छ' से बना है। यह व्युत्पत्ति इस कारण निकली कि सियार की पूँछ नरम और घने बालों की होती है। प्रा० भारतीय भाषा में 'रोमपुच्छक' एक जीव का नाम है, ऋग्वेद में इसका बहुत व्यवहार है। तो क्या यह जीव लोमड़ी (= लोम 'रोम' – अपभ्रंश, प्रत्यय—ड़ी) तो नहीं है। क्लूगे ने जो सूत्र दिया, अंग्रेजी कोश वेब्स्टर के कोशकार ने पकड़ा, और निदान पक्का मानकर अंग्रेजी 'फौक्स' का सम्बन्ध ऋग्वैदिक भारतीय भाषा 'पुच्छ' से स्थापित कर दिया। शब्द का पूरा रहस्य स्पष्ट हो गया।

कोश में दूसरा प्रमुख स्थान अर्थ का है, जिसके विना शब्द महत्त्वहीन तो बन ही जाता है, क्रमशः अस्तित्वहीन भी हो जाता है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और प्रत्येक अर्थ का अपना एक विशिष्ट भाव, विचार, दृष्टिकोण और बोध हो सकता है। हम पहले ही कह आये हैं कि यहाँ कोशकार का साहित्यिक पक्ष शुरू होता है; क्योंकि शब्दों की आत्मा को विना स्पर्श किये कोई भी कोशकार अर्थ का संदर्भ परिप्रेक्ष्य और वातावरण-सहित उद्घाटन करने में समर्थ नहीं माना जा सकता। ऊपर हम 'पुच्छ'वाला उदाहरण देख चुके हैं। हो सकता है कि यह विशिष्ट मनोदशा के चलते ही हुआ हो कि ऋग्वैदिक 'रोमपुच्छक' का 'पुच्छ' तो पश्चिम में व्यवहृत होने लगा और यहाँ उसका पूर्वपक्ष 'रोम = लोम' रह गया। साधारणतः ऐसा होता है कि लाघव के लिए हम किसी लम्बे शब्द के पूर्वपक्ष का प्रयोग करने लगते हैं, और कभी उत्तर पक्ष

का। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कभी 'आचार्य' नाम से अभिहित होते हैं और कभी 'शुक्ल'जी के नाम से। हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए साधारणतः काशी के लोग और अधिकतर उनके समवयस्क 'हजारीप्रसाद' का प्रयोग करते हैं, पर बिहार में (यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रसंग न हो तो) लगभग सभी 'द्विवेदीजी' ही कहा करते हैं।

अर्थ सरल भाषा में स्पष्ट और ठीक-ठीक होना चाहिये तथा सभी पहलुओं और स्थलों के विचार से पूर्ण। वहाँ संदेह की गुंजाइश कम-से-कम हो; क्योंकि कोश के प्राण प्रचलन में बसते हैं, प्रचलन का कारण उसमें प्रयोगकर्त्ता की आस्था है और आस्था पूर्णता से आती है। पर्यायवाची शब्द रख देने से पूर्णता नहीं आती, वह तो अर्थ के उद्घाटन में निहित है। प्रो० विजयकुमार शुक्ल ने एक उदाहरण दिया है—

सिंह—मृगारि, मृगाधिपति, मृगेन्द्र, वनराज, पंचानन, इभारि, महानाद आदि। इन समानार्थकों से सिंह का भाव-प्रधान अर्थ नहीं स्पष्ट हो पाया। यदि इसके लिए इस प्रकार का सहज विधान रखा जाय तो अधिक उचित होगा—सिंह (सं०) पु० शक्ति-सम्पन्न, द्रुतगामी, सिर पर केशवाला, बिल्ली-जाति का वन-निवासी हिंसक पशु। इसे मृगारि, मृगपति, पंचानन, इभारि, महानाद आदि भी उसकी जातिगत तथा रूप-गुण की विशेषताओं के आधार पर कहते हैं, जो समानार्थक हैं।

कोश मनगढंत और अटकलबाजी पर आधृत नहीं होना चाहिये। इसके सब शब्द और व्याख्या साहित्य में प्रयुक्त और व्यवहृत होने चाहिये। यूरोप की सभी भाषाओं में कोश में केवल वे ही शब्द दिये जाते हैं, जिनका समावेश उच्च कोटि के साहित्यिकों द्वारा ग्रंथों में किया जाता है। यहाँ तक कि उनमें इसका भी निर्देश होता है कि कौन शब्द पहले-पहल कब और किसके ग्रंथ में प्रयुक्त हुआ। इससे शब्द और उसकी वर्तनी और कभी-कभी उसके अर्थ तक के इतिहास का पता लगता है। यह एक दिन का काम नहीं है। अनेक व्यक्ति अपना सारा जीवन होम कर इसे पूर्णता प्रदान करते हैं। इसके लिए कोशकार को अपने दिमाग के सारे दरवाजे खोलकर रखने होंगे। उसको सभी क्षेत्रों से सूचनाएँ प्राप्त करनी होंगी, उनकी परीक्षा करनी होगी और तब जो मत स्थिर होगा, उसे निर्द्वन्द्व लिपिबद्ध करना होगा।

कोश को पूर्णता प्राप्त होती है, उसके तुलनात्मक होने से। "किसी भाषा का ज्ञान विना सम्बन्धित भाषाओं तथा शब्दों की परंपरा या इतिहास में उसके विकास की क्रमशः तुलना के नहीं होता। साथ ही किसी भाषा-वर्ग के शब्दों की तुलना से उस वर्ग के भाषा-विशेष के शब्दों की व्युत्पत्ति और ठीक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है।" (डा० जोशी) आपने 'विधवा' शब्द का उदाहरण दिया है। हमलोगों की धारणा है कि यह प्राचीन भारतीय भाषा के वैयाकरणों के अनुसार 'वि—धव' (विना पति) से बना है। पर जोशीजी कहते हैं कि ऋग्वेद में 'विधवा' आया है; किन्तु धव 'पति' नहीं आया है, भले ही यास्क ने 'धव' का अर्थ 'पति' तो नहीं; किन्तु 'नर'

दिया है। पाश्चात्य पंडितों ने लैटिन में 'विधवा' के अर्थ में 'विद्‌ड' देखा और पाया कि 'विद्' का अर्थ 'अलग करना, भाग करना' है तो तुरत ताड़ गये कि जो पति से अलग हो गयी, वह विधवा। आगे जिज्ञासा करने पर उन्हें ऋग्वेद में 'विध्' मिला 'अकेले रहने या रिक्त होने' के अर्थ में। इसीसे विधु बना चन्द्रमा, आकाश में अकेला और बेजोड़। इसी 'विध्' धातु से 'विधवा' निकला, 'वि-धव-आ' से नहीं। तुलनात्मक अध्ययन से उक्त शब्द का सच्चा रहस्य स्पष्ट हो गया। कोशकार के लिए अधूरी या अल्प विद्या एक ऐसा अभिशाप है, जिसका फल उसकी संतति भोगती है।

तो, अंतिम रूप में कोश का विधान इस प्रकार का हो तो प्रो॰ विजयकुमार शुक्ल की दृष्टि में ठीक होगा —

शब्द-व्युत्पत्ति-उच्चारण (उदा॰—अंग्रेजी के प्रचलित हिन्दी-शब्द 'डाक्टर' के लिए उच्चारण-सम्बन्धी निर्देश इस प्रकार का हो सकता है—डॉक्-टर्) व्याकरण, अर्थ (१), (२), (३), (४) (जितने प्रकार की संप्रेषणीयता से सम्पन्न अर्थ हों), व्याख्या (अर्थों के प्रकार को संदर्भ में रखकर व्याख्या प्रस्तुत हो) समानार्थक या पर्याय, पद्य या गद्य का उदाहरण, उपशब्द-(१), (२), (३), (या जितने हों), व्युत्पत्ति (इसमें द्वितीय शब्द की व्युत्पत्ति के लिए संकेत देना चाहिये तथा उपशब्दों के लिए भी सम्भव उदाहरण)। प्रो॰ शुक्ल ठीक ही कहते हैं कि उदाहरण को महत्त्व देने का मात्र आशय यह है कि व्यंजना से शब्द का परिचय प्राप्त कराने के लिए वह पुष्ट आधार बन सके। यह स्पष्ट है कि एक से भी अधिक अर्थ हो सकते हैं और वाक्यों में उनके अर्थबोधक प्रयोग भी हो सकते हैं, यह उदाहरण से ही सम्मत हो सकता है। फिर, अर्थबोध में समयानुसार परिवर्तन होता है और शब्द भी घिसकर अपना अर्थ परिवर्तित कर लेते हैं। उदाहरण के लिए-ग्राम-गाँव-गँवार, 'र' प्रत्यय है और मुख-सुख के लिए गाँवर न होकर गँवार उच्चरित हुआ। शाब्दिक अर्थ होगा— गाँव का, ग्रामीण ; लेकिन अर्थबोध के द्वारा यह अशिष्ट उजड्ड व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है।

हिन्दी-कोशों का संक्षिप्त इतिहास

कहा जाता है कि हिन्दी का पहला कोश, १६७० में बनारसीदास के द्वारा तैयार हुआ, जिसका नाम था 'नाममाला' और जो अब उपलब्ध नहीं है। उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवधूत-नामक व्यक्ति ने 'अनेकार्थनामावली'-नामक एक दूसरा कोश तैयार किया, जिसमें लगभग तीन हजार शब्दों का संग्रह है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हरिजूमिश्र-नामक व्यक्ति ने दिल्ली के तत्कालीन सम्राट् के आश्रय में 'अमरकोष-भाषा'-नामक कोश तैयार किया था। इसके पश्चात् बसहुराम द्वारा प्रणीत 'नाममाला' और श्रीसुवंश द्वारा प्रस्तुत 'उमरावकोष' के नाम आते हैं।

१८१२ में छत्रपुर के श्रीप्रयागदास भाट ने लगभग बारह सौ शब्दों का एक कोश–'शब्द-रत्नावली' तैयार किया था और वहीं के श्रीनवल सिंह ने 'नाम-चिंतामणि' और 'नाम-रामायण'-नामक दो पर्यायवायी लघु शब्दकोश तैयार किये थे। (श्रीरत्नेश भट्ट)

जब अंग्रेजों का भारतवर्ष के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया तब नवागंतुक अंग्रेजों को इस देश की भाषाएँ जानने की विशेष आवश्यकता पड़ने लगी। इसी उद्देश्य से वे अपनी सुविधा के लिए देशी भाषाओं के कोश बनाने लगे। "इस प्रकार इस देश में आधुनिक ढंग के आकारादिक्रम से बननेवाले शब्दकोशों की रचना का सूत्रपात हुआ।" (श्यामसुंदर दास) हिन्दी या हिन्दुस्तानी, जो उस समय की सर्वाधिक प्रचलित भाषा, साथ-ही-साथ मुगल-दरबारों में आम व्यवहार की भाषा थी—की ओर उनका ध्यान सबसे पहले आकर्षित हुआ। जे० फर्गुसन-नामक व्यक्ति ने इसके दो शब्दकोश तैयार किये, जो रोमन अक्षरों में सन् १७७३ में लंदन में छपे थे। इनमें से एक हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी का और दूसरा अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी का था। १७६० में मद्रास से इसी प्रकार का एक और कोश हेनरी हेरिस-नामक व्यक्ति ने प्रकाशित किया था। फिर सन् १८०८ में जोसेफ टेलर और विलियम हंटर के सम्मिलित उद्योग से कलकत्ते में एक हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी-कोश प्रकाशित हुआ। इसके उपरांत १८१० में एडिनबरा से गिलक्राइस्ट का और १८१७ में लंदन से जे० शेक्सपियर का अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी कोश निकला था। शेक्सपियर के कोश के एक पर एक, तीन संस्करण प्रकाशित हुए थे, जिनमें से अंतिम बहुत-कुछ परिवर्द्धित था। "परन्तु ये सभी कोश रोमन अक्षरों में थे और इनका व्यवहार अंग्रेज या अंग्रेजी-पढ़े लोग ही कर सकते थे।" (श्यामसुंदर दास)

"हिन्दी भाषा या देवनागरी अक्षरों में जो सबसे पहला कोश प्रकाशित हुआ था, उसे पादरी एम० टी० एडम ने तैयार किया था। इसका नाम 'हिन्दी कोश' था और यह सन् १८२६ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था।" (वही) इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह हिन्दी का प्रथम शब्दकोश था। इन्होंने एक अंग्रेजी-हिन्दुस्तानी कोश भी तैयार किया था। प्रथम कोश का द्वितीय संस्करण भी कलकत्ते से ही प्रकाशित हुआ था। उसके बाद ऐसे शब्दकोशों का एक ताँता बँध गया, जिनमें या तो हिन्दी शब्दों के अर्थ अंग्रेजी में और नहीं तो अंग्रेजी शब्दों के अर्थ हिन्दी में होते थे। ऐसे कई कोश विभिन्न दृष्टिकोणों से पहले भी तैयार हुए थे, जिनमें उल्लेखनीय ये हैं—

(१) ग्लैडविन, डिक्शनरी ऑफ महम्डन लॉ बंगाली रेवेन्यू टर्म्स, कलकत्ता १७६७।

(२) डा० गिलक्राइस्ट, डिक्शनरी इंगलिश ऐण्ड हिन्दुस्तानी, दो भाग, कलकत्ता १७६८।

(३) पी० एस० डी० रोजेरिओ, डिक्शनरी इंगलिश, बंगाली ऐण्ड हिन्दुस्तानी, कलकत्ता १८३७।

(४) टांपसन, ए डिक्शनरी ऑफ उर्दू एण्ड इंगलिश, अरेंज्ड अकार्डिंग टू दी आर्डर ऑफ दी इंगलिश अल्फेबेट, सीरामपुर १८३८।

(५) एच० एम० इलियट, ए ग्लौसरी ऑफ इंगलिश टर्म्स, आगरा १८४५।

(६) रेवरेण्ड जे० टी० टांपसन, हिन्दी ऐण्ड इंगलिश डिक्शनरी, दिल्ली १८४६।

(७) डंकन फोर्ब्स, डिक्शनरी ऑफ हिन्दुस्तानी ऐण्ड इंगलिश, १८४८। इसका द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण १८५८ में लंदन से प्रकाशित हुआ। इसमें दो भाग हैं—प्रथम में हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिक्शनरी और द्वितीय में इंगलिश-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी है।

कोशकारों में श्री एम० डब्लू० फैलन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका कोश 'ए न्यू हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी विथ इलस्ट्रेशंस फ्रॉम हिन्दुस्तानी लिटरेचर ऐण्ड फोकलोर' बनारस से १८७६ में प्रकाशित हुआ था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कहते हैं--"इस कोश को बोलचाल की हिंदी का निचोया हुआ अमृत ही समझना चाहिए। स्त्री-पुरुषों के होठों पर जो शब्द, वाक्य, मुहावरे और उक्तियाँ किसी समय खेलती थीं और जिन्हें साहित्य में स्थान न मिला था, उनका जैसा संग्रह फैलन ने किया, वह आजतक अपने ढंग का अकेला ही है। इस कोश को पढ़ते-पढ़ते हिन्दी भाषा के प्रति मन में नई आस्था जाग उठती है। कोश होते हुए भी इस ग्रंथ में उपन्यास-जैसी रुचि होती है। कोश के आरंभ में फैलन की विस्तृत भूमिका है। उसमें हिन्दी की बोलियों के महत्त्व के विषय में जो लिखा है, वह आज भी हिन्दी-कोशकारों के काम की वस्तु है।" फैलन महोदय ने साधारण बोलचाल के छोटे-बड़े कई कोश तथा कानून और व्यापार आदि के पारिभाषिक शब्दों के भी कुछ कोश बनाये थे। उपर्युक्त कोश में यद्यपि अधिकांश शब्द हिन्दी के ही थे, फिर भी अरबी-फारसी के शब्दों की कमी नहीं थी। उस समय अदालती लिपि फारसी थी, शायद इसीलिए उसमें शब्द फारसी लिपि में, अर्थ अंग्रेजी में और उदाहरण रोमन में दिये गये थे।

इसके पूर्व, १८७३ ई० में बनारस के लाइट प्रेस से मुंशी राधालाल माथुर का शब्दकोश प्रकाशित हुआ, जिसे कुछ लोग 'हिन्दी का प्रथम शब्दकोष' कहते हैं। (देखिये श्रीउमाशंकर, पुस्तक-जगत्, पटना, जनवरी १६६२) आप बिहार के रहनेवाले थे और कहा जाता है कि उपर्युक्त फैलन साहब की प्रेरणा से ही आप इस ओर दत्तचित्त हुए। इस पुस्तक पर उन्हें बंगाल-सरकार से ३०००) रुपयों का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। इसमें ५७५ पृष्ठ हैं और देवनागरी वर्णमाला की रीति से शब्द और मुहावरे बड़े अक्षरों में दिये गये हैं। पुनः शब्द का धातु-रूप भी कोष्ठ में दिया गया है, अर्थ प्रचलित हिन्दी में और उदाहरण प्रचलित ग्रंथों से दिये गये हैं। शब्द-सागर की भूमिका में संभवतः इसी कोश के सम्बन्ध में श्यामसुंदर दास ने लिखा है—"सन् १८७३ में मुं० राधेलालजी का शब्दकोश गया से प्रकाशित हुआ था, जिसके लिए उन्हें सरकार से यथेष्ट

पुरस्कार भी मिला था।'' यदि यह हिन्दी का प्रथम शब्दकोश होता तो श्यामसुंदर-दासजी कुछ और अवश्य लिखते।

पादरी जे० डी० वेट ने १८७५ में काशी से एक हिन्दी-कोश प्रकाशित किया था, जिसमें हिन्दी शब्दों के अर्थ अंग्रेजी में थे। पुनः काशी से ही कलकत्ता बुक सोसायटी ने संभवतः उसी 'हिन्दी-कोश' को प्रकाशित किया, जिसमें शब्दों के अर्थ हिन्दी में ही दिये गये। वेट के कोश के भी कई संस्करण प्रकाशित हुए थे। इसका द्वितीय संस्करण १६१८ में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ, जिसमें पहली बार 'देवनागरी वर्णमाला के क्रम से शब्दों को सजाया गया। १८७५ में ही पेरिस में एक कोश का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था, जिसमें हिन्दुस्तानी शब्दों के अर्थ फ्रांसीसी भाषा में दिये गये थे। १८८० में लखनऊ से सैयद जामिन अली जलाल का 'गुलशने-फैज'-नामक कोश प्रकाशित हुआ, जिसमें शब्द अधिकतर हिन्दी के थे, पर लिपि फारसी थी। १८८४ में जे० टी० प्लाट्स का 'ए डिक्शनरी ऑफ उर्दू, क्लासिकल हिन्दी ऐण्ड इंगलिश' लंदन से प्रकाशित हुआ, जिसका पंचम संस्करण ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस ने १६३० में प्रकाशित किया।

१८८७ में तीन महत्त्वपूर्ण कोश प्रकाशित हुए—मिरजा शाहजादा कैसरबख्त का बनाया 'कैसर-कोश', जो इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ; मधुसूदन पंडित का 'मधुसूदन-निघंटु', जो लाहौर से प्रकाशित हुआ और मुन्नीलाल का अंग्रेजी-हिन्दी-कोश, जो दानापुर से प्रकाशित हुआ था। १८६२ में बाँकीपुर से बाबा बैजूदास का विवेककोश प्रकाशित हुआ, फिर गौरी-नागरी-कोश, मंगल-कोश, श्रीधर-कोश आदि छोटे-छोटे और भी कई कोश निकले। इनमें हिन्दी शब्दों के अर्थ हिन्दी में ही दिये गये थे और साधारणतः छात्रोपयोगी थे।

शब्द-सागर का प्रकाशन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्ततक आते-आते हिन्दी का पर्याप्त प्रसार हो चुका था। १८८५ में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और सुषुप्ति में पड़ी हुई जनता पाश्चात्य चकाचौंध से जागकर आँखें मलती हुई ही सही, पर अपने को पहचानने का प्रयत्न करने लगी थी। उस समय ''हिन्दी के हितैषियों को हिन्दी भाषा का ऐसा वृहत् कोश तैयार करने की आवश्यकता जान पड़ने लगी, जिसमें हिन्दी के पुराने पद्य और नये गद्य—दोनों में होनेवाले समस्त शब्दों का समावेश हो, क्योंकि ऐसे कोश के विना आगे चलकर हिन्दी के प्रचार में कुछ बाधा पहुँचने की आशंका थी।'' (श्यामसुन्दर दास) इसलिए १८६३ में ही नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने एक उत्तम कोश बनाने का विचार किया।

द्विवेदी-युग ने हिन्दी को जो व्यवस्था दी थी, उसका एक छोर यदि गुरुजी के व्याकरण से बँधा था, तो दूसरा इस कोश से।

१६०४ में सभा को ज्ञात हुआ कि कलकत्ते की हिन्दी-साहित्य-सभा-नामक संस्था ने भी एक बृहत् कोश बनाने का निश्चय किया है और उसके कार्य में कुछ प्रगति भी हो चुकी है। पूछताछ और कई वर्षों तक प्रतीक्षा करने पर जब सभा को उस ओर से निराशा ही हाथ लगी तब पुनः वह कोश-कार्य में नये उत्साह से दत्तचित्त हुई। तबतक तीन-चार वर्ष गुजर चुके थे। २३ अगस्त, १६०७ को रेवरेंड ई० ग्रीव्स ने सभा की प्रबंध-समिति के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि एक सर्वाङ्गपूर्ण कोश बनाने का भार सभा अपने ही ऊपर ले। उसमें एक कोश-परामर्शदात्री समिति संघटित की गयी, जिसके निम्नलिखित सदस्य थे—ई० ग्रीव्स, पंडित सुधाकर द्विवेदी, पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, बाबू गोविन्द दास, बाबू इन्द्रनारायण सिंह एम० ए०, लाला छोटेलाल, मुंशी संकट प्रसाद, पंडित माधवप्रसाद पाठक और बाबू श्यामसुंदर दास। सभा ने बड़ी मुस्तैदी से कार्य करना शुरू किया। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवान दीन, बाबू अमर सिंह, बाबू जगन्मोहन वर्मा, बाबू रामचंद्र वर्मा, पंडित वासुदेव मिश्र, पंडित वचनेश मिश्र आदि अनेक सज्जनों को सहायक संपादक बनाकर शब्द-संग्रह के लिए तैनात किया। मुंशी रामलगन लाल को शहरों में घूम-घूमकर अहीरों, कहारों, लोहारों, सुनारों आदि श्रमजीवी वर्गों के पारिभाषिक शब्दों, रस्मो-रिवाज आदि का पूरा लेखा-जोखा तैयार करने को प्रेरित किया और रामचंद्र वर्मा को ढाई मास तक कलकत्ते के इम्पीरियल पुस्तकालय (अब राष्ट्रीय पुस्तकालय) में बैठकर पशु-पक्षी-सम्बन्धी पुस्तकों से पूरा विवरण तैयार करने को भेजा। इस प्रकार यह बृहत् आयोजन बीस वर्षों के उद्योग, परिश्रम और अध्यवसाय के अनंतर १६२६ की जनवरी में समाप्त हुआ। ३१-१-१६२६ को इसके प्रधान संपादक श्यामसुंदर दास ने भूमिका तैयार की।

शब्द-सागर "त्रुटियाँ होते हुए भी, अनेक अर्थों में हमारा सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय शब्द-संग्रह है।" (प्रो० नंददुलारे वाजपेयी) इसमें कुल ६३११५ शब्दों के अर्थ तथा विवरण दिये गये हैं। इसकी महत्ता का भान इसीसे किया जा सकता है कि इसकी प्रस्तावना में हिन्दी-साहित्य के विकास की जो गाथा प्रस्तुत की गयी, वह आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" है, जो कि आज भी कई दृष्टियों से अद्वितीय है।

यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इसके बाद प्रकाशित होनेवाले सभी कोश-ग्रंथों का आधार यही शब्द-सागर रहा है।

हिन्दी का कोश-साहित्य

पाश्चात्य भाषाओं में पक्षी, पौधे, फूल और बागवानी तक पर अलग-अलग कई स्वतंत्र कोश मिल सकते हैं, पर हिन्दी में लोकोक्तियों और मुहावरों के सम्बन्ध में भी अबतक कोई ऐसा प्रामाणिक शब्दकोश नहीं है, जिसमें उनके मूल, संदर्भ, प्रयोग

आदि का स्पष्टीकरण किया गया हो। यद्यपि इस क्षेत्र में श्रीदिनकर शर्मा, डाक्टर सरहन्दी, श्रीजम्बूनाथन, श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और श्रीरामदहिन मिश्र के तत्सम्बन्धी कार्य स्तुत्य ही कहे जायँगे, पर वे निर्विवाद रूप से अनन्वय हैं, यह तो नहीं कहा जा सकेगा। यही दशा पर्यायवाची शब्दकोशों की भी है, जिसमें कोश नाम को सार्थक करनेवाला एक भी ग्रंथ नहीं। श्रीकृष्ण शुक्ल का भी एतद्विषयक ग्रंथ "संस्कृत के 'अमरकोष' का हिन्दी संस्करण-सा है। हिन्दी के शब्द उसमें नहीं के बराबर हैं।" (श्रीरत्नेश भट्ट)

विशेष शास्त्र-सम्बन्धी कोश-निर्माण का आरंभिक श्रेय स्वर्गीय बाबू श्यामसुंदर-दासजी को ही है, जिनके अध्यवसाय से हिन्दी को 'शब्दसागर' प्राप्त हुआ। १६०३ ई० में ही उनके संपादकत्व में का० ना० प्र० सभा ने 'हिन्दी वैज्ञानिक शब्दकोश' निकाला था, जिसमें कुल ६५५० शब्द थे। हिन्दी के पारिभाषिक शब्द-निर्माण-सम्बन्धी दिशा में यह प्रथम प्रयास था। (देखिये पारिभाषिक शब्दावली-शीर्षक लेख)

१६०८ से लेकर अगले बारह वर्षों तक लगातार परिश्रम करके श्रीवैजवल्लभ ने व्यावसायिक, वैद्यक, व्याकरण और कानूनी शब्दों का संकलन प्रस्तुत किया था। १६२५ में बनारस से 'हिन्दी विद्युत्-शब्दावली' प्रकाशित हुई, जो सिर्फ ६० पन्नों की है। इसी समय बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के कतिपय प्राध्यापकों के उद्योग से एक वैज्ञानिक शब्दकोश निकाला गया, जिसमें पदार्थ-विज्ञान, रसायनशास्त्र, गणित और ज्योतिष-सम्बन्धी कई नूतन शब्दों की उद्भावना की गयी। कुछ विचारक इसे नागरी-प्रचारिणी सभा के शब्दकोश का ही परिवर्द्धित संस्करण मानते हैं। (वही)

श्रीदयाशंकर दुबे, भगवानदास केला और गदाधरप्रसाद अम्बष्ठ के संपादकत्व में एक 'अर्थशास्त्र-शब्दावली' निकली, जो आज भी अपने क्षेत्र में अकेली है। केलाजी ने राजनीति-विज्ञान के सम्बन्ध में भी एक शब्दावली प्रकाशित की थी। लगभग उसी समय प्रयाग की विज्ञान-परिषद् द्वारा ४८२१ शब्दों का एक महत्त्वपूर्ण शब्दकोश प्रकाशित हुआ। इसके बाद ही श्रीसुखसम्पत्ति भंडारी की पाँच भागोंवाली 'अंग्रेजी-हिन्दी-डिक्शनरी' प्रकाशित हुई, जो पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण-सम्बन्धी कार्य में एक उल्लेखनीय कदम थी।

डाक्टर सत्यप्रकाश का 'समाचारपत्र-शब्दकोष' अपने विषय का एकमात्र शब्दकोश है। इसका प्रकाशन सम्मेलन से हुआ था। सम्मेलन ने ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के ठीक बाद ही राहुल सांकृत्यायन, प्रभाकर माचवे तथा विद्यानिवास मिश्र के संपादकत्व में १६ हजार शब्दों का 'शासन-शब्दकोष' प्रकाशित किया। १६४६-५० में डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद के निर्देशन में आकाशवाणी की ओर से आकाशवाणी-शब्दकोश तीन भागों में प्रकाशित हुआ। इसी समय डा० रघुवीर का वह ऐतिहासिक कोश पुनः नागपुर से प्रकाशित हुआ, जिसमें एक लाख से भी अधिक शब्द हैं और जो बहुत अधिक विवाद को प्रश्रय देता हुआ भी पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण के क्षेत्र में

अद्वितीय माना जाता है।" इस प्रकार का यह सर्वाधिक विराट् प्रयत्न है।" श्रीरत्नेश भट्ट)

१६५८ में डॉ धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० व्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ० रघुवंश के संपादन में बनारस के ज्ञानमंडल से हिन्दी-साहित्यकोश का प्रकाशन हुआ, जो अपने क्षेत्र का एकमात्र होता हुआ भी पूर्ण नहीं माना जा सकता। १६६२ में भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के अधीन हिन्दी-निदेशालय के तत्त्वावधान में पारिभाषिक शब्द-संग्रह प्रकाशित हुआ। पटना के राष्ट्रभाषा-परिषद् से 'कृषि-कोश' का प्रकाशन खंड-रूप में हुआ है।

इनके अतिरिक्त शब्दकोशों के नाम पर भी कई छिट-पुट प्रयत्न हुए। अभी हिन्दी-कोशों में 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर' को छोड़कर श्रीरामचंद्र वर्मा का 'प्रामाणिक हिन्दी-कोश', ज्ञानमंडल का 'बृहत् हिन्दी-कोश' और नालंदा-कोश सर्वाधिक प्रचलित हैं।

हिन्दी में विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के भी अलग-अलग कोश प्रकाशित हुए हैं। तुलसी द्वारा प्रयुक्त शब्दों का एक कोश तो बहुत पहले ही तैयार हो चुका था, इधर डाक्टर दीनदयाल गुप्त के निर्देशन और डाक्टर प्रेमनारायण टंडन के संपादकत्व में लखनऊ-विश्वविद्यालय से "व्रजभाषा-सूरकोश" का प्रकाशन हो रहा है, जिसके पाँच खंड तो अवश्य ही प्रकाशित हो चुके हैं। इस कोश में सूरदास द्वारा प्रयुक्त शब्द तो मुख्यतया दिये ही गये हैं, उनके साथ व्रजभाषा के अन्य विशिष्ट कवियों द्वारा प्रयुक्त, विशिष्ट व्रजभाषा-प्रयोग भी अपना लेने की उदारता बरती गयी है। अतः यह कोश एक प्रकार से व्रजभाषा-कोश ही हो गया है। इस प्रकार के शब्दकोशों का आना किसी भी भाषा के गौरव की वृद्धि करता है। डाक्टर हरदेव बाहरी ने 'प्रसाद-साहित्य-कोश' प्रकाशित किया है, जो 'शब्दकोश नहीं है, ज्ञानकोश है।' इस कोश में प्रसाद-साहित्य का पूरा-पूरा परिचय दे दिया गया है। इसमें सिर्फ शब्दार्थ नहीं, प्रसाद-साहित्य में उल्लिखित पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, ऋतुएँ, जातियाँ, सूक्तियाँ, सिद्धांत-कथन, भाव-विचार, स्थानों के भौगोलिक वर्णन आदि सब हैं।

संस्कृत-हिन्दी-कोश-निर्माण की दिशा में श्रीरामस्वरूप शास्त्री का कार्य बड़ा ही प्रशंसनीय हुआ है। आपके "आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोश" में हिन्दी के तद्भव और देशी शब्द तो लिये ही गये हैं, तत्सम शब्दों का ग्रहण भी कम नहीं हुआ है। इसमें 'कास्टिक-सोडा' और 'कास्मिक रे' आदि हिन्दी-क्षेत्र में प्रयुक्त विदेशी शब्दों के भी संस्कृत-रूप देने के प्रयत्न किये गये हैं। इसके परिशिष्ट भाग में संस्कृत-सूक्तियों के हिन्दी-रूप, हिन्दी-सूक्तियों के संस्कृत-रूप, पारिभाषिक शब्दों के संस्कृत-पर्याय, छंदों का परिचय, साहित्यकारों का परिचय आदि देकर कोशकार ने इस ग्रंथ के गौरव और उपयोगिता में वृद्धि की है। निःसंदेह, यह अपने ढंग का प्रथम एवं अद्वितीय शब्दकोश है।

हिन्दी में उड़िया, उर्दू, कन्नड, गुजराती और बँगला के कोश भी प्राप्त हैं। मेरे जानते भारतीय भाषाओं में इन्हीं पाँच के कोश हमारे यहाँ हैं—वे भी बहुत साधारण। तमिल, तेलुगु, मलयालम और पंजाबी में हिन्दी-कोश हैं, पर उन भाषाओं का एक भी कोश हमारे यहाँ नहीं।

विदेशी भाषाओं में अंग्रेजी को छोड़, मेरे जानते, सिर्फ रूसी-हिन्दी-कोश ही हैं, जिनमें से एक साहित्य-अकादमी द्वारा प्रकाशित है और दूसरा रूस से।

विश्वकोश—अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं की तुलना में

हिन्दी में 'विश्वकोश' के नाम पर अभी तक सिर्फ दो 'विश्वकोश' हैं। प्रथम, १६१६ से १६३२ के बीच प्रकाशित श्रीनगेन्द्रनाथ बसु का 'हिन्दी-विश्वकोश', जो २५ बड़े-बड़े भागों में कलकत्ते से छपा। इस महाप्राण व्यक्ति ने 'बँगला-विश्वकोश' १६११ में प्रकाशित किया और तब वे हिन्दी-विश्वकोश के निर्माण में पिले। बहुत पहले से ही राष्ट्रभाषा की क्षमता को स्वीकार करते हुए, उसके सर्वतोमुखी विकास के लिए इस प्रकार की आवश्यकता-पूर्ति पर उन्होंने बल दिया और विपुल आर्थिक क्षति उठाते रहने के बावजूद इस महान् यज्ञ की पूर्णाहुति की। द्वितीय, श्रीकृष्णवल्लभ द्विवेदी के संपादन में प्रकाशित 'हिन्दी-विश्वभारती', जो अब स्वयं में एक पूर्ण स्वतंत्र संस्था बन गयी है। इधर केन्द्रीय सरकार के अनुदान पर नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने 'हिन्दी-विश्वकोश' के प्रथम दो भाग प्रकाशित किये हैं। अभी इसके और आठ भाग छपेंगे। इस तरह हिन्दी को अभी कुल सवा दो विश्वकोश ही प्राप्त हैं।

इस 'हिन्दी-विश्वकोश'-सम्बन्धी मूल योजना संपूर्ण कोश को एक-एक हजार पृष्ठों के ३० खंडों में प्रकाशित करने की थी और इसके लिए २२ लाख रुपया व्यय कूता गया था। अब यह पाँच-पाँच सौ पृष्ठों के दस खंडों में ही प्रकाशित होगा। इस प्रकार विश्वकोश की मूल परिकल्पना जहाँ ३० हजार पृष्ठों की थी, वहाँ अब वह पाँच हजार पृष्ठों का ही रह पायगा। फलतः, इस कटौती के चलते संपादक-मंडल को प्रारंभिक शब्द-सूची के ७०००० शब्दों में से सिर्फ २०००० शब्दों को ही विचारार्थ रखना पड़ा। महीन रोमन टाइपवाले २४००० पृष्ठों के एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका तक में जबकि प्राच्य ज्ञान सर्वथा उपेक्षित है और व्यास-ऐसे महापुरुषों के नाम तक उसमें नहीं है, तब अपेक्षाकृत मोटे और अधिक स्थान लेनेवाले नागरी टाइप के पाँच हजार पृष्ठों के इस 'हिन्दी-विश्कोश' में कितना ज्ञान समाया जा सकेगा—यह अभी से स्पष्ट हो रहा है। ब्रिटैनिका ने तो प्राच्य ज्ञान को उपेक्षित छोड़ दिया है, पर हम कैसे अंग्रेज, अंग्रेजी जाति, विधि, कानून, भाषा और साहित्य को छोड़ पायँगे? हम वही पढ़कर तो आये हैं, बल्कि हमारा ज्ञान 'वही' तो है! इसी विश्वकोश में अंग्रेज-सम्बंधी अन्य तथ्यों के अतिरिक्त सिर्फ अंग्रेजी-साहित्य पर साढ़े बारह पृष्ठ लिख दिये गये हैं, जबकि अवधी भाषा और

साहित्य पर केवल एक पृष्ठ है। इससे तो अच्छा यह था कि पहले हम ब्रिटैनिका का अनुवाद कर देते और तब उसमें प्राच्य-परिशिष्टांक के नाम पर कई खंड और प्रकाशित करते। ब्रिटैनिकावालों को भी एक दिशा मिलती, और हमें तो खैर, अपनी दिशा मालूम ही है।

विश्वज्ञान का परिचय देनेवाले विश्वकोश संश्लिष्ट तो हों ही, अपूर्ण नहीं हों तो अधिक अच्छा है।

इन सवा दो हिन्दी-विश्वकोशों की तुलना में यदि हम विदेशों के विश्वकोशों की परम्परा, संख्या, अपेक्षाकृत पूर्णता और उच्च स्तर को देखें तो अपने पर बड़ी निराशा होती है। एक फ्रांस का दिदेरो था, जो प्रकाशक की माँग पर अंग्रेजी-विश्वकोश का अनुवाद करने चला और लगभग बीस वर्षों तक अथक परिश्रम कर चुकने के बाद उसने १७७२ में फ्रांसीसी जनता को एक सर्वथा मौलिक विश्वकोश प्रदान किया। उसने विश्वकोश के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"एनसाइक्लोपीडिया का उद्देश्य भूमंडल पर निःसृत संपूर्ण ज्ञान को एकत्र करना, उसकी साधारण योजना को अपने समकालीन मनुष्यों के लिए प्रस्तुत करना है और साथ ही आनेवाली पीढ़ियों के लिए उसे छोड़ जाना है ताकि अतीत की उपलब्धियाँ आगे की शताब्दियों में भुला न दी जायँ।" (प्रभाकर द्विवेदी)

अंग्रेजी में ज्ञान की अलग-अलग शाखाओं पर अलग-अलग विश्वकोश हैं और वे सभी अभूतपूर्व तो हैं ही, अद्वितीय भी हैं। धर्म और आचारशास्त्रकोश, साहित्य-कोश, संस्कृतिकोश, क्रीड़ाकोश, लोककथाकोश, बागवानीकोश, पक्षीकोश, फोटोग्राफी-(भाचित्रण) कोश, प्रकृतिकोश, ओषधिकोश, ग्रामीण क्रीड़ाकोश, ग्रंथकोश, संगीतकोश आदि। संपूर्ण ज्ञान का विवरण देनेवाले वहाँ कम-से-कम सोलह विश्वकोश तो हैं ही; जिनमें प्रथम स्थान एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका को प्राप्त है। (देखिये—प्रभाकर द्विवेदी का लेख।) इसी तरह विश्व के अन्य देशों में भी उनके अपने-अपने विश्वकोश हैं।

भारतीय भाषाओं में नवीन आदर्श पर विश्वकोश-निर्माण का कार्य सबसे पहले बँगला में शुरू हुआ, जिसके फलस्वरूप श्रीनगेन्द्रनाथ बसु के संपादकत्व में १६११ में बँगला-विश्वकोश का प्रकाशन हुआ। इसके २२ भाग हैं। इसी का हिन्दी-संस्करण श्रीबसु ने १६१६-३२ के बीच प्रकाशित किया था, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इसी बीच श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती के तत्त्वावधान में विश्वविद्या-ग्रंथमाला का और १६३८ में डाक्टर केतकर के नेतृत्व में २३ भागों में मराठी-ज्ञानकोश का भी प्रकाशन हुआ था। उन्हीं के नेतृत्व में ज्ञानकोश का एक गुजराती-संस्करण भी प्रस्तुत हुआ। केतकर साहब उसका हिन्दी-संस्करण भी तैयार करना चाह रहे थे, पर शायद एक-आध खंड ही निकाल पाये। इस काम के लिए उन्होंने एक लिमिटेड कम्पनी बनायी थी और उन्हें भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

विश्वकोश के मामले में भारतीय भाषाओं में सर्वाधिक सम्पन्न मराठी भाषा ही है। इसमें इस कार्य के लिए प्रयत्न भी बहुत पहले से ही शुरू हुए थे। १८७८ में ही जनार्दन हरि आठल्ये ने 'विद्यामाला' के प्रकाशन का सूत्रपात किया था, पर वह कुछ सौ पृष्ठों से आगे नहीं चल सका। पुनः बड़ौदा-नरेश की प्रेरणा से 'विद्याकल्पतरु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, पर उसकी भी प्रगति रुक गयी। लगभग तीस साल पहले कोल्हापुर से 'व्यावहारिक ज्ञानकोश' के पाँच खंड प्रकाशित हुए, जिनमें प्रतिदिन के जीवन के लिए आवश्यक बातों की जानकारी दी गयी। मराठी का पौराणिक और ऐतिहासिक कोश अपने ढंग का अनूठा है और वह रघुनाथ भास्कर गोडबोले द्वारा १८७६ में ही प्रकाशित हुआ था। चित्रावशास्त्री के नेतृत्व में १६३२ में चरित्रकोश का प्रकाशन प्रारंभ हुआ, जिसमें वैदिक काल से लेकर स्वाधीनता-प्राप्ति तक के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की जीवनियाँ संकलित हैं। बड़ौदा में व्यायाम-ज्ञानकोश के दस खंड प्रकाशित हुए, पुनः दाते और कर्वे के अथक परिश्रम के फलस्वरूप छह खंडों में 'सुलभ विश्वकोश' का प्रकाशन हुआ। इधर मराठी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार पंडित महादेवशास्त्री जोशी के नेतृत्व में पूना में भारतीय संस्कृतिकोश-मंडल की स्थापना हुई है, जहाँ से भारतीय संस्कृतिकोश का पहला खंड प्रकाशित भी हो चुका है। योजना है कि यह आठ खंडों में छपेगा और प्रत्येक में ८०० पृष्ठ होंगे। इसका हिन्दी-संस्करण प्रकाशित करने की भी योजना है। प्रो० वाडेकर के नेतृत्व में दर्शनशास्त्र के विश्वकोश की रचना आरंभ हुई है। मराठी का व्युत्पत्ति-कोश तो खैर, अपने ढंग का अद्वितीय ग्रंथ है ही।

१७ मई, १६६२ को सर्वांगपूर्ण मराठी-विश्वकोश के निर्माण का सूत्रपात हुआ है, जिसके प्रधान संपादक तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी हैं। कहा जाता है कि यह विश्वकोश बारह खंडों में प्रकाशित होगा और इसमें अबतक की समस्त ज्ञानराशि संश्लिष्ट रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया जायगा। इसके पूर्व जोशीजी के ही प्रयत्न से बाई की प्राज्ञ-पाठशाला के तत्त्वावधान में मीमांसाकोश तथा धर्मकोश का प्रकाशन हो चुका है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कई देशी भाषाओं में छिट-पुट ढङ्ग से विश्वकोश प्रकाशित करने के प्रयत्न हो रहे हैं। तमिल-विश्वकोश का प्रकाशन इसका एक उदाहरण है। चौदह वर्षों के सतत परिश्रम के बाद इसका अन्तिम खंड १६६२ में प्रकाशित हुआ है। इसी तरह तेलुगु-विश्वकोश भी प्रकाशित हो रहा है, जिसके कुल बारह खंड होंगे। कहा जाता है कि पश्चिम वंग-सरकार ने भी इस कार्य की ओर ध्यान दिया है।

आदर्श हिन्दी-कोश-निर्माण के लिए कुछ सुझाव

"हिन्दी-कोश-निर्माण में अराजकता"-शीर्षक से संपादकीय लिखते हुए "सम्मेलन-पत्रिका" ने हिन्दी-कोश-निर्माण की वर्त्तमान दुरवस्था पर ठीक ही कहा है— "हिन्दी में अनेक छोटे-बड़े कोशों की रचना हुई है और होती जा रही है, वर्त्तमान समय

हिन्दी-कोश-निर्माण का युग कहा जा सकता है। हिन्दी-कोश की ढेरी में से यदि एक-एक कोश का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो कुछ भी पल्ले पड़ने का नहीं है। शब्द-महार्णव में तैरनेवाले कोशकार अपनी अलग-अलग पतवार से कोश की नौका चला रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-कोश-निर्माण-पद्धति में एकरूपता तो आयी नहीं; साथ ही आवश्यकता की पूर्ति भी न हो सकी और अभाव ज्यों-के-त्यों अटल खड़े हैं।" (सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४५, संख्या १)

वर्त्तमान बृहद् हिन्दी-कोशों में शास्त्रीय पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावली का नहीं के बराबर स्थान है; जैसे कोशकारों ने यह समझ लिया हो कि उन शब्दों की एक अलग जाति ही है, जिसका सम्बन्ध सामान्य कोशों से नहीं। कम-से-कम, साधारण व्यवहार में नित-प्रति आनेवाले शब्द तो रखे ही जा सकते हैं। शब्दों की व्युत्पत्तियों में भी कोई एकरूपता और प्रामाणिकता नहीं है। डा० जोशी, डा० भोलानाथ तिवारी और डा० हरिवल्लभ मायाणी ने ऐसी कई व्युत्पत्तियों पर प्रकाश डाला है, जिनके संबंध में 'हिन्दी-शब्दसागरकारों' से भी गलतियाँ हो गयी हैं। दूसरे कोश तो व्युत्पत्ति देना आवश्यक समझते भी नहीं। हिन्दी-कोशों का तीसरा और सबसे महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उनमें भाषा के ऐतिहासिक विकास का ध्यान रखना एकदम आवश्यक नहीं माना जाता। यह किसी भी भाषा के लिए एक लज्जाजनक बात है, और हिन्दी के लिए तो और भी; क्योंकि इसमें भारत की सर्वाधिक प्राचीन लिपिबद्ध भाषा, या यों कहें कि समस्त भारोपीय भाषाओं की मूल भाषा के संस्कारों के साथ-साथ प्रादेशिक, क्षेत्रीय और जनपदीय भाषाओं तथा बोलियों का समाहार है। अनेक विदेशी भाषाओं का संस्पर्श जो इसे प्राप्त हुआ है, सो अलग। इसलिए हिन्दी-कोशकारों को कोश-निर्माण करते समय इन सभी भाषाओं के शब्दों को चुनना और पहचानाना होगा। उनके लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि "संस्कृत के जितने प्राचीन और अर्वाचीन कोश हैं, उनके आधार पर उन सब शब्दों को चिटों पर उतार लेना चाहिये, जिनका हिंदी भाषा या साहित्य में कभी कहीं पर प्रयोग देखा गया है, अथवा हिन्दी और संस्कृत के बढ़ते हुए सम्पर्क की पृष्ठभूमि में जिनके प्रयुक्त होने की भी संभावनाएँ हैं। आरंभ से लेकर अन्ततक जितना भी प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी भाषा का गद्य और पद्य में साहित्य है, जो कहीं भी प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में उपलब्ध है, उस सबकी एक विवरणात्मक सूची सर्वप्रथम तिथिक्रम के अनुसार बन जानी चाहिये। यह वह मूल सामग्री समझी जायगी, जिसका कोश में संनिवेश करना आवश्यक होगा। वस्तुतः किसी भी बृहत् प्रामाणिक हिन्दी-शब्दकोश का निर्माण इसी प्रकार की अनुसूचित आधार-सामग्री के समुचित सन्निवेश द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है।" (श्रीवासुदेवशरण-अग्रवाल)

इनके अतिरिक्त हिन्दी का नया गद्य-पद्यमय साहित्य, जिसमें अनेक देशी-विदेशी-आंचलिक शब्द नये संदर्भ में प्रयुक्त हो रहे हैं; समाचारपत्रों का साहित्य, जहाँ संपादक

अपनी सूझ-बूझ से तत्काल शब्द गढ़ लेता है, और हाल में जिस वैज्ञानिक, राजनीतिक और सामाजिक आदि विषयों की पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया गया है—इन सबके यथोचित सन्निवेश के बिना कोई भी हिन्दी-कोश मानक नहीं समझा जा सकेगा।

इसके लिए होना यह चाहिये कि नागरी-प्रचारिणी सभा, साहित्य-सम्मेलन या भारत-सरकार सबसे पहले अपने पिट्ठू कार्यकर्त्ताओं, परिचितों और तथाकथित पूँछधारी 'स्वजनों' के संकुचित घेरे से बाहर निकलें और देश भर के उन प्रतिभाशाली, अध्यवसायी एवं धुनी व्यक्तियों के मुक्त सहयोग की आकांक्षा प्रकट करें—पूरी ईमानदारी के साथ जो कार्य करना चाहते हैं, पर उन्हें करने नहीं दिया जाता। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देश में सर्वाधिक उपेक्षा ऐसे ही व्यक्तियों की हो रही है, जिनके पास साधन और समर्थन को छोड़कर शेष सब-कुछ है। इन संस्थाओं को यह स्मरण रखना चाहिये कि विश्व-कोश या कोई भी कोश देनेवाले प्राथमिक धुनी व्यक्ति किसी भी भाषा में कोई बड़े नाम-गुण-धारी नहीं रहे हैं—चाहे वे नगेन्द्रनाथ बसु हों या श्यमासुन्दर दास, केतकर हों या रामचंद्र शुक्ल, दिदेरो हों या लक्ष्मणशास्त्री जोशी। इस घेरे से निकलने के बाद ही वे पायँगे कि उन्हें किस हद तक सहयोग प्राप्त होता है।

जो कोई संस्था इस ईमानदारी और पूर्वाग्रह-मुक्ति का बीड़ा उठावे, वह प्रत्येक प्रदेश के प्राइमरी शिक्षकों से लेकर प्राध्यापकों तक के बीच कार्य का समुचित वितरण कर दे। उस प्रदेश में होनेवाले कार्यों के संपादन के लिए वहाँ संपादक-मंडल संगठित करे, जो देखे कि साधारण जनता द्वारा प्रयुक्त शब्दों से लेकर प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य तक, जनता द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली से लेकर सुसंस्कृत समाज में व्यवहृत समस्त पारिभाषिक शब्दों की सुविस्तृत अनुक्रमणिका का काम किस गति से चल रहा है और कौन व्यक्ति उसके लिए उचित अधिकारी माना जा सकेगा। ऐसे व्यक्तियों के बीच पुस्तकों, समाचारपत्रों या अन्य इसी प्रकार के साधनों का उचित बँटवारा हो और तब उसका सुयोग्य संपादक-मंडल द्वारा सुनियोजन हो। हिमाचल-प्रदेश से लेकर बिहार तक और उर्वशीयम् से लेकर बम्बई तक हिन्दी का व्यवहार हो रहा है। इतनी बड़ी सीमा के समस्त क्षेत्रों के जानकार काशी या प्रयाग में बैठकर काम करनेवाले दो सौ 'डाक्टर' भी नहीं हो सकते। ग्रियर्सन ने अपने भाषा-सर्वेक्षण के लिए प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों और निर्देशकों तक से सहायता ली थी। हिन्दी के कितने कोशकारों को ज्ञात है कि ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर में लगभग ६००० ऐसे शब्दों का प्रयोग है, जो मध्यकाल में नगर, सेवा, राज्यकार्य आदि क्षेत्रों में प्रयुक्त होते थे और जो आज भी किसी-न-किसी रूप में व्यवहृत हो रहे हैं। उसी तरह के ग्रंथ राजस्थान के वर्णक ग्रंथ हैं। कोशों को देखकर कोश तैयार करने की प्रवृत्ति हम छोड़ें तभी हमारा कल्याण हो सकेगा।

अच्छा यह होगा कि भारत-सरकार नागपुर में नगेन्द्रनाथ बसु के नाम पर एक ऐसा प्रतिष्ठान स्थापित करे, जिसके तीन विभाग हों—भाषाविज्ञान-विभाग, कोश-विभाग

और विश्वकोश-विभाग। तीनों विभागों में ऐसे कार्यकर्त्ताओं को रखा जाय, जो अपनी-अपनी भाषा के मूल से लेकर अद्यावधि विकास तक की समस्त गति-विधियों से परिचित हों और वे निश्चित योजना के अनुसार सूचनाओं का संग्रह करें। मराठी, तमिल, तेलुगु आदि भाषाएँ जो अलग-अलग कोश और विश्वकोश तैयार करने में लगी हैं, उनमें व्यर्थ परिश्रम, अध्यवसाय, प्रतिभा और अर्थ का व्यय हो रहा है। भारत-सरकार इन समस्त बिखरी हुई प्रतिभाओं को एकजुट करे और उसी प्रतिष्ठान से भारत की सभी भाषाओं में और आवश्यकता दीख पड़े तो कतिपय विदेशी भाषाओं में भी भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकों, विभिन्न कोशों और विश्वकोशों का प्रकाशन करे। जब हम अणु के लिए, ईंधन के लिए और कोयला के लिए अलग प्रतिष्ठान खोल सकते हैं तो क्यों नहीं एक ऐसा भी प्रतिष्ठान स्थापित किया जाय, जहाँ अखिलभारतीय स्तर पर तत्सम्बन्धी शोध हो। उस दिन हमारे एक अर्थशास्त्री मित्र बता रहे थे कि भारत के सभी प्रदेशों से आँकड़ा मँगाकर उन्होंने पता लगाया है, सिर्फ मुर्गी-पालन के लिए केन्द्र और प्रादेशिक सरकारें कुल मिलाकर ढाई करोड़ रुपया प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में खर्च कर चुकी हैं। भाषा, कोश और विश्वकोश अणु तथा अंडे से कम महत्त्व नहीं रखते।

[इस लेख के लिए लेखक ने निम्नलिखित पुस्तकों और लेखों से सामग्री एकत्र की है—हिन्दी-शब्द-सागर की भूमिका—श्यामसुन्दर दास; कोश-निर्माण की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि—प्रो० विजयकुमार शुक्ल, सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, संख्या ३; हिन्दी के कोश और कोशशास्त्र के सिद्धांत—डा० हेमचंद्र जोशी, राजर्षि-अभिनन्दन-ग्रंथ, दिल्ली; कोशकला—रामचंद्र वर्मा; हिन्दी-कोष-साहित्य और पारिभाषिक शब्द-समस्या—श्रीरत्नेश भट्ट, सम्मेलन-पात्रिका, भाग ३७, संख्या ३; संस्कृत कोशों के शब्द-संकलन के प्रकार—श्रीरमाशंकर भट्टाचार्य, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५९, संख्या १; हिंदी भाषा के कोशनिर्माण की कुछ समस्याएँ—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, ना० प्र० प० वर्ष, ६३, अंक १; हिन्दी का प्रथम शब्दकोश—श्रीउमाशंकर, पुस्तक-जगत्, जनवरी १९६३; कोष-निर्माण—प्रो० नंददुलारे वाजपेयी, वीणा, जनवरी १९५२; मानव-सभ्यता में विश्वकोशों की परंपरा—प्रभाकर द्विवेदी, भाषा, वर्ष १, अंक ४; भारतीय भाषा में विश्वकोश—राष्ट्रवाणी, पूना से हिन्दी-प्रकाशक में उद्धृत, जून १९६३; हिन्दी-कोश-निर्माण में अराजकता—सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४५, संख्या १; हिन्दी-कोश-रचना—सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४१, संख्या २; हिन्दी-शब्दसागर की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अशुद्धियाँ—डा० भोलानाथ तिवारी, सम्मेलन-पत्रिका, भाग ३९, संख्या १; व्युत्पत्ति-चर्चा—डा० हरिवल्लभ मायाणी, सम्मेलन-पत्रिका, भाग, ३९, संख्या ४; हिन्दी-विश्वकोश—श्रीनगेन्द्रनाथ बसु, कलकत्ता; हिंदी-विश्वकोश—ना० प्र० सभा, काशी]

शोध

[हिन्दी की अन्य समस्याओं पर विचार कर चुकने के बाद जब मैंने शोध की समस्या पर लिखना शुरू किया तो सच कहूँ, एक अजीब उलझन में पड़ गया। समस्या की जो लकीरें मेरे मन में उभरीं और उनसे जो विचार स्फुरित हुए, उन्हें प्रकट करना मेरे लिए, इसलिए भी कठिन दिखायी पड़ने लगा कि मैं डाक्टर नहीं हूँ, विभागाध्यक्ष भी नहीं हूँ और न मैंने अबतक कोई अनुसंधान किया-कराया है। हिन्दी के अभी-अभी बने एक डाक्टर ने कुछ वर्ष पहले (जब वे मात्र आलोचक ही थे) हिन्दी के आलोचकों की लम्बी पंक्ति में कहीं मुझे भी जबर्दस्ती खड़ा कर दिया था, मन में नापा-जोखा था और शायद अंक भी दिये थे—५९। कैसे कहूँ कि यह 'आकलन' ठीक नहीं था; क्योंकि एम० ए० परीक्षा में भी मेरे सबसे प्रिय विषय—भाषा-विज्ञान—में मेरे परीक्षक (शायद डा० सुभद्र झा) ने भी मुझे ५९ ही दिये थे। पहले समझता था—उस समय के एक विशेष षड्यंत्र से ही वैसा हुआ, अब सोचता हूँ—वह भी ठीक ही रहा होगा। तो, अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि यदा-कदा कुछ पढ़-लिख लेता हूँ। मेरे गुरु का कहना है—यह मेरा व्यसन है, वही सही। फिर भी यह सोचता हूँ कि यदि डाक्टर के रूप में लिखता तो यह लेख अधिक प्रभावोत्पादक होता, विश्वासोत्पादक भी बनता और यह डर नहीं रहता कि लोग कहीं यह न बोलें—देखो तीसमार खाँ को, विना शोध किये शोध पर लिखने चले ! इसलिए, मैंने डाक्टरों के पास ही पहुँच-पहुँचकर उनसे उनकी राय जानने की कोशिश की कि एक दिन संयोग से डाक्टरों के भेषज-निर्देशों की पूरी गड्डी ही हाथ आ गयी—'हिन्दी-अनुशीलन' का 'शोध-विशेषांक'। यही कारण है कि इसमें अपनी ओर से मैंने बहुत कम कहा है—सिर्फ भेषज-निर्देशों के हाशिये में जो अपनी टिप्पणियाँ थीं, वहीं जगह-ब-जगह, सोधे तौर पर लिख दी गयी हैं। मैं मानता हूँ, यह मेरी अनधिकार चेष्टा है।

हिन्दी-शोध अब समस्या नहीं है, एक व्याधि है, और उससे भी अधिक एक आधि। मैं यह कैसे बताऊँ कि मुझे भी इस रोग की थोड़ी पहचान है—डिग्री के नहीं, अनुभव के बल पर ही।

यही एक मास पूर्व उत्तर-प्रदेश के एक डाक्टर-मित्र इस गरीब की कुटिया पर पधारे। मुजफ्फरपुर की लीचियों का रस घोंटते हुए पूछा—कुछ शोध-ऊध कर रहे हो या नहीं ? मैं भौंचक रह गया, मुँह से निकल पड़ा—'करने को सोच रहा हूँ, हिन्दी के शोध-ग्रंथों की अशुद्धियों पर, निर्देशक ही नहीं मिलता।' वह ठहाका मारकर हँस पड़े—'फिर शरारत !' आपसे कहूँ, बल्कि विश्वास दिलाऊँ—शरारती

बात जैसे भी करे, पर झूठ नहीं बोलता। सच्ची बात तो यह है कि सत्य की गहरी पहचान के बिना शरारत हो ही नहीं सकती।]

हिन्दी की राजभाषा-समस्या यदि हमारी कलुषित राजनीति और मनोवृत्ति की देन है तो इसकी शोध-समस्या हमारी दूषित शिक्षा-नीति और मनोविकृति की उपज। हिन्दी की अन्य समस्याएँ, कुछ हद तक उसकी अपनी प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रक्रिया के फलस्वरूप भी मानी जा सकती हैं, पर ये दोनों समस्याएँ तो शत-प्रतिशत मनुष्य-निर्मित हैं।

हिन्दी में शोध-कार्य एक व्यवसाय बन गया है; और विश्वविद्यालयों के कारखानों में शोधार्थी, निर्देशक और परीक्षक—तीनों के सहयोग से शोध-प्रबन्धों का 'मास प्रोडेक्शन' हो रहा है। (डॉ० बच्चन सिंह) पी-एच० डी० या डी० फिल्० या कभी-कभी डी० लिट्० की उपाधि का मूल्य एम० ए० से कम हो गया है—डॉ० इन्द्रनाथ मदान। और परिस्थिति अब ऐसी हो गयी है कि लोग सोचने लगे हैं—"ठाली बैठे की बेगार करने-वाले प्रार्थियों को अब प्रोत्साहन देने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी के शोध-परिवार की उत्पादन-वृद्धि का लक्ष्य कभी का पूरा हो चुका है। अब तो इसके नियोजन और परिसीमन की ही आवश्यकता है।"—(डॉ० प्रभुदयाल मीतल)

हिन्दी में शोध-कार्य-विधा का चीर-हरण करनेवाले दुःशासनों, दूसरों का अधिकार छल-छद्म से हड़प जानेवाले दुर्योधनों और नमकहलाल द्रोणाचार्यों का एक ऐसा सम्मिलित प्रपंच बन गया है कि उसे भेदने का उपक्रम करनेवाला महारथी उसी का बन-कर रह जाता है। फलतः, शोधकार्य ने एक साधारण परीक्षा का रूप ग्रहण कर लिया है, जिससे शोधार्थी की बेकारी दूर हो जाती है, निरीक्षक को प्रोफेसरी मिल जाती है और परीक्षकों की रोटी-दाल चलती है। प्रभाकर माचवे के शब्दों में—इनमें एक तरह से Conspiracy of Silence है, इनमें जो थोड़ा ईमानदार है, वह 'जाने भी दो, काहे को गंगाजल उठवाते हो' (ह० प्र० द्विवेदी) कहकर एक खिसियानी हँसी हँस देता है। जो वह भी नहीं है, वह शोध की सार्थकता सिद्ध कर रहा है और उसके सस्ते और भोंड़ेपन को यह कहकर टाल रहा है कि यह तो दतरस-विकार है, आगे चलकर खुद ठीक हो जायगा। कुछ लोग यह कहने लगे हैं—आलोचना शोध नहीं है, दोनों की पारिभाषिक परिसीमा बाँधते हैं; पर विडंबना यह है कि शोध के लिए आलोचना के विषयों पर ही छापा मारा जा रहा है और शोधार्थी आलोचना की ही सीमा में घूम-घूम-कर चक्कर खाता हुआ शोध का निष्णात पंडित बनता चला जा रहा है। हिन्दी में शोधार्थियों की स्थिति उस कीटाणु के सदृश है, जिसके सम्बन्ध में कहा गया है कि वह एक ही अंडा देकर अपने-आपको खंडशः विभक्त कर देता है। शोधार्थी जीवन भर में एक ही बार शोध करता है, बस सायुज्य मुक्ति। उसके बाद वह राजगुरु बन जाता है। फिर अपने अश्वत्थामा के लिए आटे में पानी मिलाने की जरूरत नहीं रह जाती, दरवाजे

पर ठेठ हरियाने की दुधारी गाय बँध जाती है। शोध हिन्दी के उच्चपदस्थ डाक्टरों के लिए कामधेनु है, उससे खाने के लिए घी और फल, घूमने के लिए प्रथम श्रेणी का भत्ता और विद्वत्परिषद् में सभापतित्व करने के लिए एक गंगा-जमुनी कुर्सी मिल जाती है। सरस्वती के वरद पुत्रों को इससे अधिक और क्या चाहिये ?

शोध का सैद्धांतिक पक्ष

वैज्ञानिक दृष्टि से नवीन तथ्यों का प्रकाशन अथवा उपलब्ध ज्ञान की नयी व्याख्या ही शोध या अनुसंधान कहलाती है। यदि हम संस्कृत-न्यायशास्त्र के एक पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करें तो हम कह सकते हैं कि उसमें एक 'प्रतिज्ञा'--एक मौलिक प्रस्थापना—रहती है, जिसको अनुगमन या निगमन-विधि से सिद्ध किया जाता है। ''सच्चे शोध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है।'' (डॉ० नगेन्द्र)

शोध न तो एक 'अध्ययन' है और न एक 'समीक्षा', वह अनुसंधित्सु की समस्त मेधा का निचोड़ है; वह सतत जागरूक और जिज्ञासु व्यक्ति का एक ऐसा 'बोध' है, जो सामग्रियों के घटाटोप अंबार से बिजली की तरह कौंध गया है, या कि सुपरिचित बोधों की एक ऐसी 'व्याख्या' है, जिसमें विषय का सत्य पहले से अधिक स्पष्ट और प्रोद्भासित हो उठता है। इसलिए, शोध के सम्बन्ध में यह कथन बहुत अंशों में ठीक माना जा सकता है कि ''वह इसके सिवा कुछ नहीं कि जिसे सभी देखते हैं, उसे ही हम भी देखें ; पर सोचें वह, जो किसी ने न सोचा हो।'' (नलिनविलोचन शर्मा)

शोध के दो रूप हैं—उपाधि-निरपेक्ष या निरुपाधि और उपाधि-सापेक्ष या सोपाधि। शोध जब अनुसंधित्सु की जिज्ञासा की तुष्टि के निमित्त, स्वांतःसुखाय या अपनी स्वाभाविक ऋजु-वक्र प्रक्रिया से होता है तो वह प्रथम कोटि का निरुपाधि शोध कहलाता है। यहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से जिज्ञासा के रथ पर सवार होकर, स्वयं सारथ्य करता हुआ आगे बढ़ता है और अपनी आत्मा, ज्ञान और अनुभव के प्रकाश में तबतक सत्य का अनुसंधान करता है जबतक कि उसकी जिज्ञासा संतुष्ट न हो जाय। निरुपाधि शोध में बहुधा होता यह है कि शोधकर्त्ता को इसका ज्ञान ही नहीं रहता कि वह पारिभाषिक अर्थ में 'शोध' ही कर रहा है, यही कारण है कि उसमें शोध के सभी तत्त्व तो रहते हैं, सिर्फ उसकी यांत्रिकता नहीं रहती। उसका विषय 'सुझाया' हुआ नहीं रहता, 'दिखाया' हुआ नहीं होता; वह उसकी अपनी मनोवृत्ति का सूचक, उसके मन में उठनेवाली जिज्ञासा के बुदबुदों और समस्याओं की अँगड़ाइयों का संकेतक होता है। उसकी रूप-रेखा, उसकी विवेचन-पद्धति, सामग्री-संचयन—सब-कुछ उसी के द्वारा मनोनीत होते हैं, उसके अपने मन में स्वतः उद्भूत शिल्प के अनुसार। इसीलिए निरुपाधि शोध किसी की स्वीकृति की अपेक्षा नहीं रखता, अनुसंधित्सु का आत्मसंतोष ही उसका संबल है। ऐसा शोध वस्तुतः शोध का गौरव होता है और वह शोध की अन्य संभावनाओं का पट खोलता है।

उपाधि-सापेक्ष या सोपाधि शोध में प्रक्रिया और उपलब्धि की दृष्टि से कदाचित् भेद न रहते हुए भी प्रयोजन में अंतर आ जाता है, लक्ष्य या सिद्धि के उपयोग का अर्थ बदल जाता है। शोध जब जिज्ञासा की तुष्टि से अधिक निर्धारित लक्ष्य को ही महत्त्व दे बैठता है, उपाधि से मंडित होने के उद्देश्य से ही (कभी-कभी जैसे-तैसे, किराये के भी) जिज्ञासा-रथ पर सवार होता है और निर्देशित पथ पर अग्रसर होता हुआ ही निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचता है तब सोपाधि कहलाता है। इसमें शोधकर्त्ता इस बात से सदैव सचेष्ट रहता है कि उसे पारिभाषिक अर्थ में 'शोध' ही करना है। यही कारण है कि उसमें शोध की यांत्रिकता की दृढ़ रक्षा के नाम पर प्रायः शोध के अन्य आवश्यक तत्त्वों की उपेक्षा हो जाती है। यह शोध शोध का पेषण बन जाता है। और इस प्रकार तद्-विषयक शोध का द्वार करीब-करीब बंद ही कर देता है।

निरुपाधि शोध की प्रक्रिया मृत्यु-पर्यन्त चलती है, सोपाधि शोध की प्रक्रिया उसी दिन समाप्त हो जाती है, जिस दिन उसपर कोई विश्वविद्यालय अपना ऐकेडमिक गाउन डाल देता है। निरुपाधि शोध की प्रवृत्ति जन्मजात होती है, सोपाधि शोध की प्रवृत्ति साधारणतः, मास्टर-डिग्री प्राप्त करने के बाद जगती है, और कभी-कभी विशेष अवसरों से भी व्युत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि निरुपाधि शोध उस राधा की तरह है, जिसके सम्बन्ध में सूरदास ने "राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई" लिखा है, और सोपाधि शोध उस राधा की तरह है, जिसकी दाद देते हुए विद्यापति ने कहा है—"बड़ कौसलि तुअ राधे, किनल कन्हाई लोचन आधे।"

सोपाधि शोध की सैद्धांतिक प्रक्रिया

आगरा युनिवर्सिटी-पी-एच० डी०-नियमावली में उपाधि-सापेक्ष्य शोध के निम्नलिखित विधान बताये गये हैं—

(१) इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धांतों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रंथ (थीसिस) इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसंधान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहाँ तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए, जिससे कि इसे यथावत् प्रकाशित किया जा सके।

आगे डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए इन विशेषताओं के साथ एक और उपबंध जोड़ दिया गया है;—'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार'। इस प्रकार सैद्धांतिक रूप से विश्वविद्यालय-विधान के अनुसार सोपाधि शोध की निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिये :—

(१) अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण,
(२) उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धांतों का नवीन आख्यान,
(३) अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय की क्षमता,
(४) थीसिस का संतोषप्रद और प्रकाशन-योग्य रूप-आकार,
(५) ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार।

इनमें से तीन थीसिस के आंतरिक गुणों के सम्बन्ध में हैं, एक उसके स्थूल रूप को लेकर और शेष एक अभ्यर्थी या अनुसंधित्सु की क्षमता से सम्बन्धित।

सोपाधि शोध की पहली विशेषता है— तथ्यान्वेषण, और यदि वह न हो तो विकल्प है तथ्याख्यान। इन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र कहते हैं— "सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं, सत्य के इस रूप-विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित (प्रकाशित) रहते हैं, किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित (प्रच्छन्न) रहते हैं, अथवा काल के आवरण में लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।" आगे चलकर आप तथ्यानुसंधान के दो रूपों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि तुलसी के युग की परिस्थितियाँ, उनके जीवन की घटनाएँ, उन रचनाओं की अनेक प्रतियाँ, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियाँ आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं, जो काल-सापेक्ष्य हैं; अर्थात् काल के प्रवाह में से जिन्हें ढूँढ़कर निकालना पड़ता है। इसके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं: जैसे—तुलसी के आत्मकथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि, जो आंतरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार तथ्यान्वेषण के ये दोनों रूप—काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण और विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण—प्राचीन और अर्वाचीन, समस्त साहित्य को अपनी परिधि में लपेट लेते हैं। पहला जहाँ सिर्फ उस साहित्य पर ही घटित हो सकता है, जिसे साधारणतः हम प्राचीन कहते हैं तो दूसरा प्राचीन के साथ-साथ उस साहित्य और साहित्यकार पर भी घटित होता है, जिसे कि हम नव्य या अर्वाचीन मानते और कहते हैं।

तथ्याख्यान का "वास्तविक अर्थ" डॉ० नगेन्द्र के ही शब्दों में है "तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन, उनके द्वारा व्यंजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन।" कहने का अर्थ यह कि तथ्य (जो वस्तु-रूप में जड़ होते हुए भी मानव-जीवन के संदर्भ या संसर्ग में चेतन बन जाता है, एक नवीन अर्थ-ज्योति से उद्भासित हो उठता है) में जो निहित व्यंजना है, उसका आख्यान। इसके भी दो रूप हो जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि अनुसंधित्सु यह ज्ञात करता है कि नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्त्ती रचनाएँ हैं और विनयपत्रिका परवर्त्ती-तो यह तथ्याख्यान उसका स्थूल रूप माना जायगा; तथ्याख्यान का सूक्ष्म रूप वहाँ उभरेगा, जबकि अनुसंधित्सु

इन तथ्यों के आधार पर तुलसी के कवित्व और कवि-आत्मा के विकास पर प्रकाश डालेगा। अर्थात् "तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वों का विश्लेषण तथ्यानुसंधान-मात्र है। इन तत्त्वों के द्वारा व्यंजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसंधान तथ्याख्यान है। उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' में तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी तुलसीदास' में तथ्याख्यान का प्राधान्य है।" (डॉ० नगेन्द्र)

सोपाधि शोध-सम्बन्धी एकमात्र लिखित और प्रकाशित विश्वविद्यालय-विधान के प्रथम सूत्र को ही लेकर अनेक निर्वचन हैं। डा० नगेन्द्र के उपर्युक्त निर्वचन से सभी सहमत नहीं। जब विधान की प्रस्तावना को लेकर ही मतैक्य नहीं है तो उसकी धाराओं और उपधाराओं की क्या बात? डा० नगेन्द्र ही कहते हैं—"एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान् ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इसपर "थीसिस कैसे लिखा जायगा?" 'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसंधान, जिसमें प्रमुख आचार्य की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोध-मंडल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान् ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिक्ख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अंतर्गत अनुसंधाता क्या शोध करेगा? मैंने उत्तर दिया कि वह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है। पहला शोधकर्त्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसंधाता उसके आधार पर अंतरङ्ग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसंधान नहीं है।"

सोपाधि शोध-संबंधी विधान की तीसरी शर्त यह है कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक् निर्णय की क्षमता हो। यह शर्त इतनी लचीली है कि किसी पर स्वेच्छा से घटित की जा सकती है और आवश्यकतानुसार नहीं भी की जा सकती है। ऐसे उदाहरण हैं कि जहाँ आलोचनात्मक परीक्षण और सम्यक् निर्णय की क्षमतावाले स्वीकृत आलोचकों के प्रार्थना-पत्र अस्वीकृत कर दिये गये हैं, इसलिए कि विशिष्ट विश्वविद्यालय के शोध-मंडल के एक मान्य सदस्य उक्त आलोचक से खार खाये बैठे थे। यदि मेरी सूचना ठीक है तो यहाँ तक कहा गया था कि "भई, आप जो कहें-मानें, मैं तो उसे पूरा मूर्ख और जाहिल मानता हूँ।" तो विधान का यह डंडा भी किसी के लिए सीढ़ी बन जाता है और योग्य-व्यक्तियों की कपाल-क्रिया कर देता है—नहीं करता है तो कम-से-कम उसकी संभावना तो है ही। शोध-मंडल दूध का धोया तो नहीं होता! उसकी भी अपनी राजनीति होती ही है।

सोपाधि शोध-संबंधी विधान की तीसरी शर्त थीसिस के रूप-आकार को लेकर है। इसके अन्तर्गत, आकार दुबला-पतला होने में ही खतरा है। यदि हम मात्र रूप और आकार की बात उठावें तो आचार्य शुक्ल का 'गोस्वामी तुलसीदास', आचार्य हजारी-

प्रसाद द्विवेदी का 'नाथ-सम्प्रदाय', आचार्य विश्वनाथ मिश्र का 'बिहारी' और आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का 'राष्ट्रभाषा का व्याकरण'' थीसिस की संज्ञा से अभिहित नहीं किये जा सकते। पर, इनमें से किसी भी एक पुस्तक को निकाल देने से क्या हिन्दी की अपूरणीय क्षति नहीं होगी?

और, अंतिम शर्त है—ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार। किसके ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार? अनुसंधाता के या उसके निर्देशक के या उस प्रबन्ध के पाठकों के? गवाही डाक्टर विनयमोहन शर्मा की—''कई बार प्रबंध पढ़ते समय ऐसे लगा है कि शोधार्थी ने जिस विषय पर कार्य किया है, उसपर उसने अपने पूर्व किये गये कार्य को भली-भाँति देखने का भी श्रम नहीं उठाया। परिणामतः उसके प्रबन्ध में पिष्ट-पेषण की भरमार रहती है। ऐसा भी देखा गया है कि एक ही विषय पर कई प्रबंध होते हुए भी उसी पर पुनः प्रबंध लिखने की स्वीकृति प्राप्त कर काम किया गया है। ऐसी दशा में पूर्व-प्रबंधों से स्थल-स्थल पर उद्धरण लेकर भर दिये गये हैं। शोधकर्त्ता का अपना दृष्टिकोण कहीं भी दिखलायी नहीं दिया। कई बार तो आँख मूँदकर उद्धरण दिये जाते हैं। ऐसा एक प्रबंध मैंने हाल ही में देखा था, जिसमें एक अध्याय का शीर्षक था डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' और सामग्री थी बिहारी के भाष्यकार पं० पद्मसिंह शर्मा के उद्धरणों की।'' इस 'ज्ञान-क्षेत्र के विस्तारवाली' शर्त से तो अधिक अच्छा होता यह लिख देना कि शोधार्थी निर्देशक की स्वीकृति से रामकुमार वर्मा और रामचंद्र शुक्ल को आधुनिक भारतीय चित्रकारों में भी परिगणित करना चाहे तो नाम-साम्य के आधार पर वैसा कर सकने का वास्तविक अधिकारी वही होगा, पर उसके लिए अपने निर्देशक की स्वीकृति उसे अवश्य लेनी होगी। रही बात पाठकवर्ग की, तो प्रकारांतर से, ऐसी सूचनाओं द्वारा भी प्रबुद्ध पाठकवर्ग के 'ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार' ही होता है। कम-से-कम वह यह तो जान ही जाता है कि शोधार्थी कितने पानी में है, और उसे सदेह वैतरणी पार करानेवाले हिन्दी के आधुनिक विश्वामित्र कितने बड़े 'तपस्वी' हैं।

सोपाधि शोध की व्यावहारिक प्रक्रिया

सोपाधि शोध की पहली प्रक्रिया है—विषय-निर्वाचन। शोधार्थी पहले इसी का निर्णय नहीं कर पाता कि उसे किस विषय पर शोध करना चाहिये। इसके लिए बहुत हद तक दोषी हमारा एम० ए०-पाठ्यक्रम है, जिसमें संस्कृत-काव्य-शास्त्र से लेकर रिचर्ड्स के Principle of Literary Criticism तक पर १६-१६ अंकों के छह-छह प्रश्न पूछे जाते हैं और हिन्दी-काव्य के अध्ययन-सम्बन्धी पत्र में भारतेन्दु से लेकर कुरुक्षेत्र तक आठ-आठ प्रबंध-काव्य ठूँस दिये गये हैं। विगत कुछ ही वर्षों के अन्दर इतने सारे विषयों पर शोध-कार्य हो चुका है या हो रहा है कि इसकी पूरी अद्यतन सूचना रखना कठिन हो रहा है। 'हिन्दी-अनुशीलन' के हाल में प्रकाशित 'शोध-विशेषांक' तक में ऐसा नहीं हो पाया। एक बिहार प्रदेश के ही दो-दो विश्वविद्यालय

छूट गये हैं और पटना-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध की भी सूचनाएँ बहुत पीछे की हैं। इस परिस्थिति में शोधकर्त्ताओं को तो दूर, निर्देशकों को भी ज्ञात नहीं रहता कि किस विश्वविद्यालय के अधीन किन-किन विषयों पर कार्य हो चुका है या हो रहा है और उसमें किस पक्ष पर जोर डालकर सत्यान्वेषण किया जा रहा है।

विषय-निर्वाचन के बाद दूसरी प्रक्रिया है—निर्देशक के सम्बन्ध में। विश्वविद्यालय साधारणतः अपने ही लोगों के निर्देशन में कार्य करने की आज्ञा देते हैं और ये निर्देशक बड़ा-से-बड़ा विद्वान होने के बावजूद सर्वज्ञ तो नहीं होते। उनकी समयाभाव की शिकायत भी नाजायज कैसे मानी जा सकती है? साक्ष्य अगरचंद नाहटा का—"माना कि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान की एक सीमा है, पर वे ऐसे विषयों के निर्देशक बनते ही क्यों हैं, जिस विषय पर उनका स्वयं का कोई गंभीर अध्ययन नहीं है।…लगता है कि शोध-कार्य और शोध-छात्र की प्रगति में उनकी विशेष रुचि ही नहीं है, केवल नाममात्र के लिए ही वे निर्देशक बने बैठे हैं।…निर्देशकों की कमी भी शोध-कार्य की प्रगति में बहुत ही बाधक बन रही है। क्योंकि नियमानुसार एक निर्देशक के निरीक्षण में प्रायः ५ शोधार्थी ही काम कर सकते हैं। और आजकल एम० ए० कर लेने के बाद प्रत्येक व्यक्ति डाक्टरेट भी कर लेना आवश्यक समझता है। इसलिए शोधार्थियों की संख्या तो बहुत ही बढ़ गयी है और निर्देशकों की संख्या बहुत ही कम है। विश्वविद्यालयों ने कई ऐसे नियम बना रखे हैं, जिनसे कई व्यक्ति, जो निर्देशन की पूर्ण क्षमता रखते हैं, पर, अमुक डिग्रियाँ पास न होने के कारण उन योग्य व्यक्तियों को भी निर्देशक के रूप में मान्य नहीं किया जाता और कई साधारण योग्यतावाले जिन्होंने केवल किसी तरह डाक्टरेट प्राप्त कर ली है, निर्देशक बन जाते हैं।" योग्य निर्देशन के अभाव के चलते या अयोग्य निर्देशक के प्रभाव के चलते (बात एक ही हो जाती है घूम-फिरकर) यह हो जाता है कि "महाकवि भारवि के श्लोकों को माघ का लिखा हुआ बताया" जाता है (संपादकीय—हिन्दी-प्रचारक, मार्च १६६२) और "एक अद्यतन हिन्दी-काव्य पर लिखे प्रबंध में 'नकेनवादी' कवियों में नलिन-विलोचन शर्मा के बाद डा० केसरीनारायण शुक्ल का नाम" दे दिया जाता है। "एक और प्रबंध में जॉन ओ नील को हिन्दी का नाटककार बतलाया" जाता है और "एक बार शोध-प्रबंध की मौखिक परीक्षा में एक छात्र ने 'माधुरी' को वर्तमान जीवित पत्रिकाओं की रानी कहा था।" (विनयमोहन शर्मा)। निर्देशक होने की पूरी योग्यता रखनेवाले एक व्यक्ति की चर्चा करते हुए डा० प्रभाकर माचवे कहते हैं—"एक कॉलेज में व्याख्यान के लिए बुलाया गया था, एक हिन्दी पी-एच० डी० ने पूछा था—'यह साहित्य अकादमी क्या है? यहाँ क्या पढ़ाते हैं?" और अंत में डा० हरदेव बाहरी का कथन भी काफी ध्यान देने योग्य है—"लोग पहले किसी एक विश्वविद्यालय की डाक्टर-उत्पादन-नीति की भर्त्सना करते थे; आज वह नीति प्रत्येक विश्वविद्यालय ने अपना ली है। उस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कालेजों के हिन्दी-

प्राध्यापकों को खोज कराने का कार्य सौंपा गया। उन बेचारों ने आजीवन यह नहीं जाना था कि खोज किस चिड़िये का नाम है और उसे हस्तगत करने का क्या ढंग है। फिर भी वे धन्य हैं कि जिस मार्ग पर वे कभी चले नहीं थे, उसका दिग्दर्शन कराने लगे। वे स्वयं तो डाक्टर नहीं थे; किन्तु उन्हें डाक्टरों के जनक बनने की धुन सवार हो गयी। बाद में इस होड़ में दूसरे विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक भी आ मिले। आज उनके आवेदन-पत्रों में बराबर रहता है कि 'मैंने इतने डाक्टर पैदा किये हैं।' जंगल में शेर का एक बच्चा होता है तो जंगल भर के जानवरों पर राज्य करता है। गीदड़ों के झोल-के-झोल होते हैं, वे राज्य नहीं कर पाते।" और अंत में डा० बच्चन-सिंहजी—"शोध करना-कराना व्यापार हो गया है—ऐसा व्यापार, जिसमें पूँजी लगाने की कोई जरूरत नहीं है। यह अनुसंधित्सु के लिए जितना सच है, उतना निर्देशक के लिए भी। बाजार में अपनी कीमत बढ़ा लेने का यह एक सामान्य साधन हो गया है। अनुसंधित्सु के लिए नौकरी का द्वार खुल जाता है (यद्यपि यह दिन पर दिन कठिन होता जा रहा है) और निर्देशक को दूसरी मंजिल तक पहुँचने के लिए बैसाखी सुलभ हो जाती है।"

तीसरी प्रक्रिया है—सामग्री प्राप्त करने की यानी संपूर्णरूपेण सामग्री-चयन। मनोनुकूल (?) विषय-निर्वाचन, काम-चलाऊ निर्देशन और अस्थायी योजना बना लेने के बाद जब इस प्रक्रिया से अनुसंधित्सु गुजरने लगता है तब उसे थोड़ा भान होने लगता है कि शोध किस चिड़िये को कहते हैं। यहीं वह वस्तुतः उस 'वैतरणी' के किनारे पहुँचता है, जिसको पार करना 'पापियों' के लिए कठिन ही नहीं, असंभव करार दिया गया है। प्रस्तावित विषय पर पूर्ववर्ती लेखकों, विचारकों तथा शोध-कर्त्ताओं द्वारा किये गये समस्त प्रकाशित-अप्रकाशित कार्य का गहरा अध्ययन करना शोधकर्त्ता का पहला दायित्व है। इस सामग्री का चयन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और तत्सम्बन्धी ग्रंथों के अनुशीलन द्वारा किया जाता है। कतिपय विषय ऐसे होते हैं, जिनके लिए सामग्री-संचय करना शोधार्थी के लिए अपेक्षाकृत सीमित और सरल होता है; जैसे—लिपि, कोश, व्याकरण आदि विषय। इन विषयों पर बहुत कम पुस्तकें या लेख आदि प्राप्त हैं। यहाँ शोधार्थी या तो दस-बीस ग्रंथों या लेखों तक ही सीमित हो जाता है, या नहीं तो भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य करने के सिलसिले में उस जनपद में पैठ जाता है, जहाँ की वर्त्तमान भाषा या बोली उसके अनुशीलन का विषय है। पुरानी भाषाओं के सम्बन्ध में या तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन में फिर उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बल्कि सर्वाधिक कठिनाइयाँ इसी क्षेत्र में हैं। फिर मध्ययुगीन भक्ति-संप्रदायों, आंदोलनों अथवा भक्त कवियों से सम्बद्ध विषयों पर काफी लिखा-पढ़ा जा चुका है। अतः ऐसे क्षेत्रों का सामग्री-चयन भी कम कठिन नहीं दिखायी पड़ता। इसमें सामान्य कोटि के साहित्य-संदेशी और सरस्वती-संवादी लेखों से लेकर मध्यम कोटि के आलोचनात्मक लेखों और उच्च कोटि के अनुसंधानों तक की कई स्तरों

की सामग्रियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों और पांडुलिपियों में बिखरी पड़ी हैं। शोधार्थी को सारी सामग्रियाँ कहीं एक स्थान में नहीं मिल पातीं। उन्हें हिन्दी में कोई ऐसा साधन सुलभ नहीं, जिससे वे जान सकें कि गवेषणा के योग्य कौन-सी सामग्री कहाँ मिलेगी। विश्वविद्यालयों और साहित्यिक संस्थाओं के पुस्तकालयों में जो शोध-सामग्री है, उसकी कोई विवरणात्मक सूची हिन्दी में प्राप्य नहीं है, जिससे यह जाना जा सके कि कहाँ किस विषय में खोज करने की सुविधा होगी।

और, यहीं पर शोधार्थी प्रस्थान-बिन्दु के रूप में वेदों को पकड़ लेता है। शोध वह दिनकर की राष्ट्रीय भावना पर करे या हिन्दी के उपन्यास-साहित्य पर, मूल उत्स के रूप में उसे सर्वप्रथम वेद ही दिखायी पड़ने लगते हैं। अज्ञेय लिखते हैं—"मैंने मन-ही-मन सोचा, अच्छा है, कम-से-कम यह प्रबंध तो वेदों से नहीं आरंभ करेगा; क्योंकि आधुनिक उपन्यास के शिल्प से वेदों का क्या सम्बन्ध है, या जो हो सकता है, उसके लिए तो एक प्रबंध नहीं, एक पूरा विश्वकोश पहले तैयार करना होगा। मैंने रूप-रेखा देखने की इच्छा प्रकट की।......मेरी भूल थी। आरंभ वेदों से ही था।... शोध-प्रबंध में 'परंपरा और पृष्ठभूमि' का एक अध्याय तो होना ही चाहिये, इसलिए इन उपाख्यानों का समावेश उसमें होगा ही, यह सब सामग्री आसानी से मिल भी जायगी और प्रभाव भी डालेगी।"

आगे वह तद्विषयक शोध-प्रबंधों को उठाता है। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय बताते हैं—"प्रायः शोध-छात्र विषय से सम्बन्धित बिखरी हुई उपलब्ध सामग्री को ही थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ एक जगह इकट्ठा कर रख देते हैं।......तभी तो लोग यह कहते सुने जाते हैं कि दस-बीस पुस्तकों में से थोड़ा-थोड़ा ले लो, बस शोध-प्रबंध तैयार हो गया।...शोध-छात्र अब प्रायः सहायक सामग्री के मूल पाठ का अध्ययन करने में आलस्य का अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ, वे किसी अन्य लेखक द्वारा दिये गये ग्रियर्सन के कथन का उपयोग करना चाहेंगे, अपेक्षाकृत इसके कि वे स्वयं ग्रियर्सन का ग्रंथ उठाकर देखें।...शोध-छात्र अब सस्ते ढंग की बाजारू और अप्रामाणिक सहायक सामग्री का उपयोग करने लगे हैं। मुझे कई शोध-प्रबंधों का परीक्षण करते समय यह बात खटकी।...मुझे दो शोध-प्रबंधों के परीक्षण का अवसर प्राप्त हुआ। शोध-छात्रों ने दिखाया तो यह था कि उन्होंने स्वयं मूल स्रोतों का और सहायक ग्रंथों का अध्ययन किया है। किन्तु वास्तव में उन्होंने 'चोरी' की थी।" डाक्टर प्रभाकर माचवे लिखते हैं—"दस किताबें पढ़कर उनका सार एक जगह जमा कर देने को ही हमने थीसिस कहना शुरू कर दिया है। और ट्रैजेडी यह है कि सत्य कोई कहना नहीं चाहता। अकेडेमिशियन्स में एक तरह से कान्सपिरेसी ऑफ साइलेंस है।" और अंत में पुनः डाक्टर बच्चन सिंह का साक्ष्य—"शोधार्थी को इतना भी धैर्य नहीं है कि अपनी सामग्री में धँसकर उनका सम्यक् अनुशीलन करते हुए किन्हीं

निष्कर्षों पर पहुँचे। वह दूसरों के बने-बनाये पैटर्न को ग्रहण कर लेना अधिक अच्छा समझता है और इस प्रकार 'शार्टकट' से उपाधि-वैतरणी पार कर लेता है।''

सोपाधि शोध की चौथी प्रक्रिया है—पद्धति, जो बहुत-कुछ सामग्रियों की प्राप्ति, उनकी प्रामाणिकता, शोधार्थी द्वारा उनके गंभीर अध्ययन, मनन और निष्कर्ष पर निर्भर करती है। अपनी सामग्रियों का प्रयोग वह किस प्रकार किन-किन स्थानों पर करेगा, ऐसी एक सूची उसे तैयार करनी पड़ती है; किन निष्कर्षों के लिए किन विचारकों और पुस्तकों का कौन-कौन-सा उद्धरण वह कहाँ-कहाँ पर देगा, उसकी एक अनुक्रमणी पर उसे सोच लेना पड़ता है। इस प्रकार सामग्रियों की काट-छाँट, उनके निर्वचनों की सुव्यवस्था की जाती है। लेखक का नाम, कृति का नाम, प्रकाशक का नाम और पता, संस्करण, प्रकाशन-तिथि, जिल्द-संख्या, अपने विषय से सम्बन्धित अंशों अथवा अध्यायों की पृष्ठ-संख्या—आदि चीजें इस व्यवस्था में आ जाती हैं। विषय की विवेचन-व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए अपनी इस सूची की मदद से वह विभिन्न अध्यायों या शीर्षकों की साहित्य-सूचियाँ बना लेता है, यदि उपशीर्षकों की आवश्यकता पड़ी तो उनकी भी। ''इसके मुख्यतः तीन वर्ग हैं—प्रथम वर्ग वह है, जिसमें पृष्ठ-भूमि का महत्त्व है, और उसके पारायण के आधार पर ठोस रूप-रेखा बनाकर अनुसंधान-विषय की विवेचना में प्रवेश किया जा सकता है। उदाहरण के लिए छायावादी काव्य में वक्रोक्ति अथवा भारतेन्दु की कविता में शुद्धाद्वैतवाद आदि में हमें वक्रोक्ति और शुद्धाद्वैत की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना, प्रथम आवश्यकता है। दूसरा वर्ग वह है, जिसमें हमारा कार्य पूर्णतया सामग्री की अपेक्षा रखता है और ग्रंथों की उपलब्धि प्रथम आवश्यकता हो जाती है। इसमें जबतक समस्त ग्रंथ प्राप्त न हो जायँ, तब-तक अनुसंधान की रूप-रेखा भी स्पष्ट करना कठिन हो जाता है और किसी नवीन ग्रंथ की प्राप्ति के साथ उसमें परिवर्तन भी आवश्यक हो जाता है। जैसे बावरी-संप्रदाय के हिन्दी-कवि अथवा बारामासा-काव्य की परंपरा—जैसे विषयों में समस्त रचनाओं का प्रथमतः अन्वीक्षण अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। तीसरा वर्ग वह है, जिसमें हमें सामग्री या पृष्ठभूमि की चिन्ता उतनी नहीं रहती, जितनी कि उपलब्ध ग्रंथों के सूक्ष्मानुशीलन की। इसमें चिन्तन एवं विचार-प्रधान विषय आते हैं, जैसे गोस्वामी तुलसीदास का सामाजिक आदर्श या प्रसाद की अप्रस्तुत योजना आदि। इसमें हमारे लिए रचनाओं को पढ़कर उचित प्रसंगों एवं उदाहरणों को छाँटना और उनका विश्लेषण करना अभिप्रेत हो जाता है।'' (डा० भगीरथ मिश्र)

सोपाधि शोध की पाँचवीं प्रक्रिया है—प्रस्तुतीकरण, जो कि विषय-निर्वाचन, सामग्री-संकलन और विवेचन-पद्धति से ही अनुस्यूत है। यदि विषय गूढ़ नहीं—'प्रेमचंद-साहित्य', 'प्रसाद का कथाशिल्प', 'ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा', 'हिन्दी के जासूसी उपन्यास', 'निबंध-साहित्य का उद्भव और विकास' आदि 'लेमनड्राप' की तरह के विषय हैं, और 'इन विषयों की गोलियाँ चूसते हुए छोटे-मोटे पुस्तकालयों से सामग्री

एकत्र' की गयी है और 'फुटनोट्स देकर थीसिस प्रस्तुत' करना है, तब तो 'प्रस्तुतीकरण ऐसा ही है, जैसे किसी विदूषक को राजसिंहासन पर बिठला दिया' गया हो। 'ऐसे विद्यार्थियों द्वारा शोध सुविधापूर्वक होती है और पहले के कुछ शोध-प्रबंधों तथा कुछ आलोचनात्मक पुस्तकों की सामग्री को उलट-फेरकर—दूसरे शब्दों में कहकर थीसिस का रूप तैयार हो जाता है। बढ़िया कपड़े की जिल्द और सुनहरी टाइप में शीर्षक और निर्देशक का नाम छपाकर सौन्दर्य-संभार किया जाता है और उसके बाद शोध का कार्य समाप्त हो जाता है।" (डा० रामकुमार वर्मा)

शोध का वास्तविक महत्त्व विषय की समस्या में है और विना समस्या के उसका प्रस्तुतीकरण नहीं निर्धारित किया जा सकता। उस समस्या को देखने की शोधार्थी की अपनी दृष्टि क्या है? जिन शोधों में ये तत्त्व उभरते हैं, वहीं वास्तविक प्रस्तुतीकरण की विधा उपस्थित होती है। "दृष्टिकोण की विशिष्टता प्रस्तुतीकरण की विधा की विधायिका है। जिस प्रकार एक फोटोग्राफर चित्र लेते समय वस्तु का अधिक-से-अधिक प्रभावमय चित्र लेने के लिए वस्तु को चारों ओर से देखकर अपना विशिष्ट कोण निर्धारित करता है, उसी प्रकार शोधकर्ता भी प्रतिपाद्य विषय को समझकर उसकी समस्या को सुलझाने के लिए एक विशिष्ट दृष्टिकोण निर्धारित करता है।" (वही) दूसरे, उसकी नियोजना संक्षिप्त हो, जिससे प्रस्तुतीकरण के सौन्दर्य की वृद्धि हो। केवल उन्हीं तत्त्वों का आकलन किया जाय, जो निष्कर्ष निकालने के लिए आवश्यक हों, उसमें उच्छिष्ट पदार्थों को लाने का प्रयत्न न हो—तभी उसका निष्कर्ष शोधार्थी के समस्त चिन्तन का प्रतिफलन सिद्ध होगा।

पर होता ठीक विपरीत है। प्रस्तुतीकरण की शैली से शोधकर्त्ता एकदम अपरिचित रहते हैं; और चूँकि वे उपाधि-लोलुप हैं, वे "अपने चिन्तन का 'पीयूष-स्रोत' लेकर 'जीवन के सुन्दर समतल' में (ही) शोध का कार्य करने के लिए अग्रसर होते हैं। वे पहाड़ों और टीलों पर नहीं चढ़ना चाहते हैं। शोध के गूढ़ विषय नहीं चुनना चाहते। कोई समस्या नहीं लेते और जब समस्या नहीं है, उसका प्रस्तुतीकरण कैसे निर्धारित किया जा सकेगा?.........ग्रंथों की प्रामाणिकता सिद्ध किये विना ही उनपर आलोचना होती है। तिथियों की खोज ही नहीं होती।......अधिकांश पुरानी बातें ही विशेष पिष्टपेषण के साथ सामने आती हैं अथवा यदि कोई नयी बात कही भी जाती है तो उसकी प्रामाणिकता कमजोर या संदिग्ध रह जाती है।......बेचारा विद्यार्थी रिसर्च का नाम सुनता रहा है, किन्तु रिसर्च किस प्रकार होती है, यह नहीं जानता।......बेचारा विना किसी निर्देश के पढ़ता है। अपनी शोभा और मर्यादा के लिए 'ईगल' फाइल हरे या चाकलेट रंग की रखता है। कहीं-कहीं उसमें वह लिखता चलता है। आवश्यक-अनावश्यक सब बातें वह भानमती के कुनबे की तरह इकट्ठी करता है। एक वर्ष के बाद वह कुछ स्वीकृत शोध-प्रबन्धों को समझने के योग्य होता है और तब अपने एक वर्ष के अध्ययन के आधार पर यह कहना सीख जाता है—अरे, वह शोध-प्रबंध! उसे तो

में एम० ए० प्रथम वर्ष में ही लिख लेता ! क्या लिखा है—बिल्कुल भरती खानापूरी और उद्धरणों के ढेर ! यदि उसे किसी इंटरमीडिएट कालेज या डिग्री कालेज में नौकरी नहीं मिली और उसे रिसर्च की चक्की पीसने के लिए बाध्य होना पड़ा तो निर्देशक के अल्प अवकाश में देखे गये प्रबंध का कलेवर पाँच सौ से एक हजार पृष्ठों तक होना स्वाभाविक है। इतने बड़े प्रबंध का कलेवर लिखने और टाइप कराने के लिए उसे कम-से-कम तीन बार अधिकारियों से समय बढ़ाने की प्रार्थना करनी पड़ती है। प्रबंध जब परीक्षक के पास जाता है तो वह एक हजार पृष्ठों का प्रबंध देखकर एक हजार बार कराहता है और शोध के प्रस्तुतीकरण को देखकर हैरान हो जाता है। संगत और असंगत, आवश्यक और अनावश्यक, बड़े-बड़े लम्बे उद्धरणों और अवतरणों के मगरमच्छ उसमें तैरते-उतराते हैं, और उनके बीच में परीक्षक को यह महासागर पार करना पड़ता है। यह प्रस्तुतीकरण कैसा !" (डा० राम कुमार वर्मा)

सोपाधि शोध की छठी और अंतिम, पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है—मूल्यांकन। परीक्षक दो रहते हैं—दोनों बाहर के, यानी उस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध नहीं, जिसके अधीन शोध-कार्य किया गया है। किसी-किसी विश्वविद्यालय में तीसरा परीक्षक भी होता है, स्वयं निर्देशक। निर्देशक की असहमति का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि शोध-कार्य जो कुछ भी है, उसी का ही तो है। बाहर के परीक्षक भी यदि अपनी सहमति प्रकट करें तो शोधार्थी की उसी विषय में एक लिखित परीक्षा होती है—यह जाँच करने के लिए कि अपने विषय को उसने किस हद तक पचाया है। इसमें उत्तीर्ण होने पर पुनः एक मौखिक परीक्षा होती है। आजकल साधारणतः शोधार्थी को लिखित परीक्षा से मुक्त कर दिया जाता है और मौखिक परीक्षा में भी व्यक्तिगत परिचय स्थापित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता ; क्योंकि उस दिन के बाद से ही शोधार्थी भी निर्देशकों-परीक्षकों के वर्ग में आने योग्य हो जाता है और तब शोध-विषयक सभी सुकर्म-कुकर्म का साझीदार बनता है। मूल्यांकन की विधि कई प्रकार की है—प्रथम, निर्देशक के व्यक्तित्व पर, जैसे 'क' नामधारी निर्देशक के निर्देशन में तैयार शोध-कार्य द्वितीय कोटि का हो ही कैसे सकता है, या यदि 'ख' नामधारी निर्देशक की अवज्ञा की गयी तो आगे से वह शोध का परीक्षक नहीं नियुक्त होने देगा। द्वितीय, परीक्षक के वर्ग, जाति या गोत्र का शोधार्थी कुछ भी कार्य करता है तो वह स्तुत्य माना ही जाना चाहिये। द्विवेदी, ओझा, मिश्र, शर्मा, वर्मा, श्रीवास्तव, ठाकुर, आदि के आधार पर शोधार्थी के खून का रंग जानने का उपक्रम किया जाता है, अन्य विधियाँ भी हैं। निर्देशक जिस जाति का होगा, शोधार्थी भी साधारणतः उसी जाति का होगा —अन्यथा होने पर निर्देशक उपयुक्त समय पर समुचित संकेत देगा। तृतीय, शोधार्थी ने शोध-ग्रंथ में परीक्षक और उसके मित्रों के कितने उद्धरण दिये हैं और उनकी कितनी मान्यताओं को साहित्य के लिए सर्वथा मौलिक ठहराया है। यदि यह है तो हजार पृष्ठों के प्रबंध का मूल्यांकन एक घंटे में हो जा सकता है। उसपर तुर्रा यह कि बनिया एक मुट्ठी चावल से ही तो बोरा भर चावल का मूल्यांकन करता है ना ! साद्य श्रीदेवीशंकर-

अवस्थी का—"विद्यार्थी विश्वविद्यालय में पहुँचते ही इन शक्तिमानों से परिचित हो जाता है। वह जान जाता है कि महाशय 'क' और 'घ' कैरियर, उपाधि आदि के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, बजाय 'ख' और 'ग' के—साहित्यिक समझ से रहित भले ही क्यों न हों। वह यह भी जान लेता है कि किसके विचारों को लिखने से अधिक अंक मिलते हैं और किसके विचार कम नंबर देते हैं। शोधकर्त्ता यह भी जानता है कि उसके संभावित परीक्षकों के विरुद्ध जाना घातक होगा।" श्रीलक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की आप-बीती—"शोध-प्रबंध प्रस्तुत कराते समय अथवा परीक्षण करते समय वे पहले अपना-अपना नाम टटोलते हैं। नाम मिलने या न मिलने का क्या परिणाम होता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैं फिर अपने व्यक्तिगत अनुभव से एक उदाहरण और देना चाहता हूँ। एक शोध-प्रबंध को मैंने अस्वीकृत ठहराया। अन्य दो परीक्षकों में से एक ने स्वीकृत किया, दूसरे ने अस्वीकृत। जिस दूसरे परीक्षक ने अस्वीकृत किया, वे स्वयं 'आलोचक' थे। विश्वविद्यालय के नियमानुसार शोध-छात्र को फिर शोध-प्रबंध प्रस्तुत करना पड़ा। वह चतुर था। इस बार उसने उन 'आलोचक'-परीक्षक के सम्बन्ध में भी लिखा और खूब बढ़ाचढ़ाकर लिखा। मैंने तो फिर भी उसे अस्वीकृत ठहराया; क्योंकि उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। किन्तु अबकी बार 'आलोचक'-परीक्षक ने भी उसे स्वीकृत किया और बहुमत शोध-छात्र के पक्ष में होने के कारण उसे उपाधि मिल गयी।" श्रीइन्द्रनाथ मदान इसकी चर्चा यों करते हैं—"इस उपाधि के स्तर को गिराने में और शोध का अवमूल्यन करने में परीक्षकों ने भी पाप कमाया है, जिनमें इतना भी साहस नहीं है कि वे ईमानदारी से काम लें। मेरे कानों में कभी-कभी यह भनक भी पड़ी है कि परीक्षकों से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना शोध के स्तर को उठाने से अधिक महत्त्व रखता है।" और अंत में "हिन्दी के अत्यन्त शोध-प्रवण और संवेदनशील मस्तिष्कों में से एक—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी" लिखते हैं—"कभी-कभी सोचता हूँ कि बेकारी न होती तो लोग क्या इस कठिन कार्य की ओर प्रवृत्त होते। बैठे से बेगार भला; विशेष कर बेगार से यदि कुछ भविष्य में जीविका मिल जाने की संभावना हो।··· शोधकार्य को इस विषम सामाजिक प्रश्न से बल मिल रहा है।···मैं निराश होना नहीं चाहता, हताश अवश्य होता जा रहा हूँ।···लेकिन जाने भी दो, काहे को गंगाजल उठवाते हो!"

हिन्दी-शोध की वर्त्तमान स्थिति

तो, निष्कर्ष यह निकला कि निर्देशक, अनुसंधित्सु और अनुसंधेय के आधार पर जो त्रिभुज बनता है, वह है शोध (इन शब्दों के लिए लेखक डा० बच्चन सिंह का ऋणी है) और बेकारी, बेगारी तथा नौकरी के आधार पर जो त्रिभुज बनता है, वह है हिन्दी-शोध। हिन्दी-शोध एक 'तिकड़म' (श्रीप्रभुदयाल मीतल द्वारा प्रयुक्त शब्द) है, 'आजीविका' का एक मार्ग है (विनयमोहन शर्मा का निष्कर्ष),

'बेगार' है (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन) और है 'उपाधि-वैतरणी' पार कर लेने का 'शार्टकट' (डा० बच्चन सिंह)। हम कह सकते हैं, यह वह 'सुआ' बन गया है, जिसे 'पढ़ावति गनिका तरि गई।' यह 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' नहीं, 'अजामिल-उद्धार नौटंकी' है।

साहित्य-संपादक श्रीनलिनविलोचन शर्मा ने १६५१ में ही लिखा था—"इन महानिबंधों को देखकर यही कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति और भारतीय उद्योग-धंधों की तरह ही भारतीय विद्वत्ता भी साधना और अध्यवसाय नहीं रह गयी है, कम-से-कम करके ज्यादा-से-ज्यादा पाने का साधन बन गयी है। यह साहित्यिक ही नहीं, नैतिक महत्त्व का विषय है।"

कल्पना-संपादक श्रीआर्येन्द्र शर्मा ने अगस्त १६५६ में 'घासलेटी विद्वत्ता'-शीर्षक के अंतर्गत लिखा था—"दूसरे क्षेत्रों में बेईमानी, धोखा, सिफारिश, खुशामद और 'चचा-भतीजावाद' का बोलबाला रहे तो रहे, क्या कम-से-कम विद्या के क्षेत्र में भी हम चरित्रवान् नहीं बन सकते?···ज्ञान को संसार में सबसे अधिक पवित्र वस्तु माननेवाले भारत में ही घी के नाम पर घासलेट और दूध के नाम पर पानी खुले-आम बिक रहा है।"

श्रीओमप्रकाश 'दीपक' ने अक्टूबर १६५६ की कल्पना में एक 'टिप्पणी' लिखते हुए बताया—"१६४० से पूर्व कुल ११ प्रबंध लिखे गये थे। १६४० से १६४६ तक ३८ ग्रंथ लिखे गये और शेष १५८, १६५० से १६५७ के बीच। १६५७ के बाद के ग्रंथ, जिनकी संख्या काफी होगी, सूची में नहीं हैं।···सबसे दिलचस्प बात तो यह है कि इन २१२ डाक्टरों में ६७ केवल दो विश्वविद्यालयों के हैं। अर्थात् अगर विदेशी विश्वविद्यालयों को निकाल दें तो आगरा और प्रयाग के विश्वविद्यालयों ने हिन्दी के आधे 'डाक्टर' पैदा किये हैं।···इसका एक ही कारण हो सकता है कि शिक्षकों व छात्रों—दोनों की दृष्टि विकृत हो गयी है और विश्वविद्यालयों का वातावरण दूषित हो गया है। केवल संख्या-वृद्धि की ही बात नहीं है। प्रयाग-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-ग्रंथों के कुछ नमूने देखिये—'रीवाँ दरबार के हिन्दी-कवि' (औरों के लिए भी मौका है। छह सौ रियासतों पर छह सौ ग्रंथ लिखे जा सकते हैं।)···।"

श्रीअज्ञेय ने मार्च १६६१ की कल्पना में न जाने, कितनी पीड़ा के साथ लिखा था—"क्या हम कुछ कर सकते हैं कि 'हिंदी-शोध' और केवल 'शोध' के बीच की खाई पट जाय? या कि यह मान लेना होगा कि 'सत्य' अलग है और 'हिन्दी-सत्य' कुछ अलग और विशिष्ट?······क्या हम पहले अनुसंधाताओं को कुंठित होते रहने देंगे कि उनके सामने केवल अपने को बेचने का रास्ता है, और फिर इसपर कपाल ठोंकेंगे कि विद्यार्थियों में आचार्यों के प्रति आदर-सम्मान उठ गया है और विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता फैल रही है?"

और 'हिन्दी-अनुशीलन' के 'शोध-विशेषांक' (१९६३) में डा० हरदेव बाहरी कहते हैं—"अब विश्वविद्यालयों और डिग्री कॉलेजों में डाक्टर-ही-डाक्टर भरे हैं, नये डाक्टर इंटर कॉलेजों और हायर सैकंडरी स्कूलों में ही जायेंगे ना।......मेरे छोटे भाई क्षमा करें—मानना पड़ेगा कि शोध की जो लगन, जो गंभीरता पुरानी पीढ़ी के लोगों में थी, वह आज की पीढ़ी में कतई नहीं है। आज शोध साधन है नौकरी का, तब वह एक व्यसन था, जो एक बार लग गया तो छूटता नहीं था! डॉ० (अ) को साधना करते-करते ३० वर्ष बीत गये। अभी पिछले वर्ष वे ६००) पा रहे थे। आज भर्ती हुआ है डा० (ब०), डॉ० (अ) के छोटे लड़के की उम्र का नवयुवक ४००) पर। छह वर्षों में उसे उतना वेतन मिलनेवाला है, जितना डा० (अ) ३० वर्ष में पा सके हैं। इस स्थिति ने एक ईर्ष्या और कुंठा पैदा कर दी है। डॉ० (ब) की उद्देश्य-पूर्ति हो गयी, सिद्धि प्राप्त हो गयी, उसे रिसर्च में मगज-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं है। इस बात की खोज करने की आवश्यकता है कि हिन्दी के प्राध्यापक डाक्टरों ने सिद्धि प्राप्त होने के उपरांत अन्वेषण-कार्य को कितना आगे बढ़ाया है। पुराना साधक अब भी लगा है, किन्तु उसे प्रोत्साहन नहीं मिलता। नये 'सिद्धों' में बेकारी भी है और यदि काम मिल गया है तो भी खोज में रुचि नहीं।...सभी लोग स्वीकार करने लगे हैं कि डाक्टरी की बाढ़ के कारण बीमारी पैदा हो गयी है और इस बीमारी का इलाज होना चाहिये।"

[इस लेख को प्रस्तुत करने में लेखक ने निम्नलिखित ग्रंथों और लेखों से सहायता ली है—(१) हिंदी में स्वीकृत शोध-प्रबंध; (२) अनुसंधान की प्रक्रिया—अनुसंधान-परिषद्, दिल्ली-विश्वविद्यालय; (३) विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत शोध-निबध—ना० प्र० प०, वर्ष ६३, अंक २; (४) शोध-विशेषांक-हिंदी-अनुशीलन १९६३; (५) अनुसंधान और आलोचना—डॉ० नगेन्द्र, राजर्षि-अभिनंदन-ग्रंथ और अनुसंधान की प्रक्रिया में प्रकाशित; (६) हिन्दी में शोध-प्रबंधों का प्रकाशन—संपादकीय—हिन्दी-प्रचारक, मार्च १९६२; (७) हिन्दी में शोध-कार्य—श्रीत्रिभुवन सिंह, हिन्दी-प्रचारक, फरवरी १९५८; (८) हिन्दी में साहित्यिक शोध के साधनों की कमी—संपादकीय, साहित्य, अप्रैल १९५७; (९) हिन्दी के महानिबंध—संपादकीय, साहित्य, जुलाई १९५१; (१०) हिन्दी में खोज का काम—डा० धीरेन्द्र वर्मा का भाषण, भारतीय प्राच्यपरिषद् १९५१; (११) हिन्दी में उपाधि-परक शोध-कार्य—डा० उदयभानु सिंह, समालोचक, अक्टूबर १९५८; (१२) शोध और हिन्दी-शोध—सच्चिदानंद वात्स्यायन, कल्पना ११९; (१३) घासलेटी विद्वत्ता—संपादकीय, कल्पना १००; (१४) हिन्दी में खोज-कार्य—ओमप्रकाश 'दीपक', कल्पना १०२; (१५) हिन्दी में शोध-कार्य—संपादकीय, सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४६, सं० ३; (१६) हिन्दी में शोध-कार्य—देवेन्द्रकुमार जैन, सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४७, अंक २; (१७) हिन्दी में अनुसंधान--समस्याएँ और सुझाव,--समालोचक, मई १९५९; (१८) शोध-समस्याएँ,--इरीश, भाषा, वर्ष २, अंक १]

इतिहास-लेखन

इतिहास के विभावन के सम्बन्ध में कई मत हैं; उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल पड़ते हैं। एक ओर वालपोल (All History is a lie), साउथ (What are most of the Histories of the world but lies ?—Lies immortalized,......), नेपोलियन (What is history but a fable agreed upon ?) और ड्यूमा (Truth is very liable to be left-handed in history) ऐसे लेखक, विचारक और वीर हैं, जो उसे शत-प्रतिशत मिथ्या और काल्पनिक मानते हैं, तो दूसरी ओर गार्फिल्ड (History is but the unrolled scroll of prophecy), सीली (We study it in the hope of giving new precision, definiteness and solidity to the principles of political science), सिसेरो (Not to know what has been transacted in former times is to be always a child) और ड्राइडेन (It is the most pleasant school of wisdom) ऐसे मनीषी हैं, जो उसे बुद्धि की प्रौढ़ता के लिए अत्यावश्यक और उसके अध्ययन को जातीय विकास के लिए अनिवार्य मानते हैं।

इतिहास का ऐसा परस्पर प्रतिकूल विभावन इतिहासकारों के दृष्टिकोणों और उनकी प्रस्तुतीकरण की प्रक्रियाओं के चलते हुआ है। निःसंदेह, ऐसे इतिहासकार हुए हैं, जिन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तियों के मुँह में अपने शब्द रख दिये हैं, उनसे ऐसे कार्य करवाये हैं जो वे शायद ही कभी कर पाते (Many Historians take pleasure in putting into the mouths of princes what they have neither said nor ought to have said—Voltaire); जिन्होंने राजाओं और राजकुमारों के युद्धों और प्रेमविवाहों का इतिवृत्त उपस्थित करने में ही इतिहास की इति-श्री समझ ली (The history of the past is a mere puppet show—A little man comes out and blo s a little trumpet, and goes in again.—You look for something new, and lo ! another little man comes out and blows another little trumpet, and goes in again.—And it is all over.—Longfellow ; Violent natures make history.—The instruments they use almost always kill......,—Doudan) और अपनी कल्पनाओं की कठपुतलियों के असाधारण नृत्य को ही इतिहास की संज्ञा दे दी। पर इनके विपरीत कुछ ऐसे भी इतिहासकार हैं, जिन्होंने

भरसक यथाभूत, सद्भावी, तटस्थ, स्वार्थ-भय-राग-द्वेष से सर्वथा निष्पक्ष होकर सत्य-निष्ठ बने रहने का उपक्रम किया है। उन्होंने, बेकन के शब्दों में—स्मारकों, नामों, शब्दों, लोकोक्तियों, अभिलेखों, साक्ष्यों, कथाओं और ग्रन्थों आदि का अध्ययन कर, काल-प्रलय से छानकर, सच ही हमारे लिए कुछ ऐसा रख छोड़ा है, जिसे हम अपनी निधि कह सकते हैं। यह छानी हुई निधि ही हमारा सच्चा इतिहास है, जो कि हमारी समस्त परंपराओं का संश्लिष्ट निचोड़ है।

कार्लाइल और लैंभरटाइन ने जीवनी को ही एकमात्र सच्चा इतिहास माना है, (Biography is the only true history,—History is neither more nor less than biography on a large scale) और मैकॉले ने तो आगे चलकर उसकी एक सार्वभौम व्याख्या प्रस्तुत की है—He alone reads history aright, who, observing how powerfully circumstances influence the feelings and opinions of men, how often vices pass into virtues, and paradoxes into axioms, learns to distinguish what is accidental and transitory in human nature from what is essential and immutable. इतिहास के पठन-पाठन से हमें सिर्फ यही नहीं ज्ञात होना चाहिये कि गजनवी गजनी का और गोरी गोर का रहनेवाला था और वे इस-इस संवत् में पैदा हुए थे, और उन्होंने भारतवर्ष पर इतनी-इतनी चढ़ाइयाँ कीं, इतने-इतने मंदिर तोड़े, इतना-इतना धन लूटा, इतनी-इतनी बार विजयी और पराजित हुए और ऐसी-ऐसी वीरता प्रदर्शित की। गोकि इतिहासकार के लिए ये तथ्य भी आवश्यक हैं, पर सच्चा इतिहासकार इतना ही कहकर चुप नहीं लगा जायगा। वह तो हमें यह बतायगा कि गजनवी वस्तुतः धर्म की चादर ओढ़कर चलनेवाला लुटेरा था, वह इस्लाम के प्रचार के नाम पर भारत की वह बेशुमार दौलत लूटने के लिए बार-बार आ जाया करता था, जो कि या तो राज-घरानों के तहखानों में सुरक्षित थीं, नहीं तो मंदिरों और मठों के गर्भ-गृहों में। वह मंथरा के इस कथन से 'कोउ नृप होय हमें का हानि ?' सिर्फ, एक दासी की सामान्य उक्ति का अर्थ नहीं लगाकर तत्कालीन तथाकथित दलित और निरस्त्र श्रमजीवी जातियों की उस प्रतिक्रिया का बोध करेगा, जिसके चलते आक्रमणकारी हजारों मील तक विना किसी अवरोध के लूटते-पाटते चले जाते थे। वह भारतेन्दु की 'भारत-दुर्दशा' में दुर्भाग्य की पोशाक से कुछ और सत्य का पता लगा लेगा, जो कि तत्कालीन हिन्दू मनीषा में प्रच्छन्न रूप से ही सही, पर कार्य कर रहा था ; वह कबीर की गर्वोक्तियों से उस सामाजिक सत्य को छाँक लेगा, जिसके चलते हमारे यहाँ निर्गुण ब्रह्म का नये सिरे से प्रादुर्भाव हुआ था, वह मात्र औपनिषद अनुसंधान की चर्वणा नहीं था ; वह अकबर के तिलक-कंठी धारण करने और वीरबल के गदहेवाले मजाक को हँसकर, चाल समझ-कर या मसखरापन कहकर नहीं टालेगा, उनके आधार पर वह अकबर की 'दीने-इलाही'

श्रौर तज्जन्य हिन्दू-प्रतिक्रिया का सांगोपांग उल्लेख करेगा। वह इसका संकेत करेगा कि 'शबरी' की कथा तुलसी की कल्पना की नयी उद्भावना ही नहीं, तत्कालीन सामाजिक प्रतिक्रियाओं को हृदयंगम कर रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से समन्वय स्थापित करने का एक भोला प्रयत्न भी थी। वह उन सामाजिक और वैयक्तिक चेतनाओं की छान-बीन करेगा, जिनके चलते तुलसी ने तब राम को अपना नायक बनाया जबकि सारा भारतीय साहित्य कृष्णाभिमुख हो उठा था; निराला ने तब सम्राट् अष्टम एडवर्ड की अभ्यर्थना की जबकि हमारा सारा राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेज-शासन के विरुद्ध एक मोड़ पर आकर थम गया था; प्रसाद ने तब अपने ऐतिहासिक नाटकों का प्रणयन शुरू किया जबकि हम एक जबर्दस्त हीन-भावना से ग्रस्त हो चुके थे। हमें लैंडर के इस कथन को नहीं भूल जाना चाहिये कि Every great writer is a writer of history, let him treat on what subjects he may.—He carries with him, for thousands of years, a portion of his times, और सदैव स्मरण रखना चाहिये आधुनिक काल के विश्वविश्रुत नाटककार बर्नर्ड शॉ के इस कथन को—The man who writes about himself and his own time is the only man who writes about all people and all time. (इस दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य और उसकी विधाओं के अध्ययन के लिए लेखक अपने पाठकों से "बोध और व्याख्या"-नामक पुस्तक पढ़ने का आग्रह करेगा, जिसमें इस प्रकार का एक विनीत प्रयास किया गया है।)

कार्लाइल ने ठीक ही लिखा है—इतिहास एक दर्शन है, दृष्टांत और प्रबोधन द्वारा प्रशिक्षण, और उसकी दो आँखें हैं—तिथिक्रम और भूगोल (History is Philosophy, teaching by example and also by warning; its two eyes are geography and chronology). वह हमारे जीवन का इतिवृत्तात्मक विवरण नहीं, किसी राजा या शासन-पद्धति की क्रूरताओं और मूर्खताओं की अतिरंजित गाथा नहीं, अधिकार प्राप्त करने के लिए कतिपय तथाकथित 'सौभाग्य-सपूतों' की नृशंसताओं और विजयों की पंजी नहीं; बल्कि जातीय विकास के विविध सोपानों का प्रदर्शन और जाति के उन आंतरिक गुणावगुणों का मार्मिक उद्घाटन है, जिनके चलते मानव परिस्थितियों से पंजे लड़ाता हुआ अपने जीवन में अनुकूलता लाने का प्रयत्न करता है। अपनी समस्त परंपराओं, रूढ़ियों, धारणाओं, विजयों और पराजयों का वास्तविक ज्ञान किसी भी जाति या राष्ट्र को वह शक्ति और दृढ़ता प्रदान करता है, जिसके चलते वर्तमान की अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में वह अपने लिए एक रास्ता निकाल लेता है और इस प्रकार अपने जीवन को विकलांग होने से बचा लेता है। यह ज्ञान उसे इतिहास से—निरपेक्ष इतिहास के अध्ययन से प्राप्त होता है, जिसकी अपरिमित सामग्रियाँ उस जाति के साहित्य, संस्था, स्मारक, विधि और संस्कार में बिखरी रहती हैं। इतिहास पूरी निष्पक्षता से इन्हीं सामग्रियों

का संचयन कर जाति और राष्ट्र को एक काया प्रदान करता है। निष्पक्षता का अर्थ यहाँ मात्र पक्षपात-रहित होना ही नहीं है। लैभरटाइन ने कहा है—इतिहास की निष्पक्षता उस आइने की निष्पक्षता नहीं है, जो कि वस्तुओं के प्रतिबिम्ब भर उपस्थित कर देता है; बल्कि उस न्यायाधीश की निष्पक्षता है, जो देखता है, सुनता है और तब निष्पक्ष निर्णय देता है। (The impartiality of history is not that of the mirror, which merely reflects objects but of the judge who sees, listens, and decides).

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है—भारतीयों में ऐतिहासिक विवेक था ही नहीं (History is the one weak point in Indian literature. It is in fact non-existent—Macdonell). यह कथन उसी तरह आंशिक रूप से सत्य माना जा सकता है जिस तरह वालपोल या साउथ के उपर्युक्त कथन। वस्तुतः मैकडोनल का यह फतवा प्राचीन भारतीयों के इतिहास-सम्बन्धी विभावन को नहीं समझ सकने के कारण है। नलिनविलोचन-शर्मा कहते हैं—"कठिनाई, सच बात यह है, इतिहास-विषयक इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण रही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में मानव-सभ्यता का प्रत्येक क्षेत्र अंतर्भुक्त हो जाता है। इतिहास का, इस आदर्श तक पहुँचने के लिए, राजाओं के युद्धों और विवाहों तक सीमित रहना, उसकी एकांगिकता का परिचायक है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की कथा कहनेवाला इतिहास आधुनिक काल में अब जाकर प्रचेष्टित हो रहा है। १६ वीं शताब्दी के पाश्चात्य विद्वानों के ऐसे इतिहास से अपने यहाँ परिचय नहीं था, यद्यपि सिद्धांत रूप में कार्लाइल कह चुका था कि 'इतिहास वैसा दर्शन है, जो दृष्टांतों के माध्यम से शिक्षा देता है।' (साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० २-३) इतिहास प्रस्तुत करने की भारतीय प्रणाली पाश्चात्यों से भिन्न थी। पुराण उस अर्थ में तो अवश्य ही इतिहास हैं, जहाँ कि वे दृष्टांतों और प्रबोधनों द्वारा हमें प्रशिक्षित करते हैं।

साहित्येतर इतिहास और साहित्यिक इतिहास

जब साहित्येतर-इतिहास-लेखन के आदर्श और प्रक्रिया के सम्बन्ध में इतने परस्पर-विरोधी विचार हैं तब साहित्यिक इतिहास-लेखन के आदर्श का क्या कहना? साहित्येतर इतिहास लिखने से कहीं अधिक कठिन है साहित्यिक इतिहास लिखना। साहित्येतर विधाओं में बहुधा ऐसा होता है कि तथ्य तथ्य-रूप में ही प्राप्त हो जाते हैं; पर साहित्य में, सामान्यतः, तथ्य प्रच्छन्न रूप में उपस्थित रहता है। दूसरी बात यह है कि अन्य विधाएँ जहाँ कुछ हद तक एकांगी और विच्छिन्न होती हैं, वहाँ साहित्य में जीवन की सर्वांगीण और सर्वनिष्ठ अभिव्यक्ति होती है। अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, गणित-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि का इतिहास बिना एक

दूसरे से पूरी तरह परिचित हुए भी लिखा जा सकता है, पर साहित्यिक इतिहास लिखने में इतिहासकार को इन सभी शास्त्रों की अच्छी जानकारी प्राप्त करनी होगी ; क्योंकि साहित्य जन-जीवन की वह जिह्वा होता है, जिसके माध्यम से तलवे में काँटे गड़ने से और घुटने में खरोंच लगने से लेकर माथे का भेजा मरोर देनेवाले दर्द तक की अभिव्यक्ति होती है, वर्त्तमान के वृश्चिक-दंशन से लेकर परंपरा से प्राप्त हजार वर्ष पूर्व के सर्प-दंशन तक की संगृहीत अनुभूति का प्रकटीकरण होता है, वर्त्तमान की दरिद्रता के परिप्रेक्ष्य में अतीत की सम्पन्नता की अर्थच्छवियाँ उपस्थित होती हैं, और आज के प्रजातंत्र की कटु-मधु अनुभूतियाँ हजारों वर्ष पूर्व के गणतंत्रों की प्रणालियों के मिस उभरकर सामने आती हैं। इसलिए, साहित्यिक इतिहासकार को त्वचा पर ही ध्यान न देकर मज्जा, नसों से प्रवाहित होनेवाले रक्त-कीटाणु और उन मूल अस्थियों पर ध्यान देना पड़ता है, जिनकी बहुविध व्याख्या के लिए ही बहुविध शास्त्रों का निर्माण हुआ है।

साहित्यिक इतिहासकार की कठिनाई इसलिए भी और बढ़ जाती है कि वहाँ जीवन इत्र-रूप में सुरक्षित रहता है और सुवास-रूप में अभिव्यक्ति पाता है। वहाँ काया नहीं डोलती, वह चेतना डोलती है जो कि काया का प्राण है। और वह चेतना भी स्थूल रूप में संचरण नहीं करती ; प्रतीकों, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं आदि अलंकारों, लक्षणा और व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों का अत्यन्त पारदर्शी आवरण ओढ़कर भी सूक्ष्मतम रूप से, लुक-छिपकर चला करती है। इसलिए, साहित्यिक इतिहासकार का काम सिर्फ तिथिक्रम, रचनाक्रम, शैली-भेद आदि उपस्थित करना ही नहीं, तत्कालीन जन-जीवन की उस मूल चेतना को पकड़कर उसका सम्बन्ध जहाँ अतीत की धारणाओं और समसामयिक समस्याओं से स्थापित करना है, वहीं तत्कालीन मनीषा के आधार पर निर्मित भविष्य की अपरिहार्य संभावनाओं से भी अनुस्यूत करना है। स्वर्गीय नलिनविलोचन शर्मा लिखते हैं—"और, साहित्यिक इतिहास भी लेखकों की ऐसी तिथि-मूलक तालिका नहीं है, जिसमें उनकी कृतियों का विवरण और सारांश-मात्र हो। साहित्यिक इतिहासकार के लिए यह तो आवश्यक है ही कि उसे प्राग्भावी साहित्य का पाठ सुलभ हो ; क्योंकि साहित्यिक इतिहास तबतक लिखा ही नहीं जा सकता जबतक समृद्ध पुस्तकालय और सुव्यवस्थित सूचीपत्र न हों ; किन्तु यदि साहित्यिक इतिहासकार चाहता है कि स्वयं उसकी कृति तिथिमूलक सूचीपत्र से कुछ अधिक और भिन्न हो तो उसे कार्य-कारण-सम्बन्ध और सातत्य का ज्ञान, सांस्कृतिक परिवेश का कुछ बोध और उस व्यवस्था में यत्किंचित् प्रवेश होना ही चाहिए, जिसमें अंशीभूत कलाएँ अंशीभूत सभ्यता से सम्बद्ध रहती हैं। उसके साधन में स्थिति-स्थापकता आवश्यक है।" (साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ३३)

हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास

हम पहले कह चुके हैं कि जिस अर्थ में आज इतिहास शब्द का प्रचलन है, उस अर्थ में हमारे यहाँ इतिहास-लेखन की प्रथा नहीं थी। और साहित्यिक इतिहास-लेखन

की बात तो कभी सोची भी नहीं गयी थी। इसलिए, हिन्दी-के निर्माण-काल से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अंततक हिन्दी-साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्न-राशि के समान पड़ा रहा, उसके संग्रह और सुव्यवस्था का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ। यह काम अंग्रेजों के इस देश में जम जाने के बाद ही शुरू हुआ।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी पुस्तकों को मोटे तौर पर हम दो भागों में बाँट सकते हैं—प्रथम भाग में वे पुस्तकें आती हैं, जिनको हम साधारणतः कविवृत्त-संग्रह कहते हैं; और द्वितीय भाग में वे पुस्तकें आती हैं, जिनमें कमोबेश जन-समाज की प्रवृत्तियों का विश्लेषण और उनके साथ उनकी अभिव्यक्तियों का तादात्म्य खोजने का प्रयत्न किया गया है। पहली कोटि में निम्नलिखित उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—

(१) Historie de la Literature Hindoui et Hindoustanie. यह पुस्तक फ्रांसीसी भाषा में लिखी गयी थी और इसके लेखक Garcin de Tassy नामक व्यक्ति थे, जो पेरिस-स्थित Sbcol of Oriental Languages में हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर थे। इसका प्रथम संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ था, जो क्रमशः १८३९ और १८४७ में मुद्रित हुए थे। यह पुस्तक महारानी विक्टोरिया को समर्पित है और इसमें उर्दू के कवियों के साथ-साथ हिन्दी के कतिपय अत्यन्त विख्यात कवियों की जीवनियाँ तथा उनके लिखे ग्रंथों का उल्लेख अंग्रेजी वर्णक्रम से उपस्थित किया गया है। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह निर्विवाद है कि यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य का प्रथम विवरण है। १८७०-७१ में इसका दूसरा परिवर्द्धित संस्करण भी मुद्रित हुआ था।

(२) A History of Urdu poets, chiefly translated from Garcin de Tassy's Historie, with additions. इस पुस्तक के लेखक-अनुवादक हैं श्री एफ० फैलोन और मौलवी करीमुद्दीन तथा इसका प्रकाशन १८४८ में दिल्ली कॉलेज से हुआ था। यह ग्रंथ सोलहों आने तासी के ग्रंथ का अनुवाद नहीं है, क्योंकि इसमें बहुतेरे कवियों के बारे में नयी सूचनाएँ भी दी गयी हैं। स्वयं तासी ने अपने ग्रंथ के द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण में पद्माकर पर लिखते हुए यह स्वीकार किया है कि करीम ने अपने ग्रंथ में उनका एक कवित्त भी दिया है। इसमें राममोहन राय तक का उल्लेख है और इस प्रकार लगभग ९६४ कवियों का जिक्र है। (कल्पना, अक्टूबर १९५६)

(३) भाषाकाव्य-संग्रह, जो १८७३ में लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक हैं श्रीमहेशदत्त शुक्ल। इसमें प्राचीन कविताओं का संग्रह प्रस्तुत करना ही प्रधान उद्देश्य है, गोकि कवियों का अनुमानित समय और संक्षिप्त जीवन-चरित्र भी दे दिया गया है।

(४) शिवसिंह-सरोज—शिवसिंहसेंगर-कृत यह पुस्तक 'साहित्येतिहास के क्षेत्र में हिन्दी में पहला प्रयास' मानी जाती है। इसका प्रकाशन १८८३ में हुआ और इसमें एक हजार हिन्दी-कवियों के संक्षिप्त परिचय उनकी रचनाओं के उदाहरणों के साथ दिये गये हैं।

(५) Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन द्वारा लिखित यह पुस्तक १८८६ में प्रकाशित हुई। इसमें ग्रियर्सन ने अपने पूर्ववर्त्ती कविता-संग्राहकों के श्रम से तो लाभ उठाया ही, साथ ही कवियों पर थोड़ी-बहुत आलोचना भी लिखी। इसमें साहित्य के काल-विभाग के साथ समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा कहते हैं—"इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन साहब का ग्रंथ 'सरोज' की सामग्री से ही बनाया गया है। किन्तु यह उससे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है।" इसमें कवियों की संख्या ६५२ है। श्रीकिशोरीलाल गुप्त का कहना है कि "यह हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास है। यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास की नींव का वह पत्थर है, जिसपर आचार्य शुक्ल ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास का भव्य भवन निर्मित किया।"

(६) हिन्दी-कोविद-रत्नमाला—१६०६ और १६१४ में श्रीश्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित इस पुस्तक के दो भाग प्रकाशित हुए। इसमें आधुनिक ८० लेखकों के जीवन-चरित्र उनकी कृतियों के निदश के साथ दिये गये हैं।

(७) मिश्रबंधु-विनोद—चार भागों में तैयार इस विशालकाय ग्रंथ के प्रथम तीन भाग १६१३ में प्रकाशित हुए थे, जिनमें ३७६७ कवि-लेखकों का विवरण दिया गया। स्वयं मिश्रबंधु के शब्दों में—"हममें साहित्य-इतिहास लिखने की पात्रता नहीं है।" लेखक (या लेखकों) ने अपने पूर्ववर्त्ती कवि-कीर्त्तनकारों तथा नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विवरणों का पूर्ण उपयोग किया है। चौथा भाग जो वर्त्तमान काल के सम्बन्ध में था, १६३४ में प्रकाशित हुआ। कुल २२५० पृष्ठों में ५००० से अधिक कवियों-लेखकों का विवरण प्रस्तुत किया गया। रामकुमार वर्मा कहते हैं—"जीवन की आलोचना, कवि का संदेश, लेखक की अंतर्दृष्टि और भावों की अनुभूति आदि के आधार पर उसमें कवियों और लेखकों की आलोचना नहीं है।" आचार्य शुक्ल ने तो इसे 'कवियों का सूचीपत्र' तथा 'कवि-कीर्त्तन' की संज्ञा दी है।

इन सात प्रधान पुस्तकों के अतिरिक्त कवि-वृत्त-संग्रह की कोटि में कविता-कौमुदी (श्री रामनरेश त्रिपाठी), व्रजमाधुरी-सार (वियोगी हरि), हिन्दी के मुसलमान कवि (अखौरी गंगाप्रसाद सिंह), सुकवि-सरोज (गौरीशंकर द्विवेदी) आदि पुस्तकें भी आती हैं।

(१) द्वितीय कोटि की पुस्तकों में सबसे पहली पुस्तक A Sketch of Hindi Literature है, जो १६१८ में प्रकाशित हुई। इसके लेखक श्री एडविन

ग्रीव्स हैं। यह पुस्तक यद्यपि ११२ पृष्ठों की है, पर इसीमें सर्वप्रथम साहित्य की गतिविधि पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया।

(२) १६२० में एफ० ई० के महोदय की A History of Hindi Litercture नामक ११६ पृष्ठों की पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें साहित्य की प्रगतियों के दृष्टिकोण से इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा निर्धारित की गयी।

(३) १६२५ में श्रीबदरीनाथ भट्ट ने ६६ पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तिका 'हिन्दी' प्रकाशित की, जिसमें भाषा और साहित्य—दोनों की संक्षिप्त रूपरेखा देने की कोशिश की गयी। यद्यपि कवियों और लेखकों की अन्तर्दृष्टि और उसकी क्रमागत परम्पराओं को स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया गया, पर ग्रीव्स की पुस्तक की ही तरह भाषा और साहित्य की एक जानकारी तो अवश्य ही प्राप्त हो जाती है।

(४) १६२६ में पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ। हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं—"शुक्लजी ने पहली बार हिन्दी-साहित्य के इतिहास को कविवृत्त-संग्रह की पिटारी से बाहर निकाला।…पहली बार वह जीवन्त मानव-विचार के गतिशील प्रवाह के रूप में दिखायी पड़ा।" यह हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन का एक ऐसा व्यवस्थित प्रयत्न है, जिसमें देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि पर साहित्य की गतिविधि को परखने का प्रयत्न किया गया है। शायद विनयमोहन शर्मा ने कहीं लिखा है—इसने निर्जन वन-प्रदेश की शैवलिनी की भाँति अबाध रूप से प्रवाहित होनेवाली हिन्दी-साहित्य की धारा को, उद्गम से लेकर तबतक के विकास की सीमा में एक शिल्पी की तरह सुनियोजन दिया, स्थापत्य दिया।

(५) १६३० में रायबहादुर श्यामसुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा और साहित्य'-नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ, जिसमें साहित्यिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण के साथ-साथ भाषा के विकास पर भी प्रकाश डाला गया। इसमें शुक्लजी के समान ही युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि पृष्ठभूमि के आधार पर साहित्य की प्रवृत्तियों को तोलने का उपक्रम किया गया है।

(६) इसी वर्ष पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने पटना-विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में 'हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास' पर एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की, जिसमें आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दर दास के दृष्टिकोणों को यथेष्ट रूप से स्पष्ट किया गया।

(७) १६३० में ही श्रीसूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' प्रकाशित हुआ, जिसकी रूपरेखा के महोदय की पुस्तक के आधार पर ही निर्मित हुई-सी दीख पड़ती है। इसमें अंग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी-साहित्य को समझाने की चेष्टा की गयी है। नूतन शोध का अंश नहीं के बराबर है और विवेचन की भाषा शास्त्रीय न होकर काव्यात्मक हो गयी है।

(८) १६३१ में डॉ० रमाशंकर शुक्ल ने अपना 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' प्रस्तुत किया, जिसमें कतिपय नये लेखकों का समावेश किया गया और हिन्दी-साहित्य की सभी ज्ञातव्य बातों को समेटने की कोशिश की गयी, पर वैज्ञानिक रीति और समन्वयात्मक दृष्टि नहीं अपनायी जा सकी। इस पुस्तक में सर्वप्रथम 'साहित्य का इतिहास' विषय पर सविस्तर विचार किया गया।

(६) १६३४ में श्रीकृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें विषय के अनुसार ही भारतेन्दु के पूर्व का इतिहास अत्यधिक संक्षिप्त रूप में और बाद का इतिहास कुछ विस्तार में उपस्थित किया गया।

(१०) १६३८ में डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिखा, जिसमें चारण और भक्तिकाल की तबतक प्राप्त सभी सामग्रियों का संकलन किया गया। मिश्रबंधु ने इसे "हिन्दी-साहित्य का रिसर्च वर्क" माना था।

(११) १६३६ में डॉ इन्द्रनाथ मदान ने अंग्रेजी में Modern Hindi Literature नामक पुस्तक लिखी, जिसमें आधुनिक हिन्दी-साहित्य का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया। यों, विषय-विवेचन तो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत किया गया है, पर अनेक प्रयोगों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अनुचित महत्त्व दिया गया है।

(१२) १६४० में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' प्रस्तुत की। इसमें द्विवेदीजी ने सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य को अखिलभारतीय साहित्य से सम्बद्ध करने की चेष्टा की तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक—दोनों ही दृष्टिकोण से हिन्दी-साहित्य को देखने का प्रयास किया। यह पुस्तक गंभीर अंतर्दृष्टि से पूर्ण अत्यन्त मौलिक स्वीकार की गयी।

(१३) १६४१ में व्रजरत्न दास ने 'खड़ी बोली हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखा, जिसमें राष्ट्रभाषा हिन्दी को तथा उसमें प्राप्त साहित्य को लेकर ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विषय-विवेचन किया गया है।

(१४) १६४६ में श्रीचतुरसेन शास्त्री ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का इतिहास प्रकाशित किया, जिसमें साहित्य-महारथियों के नाम पर काल-विशेष के नामकरण का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है।

(१५) १६५३ ई० में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानवतावादी दृष्टिकोण से अपभ्रंश-युग की प्राकृताभास हिन्दी-रचनाओं में हिन्दी के आदिकाल के दर्शन किये और वहाँ से लेकर आधुनिक-युग की प्रवृत्तियों तक का विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया अपने 'हिन्दी-साहित्य' (उद्भव और विकास) में। यह पुस्तक यद्यपि छात्रोपयोगी ही है, फिर भी इसमें आदिकाल और भक्तिकाल अन्य कालों की अपेक्षा अधिक पुष्ट है।

(१६) इधर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने हिन्दी-साहित्य के वृहत् इतिहास की एक विस्तृत योजना तैयार की है, जिसे कि सत्रह भागों में विभाजित किया गया है।

प्रत्येक भाग का सम्पादन उस काल या प्रवृत्ति-विशेष के विशेषज्ञ द्वारा किया जा रहा है। इसके तीन भाग निकल चुके हैं—हिन्दी-साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका, शृंगार-काल और लोक-साहित्य।

इन इतिहासों के अतिरिक्त युग, प्रवृत्ति, धारा, प्रदेश और संप्रदाय-विशेष को लेकर भी पचासों आलोचनात्मक इतिहास या ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं।

आलोचना

इन इतिहासों की आलोचना के क्रम में सबसे पहला विचारणीय तत्त्व उनके लेखकों के विभावन-सम्बन्धी दृष्टिकोणों को लेकर है। तासी, करीमुद्दीन, शिवसिंह, ग्रियर्सन और मिश्रबंधु आदि पहली कोटि के इतिहासकारों का प्रधान लक्ष्य वस्तुतः 'कविवृत्त'-संग्रह प्रस्तुत करना ही था, जो कि इतिहास-लेखन की प्राथमिक और अनिवार्य प्रक्रिया ही है। ये सभी इतिहास मूलतः विवरणात्मक हैं और इनमें तथ्य-संग्रह की प्रारंभिक भावना ही काम करती दिखायी पड़ती है। तासी ने अपना कवि-वृत्त यद्यपि वर्ण-क्रमानुसारी ही बनाया, पर उसके सुनियोजित वर्गीकरण की समस्या पर भी उन्होंने विचार किया था। तासी कहते हैं—"हिन्दी रचनाएँ चार भागों में विभाजित की जा सकती हैं—आख्यान, आदिकाव्य, इतिहास और काव्य।" पुनः उन्होंने पद्य-प्रकारों के निम्नलिखित वर्गीकरण की बात भी सोची थी—"अभंग, आल्हा, कड़खा, कवित्त, कहर्वा, मलार, कीर्त्तन, कुंडल्या, गान, गाली, गीत, गुजरी, चतुरंग, चरण, चरणाकुल-छंद, चुटकुला, चौपाई इत्यादि।" करीमुद्दीन के पास अनुवाद को छोड़कर इतिहास-लेखन का कोई विशिष्ट विभावन नहीं था, गोकि उन्होंने कुछ और नाम अवश्य जोड़ दिये हैं। एक बात और स्पष्ट है कि तासी जहाँ हिन्दुई या हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग करते हैं और उसके अंतर्गत तथाकथित हिंदी और उर्दू के सभी साहित्यकारों को समेटने का प्रयत्न करते हैं, वहाँ करीमुद्दीन ने तासी की पुस्तक का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए भी 'उर्दू' शब्द का प्रयोग किया है और उसमें हिन्दी के कवियों को भी समेटने की कोशिश की है। इनमें से एक देशी है और दूसरा विदेशी—और इन दोनों के दृष्टिकोण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सिपाही-विद्रोह के पूर्व हिन्दी और उर्दू के बीच वह विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकी थी, जो कि बाद के इतिहासकारों में स्पष्ट हुई और क्रमशः मोटी होती चली गयी।

शिवसिंह का सरोज न तो साहित्यिक इतिहास है और न कविवृत्त-संग्रह; वह तो भक्तमाल के आदर्श पर संगृहीत एक हिन्दी-काव्य-संग्रह भर है। यह इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि सरोजकार ने रचनाओं के उदाहरण देने में जितनी सचेष्टता और प्रामाणिकता बरती है, उतनी रचनाकारों के परिचय और जन्म-काल आदि देने के सम्बन्ध में नहीं। इतिहास या कविवृत्त के योग्य कही जानेवाली ये सूचनाएँ अधिकांशतः अनुमानाश्रित तो हैं ही, संक्षिप्त भी हैं। मैं समझता हूँ कि सरोज का महत्त्व केवल दो

कारणों से ही है, नहीं तो कदाचित् वह भी महेशदत्त के काव्य-संग्रह की ही तरह गौण स्थान का अधिकारी सिद्ध होता। प्रथम तो यह कि उसकी आयति बहुत बड़ी है, परिमाणतः उसमें एक सहस्र कवियों का लेखा-जोखा है और द्वितीय यह कि ग्रियर्सन ने 'सरोज' को ही अपनी पुस्तक का आधार बनाया है और इसके अभाव में संभवतः "Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan" तो लिखी ही नहीं जाती, 'विनोद' तैयार करने में मिश्रबंधुओं को भी काफी कठिनाई होती।

कविवृत्त-संग्रह की कोटि में आने पर भी ग्रियर्सन की पुस्तक में तासी की पुस्तक से अधिक पुष्ट और वैज्ञानिक विभावन के दर्शन होते हैं, गोकि ग्रियर्सन ने कतिपय भयंकर भूलें भी की हैं। उनका पथ-प्रदर्शक सेंगर का सरोज है और दृष्टि-निर्देशक तासी की पुस्तक, फिर भी उन्होंने "ठीक तथ्य का निश्चय करने के लिए कोई भी श्रम बाकी नहीं उठा रखा है।" सरी ओर उन्होंने पृष्ठभूमि-चित्रण, प्रवृत्ति-निरूपण, युग-विभाजन और आलोचनात्मक मूल्यांकन का भी थोड़ा-बहुत प्रयास किया है, जो कि इनके पहले के इतिहासकारों में परिलक्षित नहीं होता। उनकी पुस्तक सामान्यतया एक-एक काल के सूचक विभिन्न अध्यायों में विभक्त है। भक्तिकाल की श्रेष्ठता का पहला उद्घोष भी वही करती है और तुलसी की महत्ता का सर्वप्रथम मूल्यांकन भी उसी में उपलब्ध होता है। स्वर्गीय नलिन-विलोचन शर्मा का यह कहना शत-प्रतिशत युक्ति-युक्त है कि "हिन्दी के विधेयवादी साहित्येतिहास के आद्यप्रवर्त्तक शुक्लजी नहीं, प्रत्युत ग्रियर्सन हैं।"

दुःख की बात यह है कि मिश्रबंधु क्षमता और ज्ञान रखते हुए भी ग्रियर्सन के विभावन को आगे बढ़ाने की अपेक्षा शिवसिंह सेंगर की लीक पर चलने को बाध्य हो गये। इसके कुछ अपरिहार्य कारण थे, जिन्हें वे अच्छी तरह समझ रहे थे। पहला कारण यह था कि नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में सैकड़ों-हजारों नये कवियों और लेखकों का जो विवरण उन्हें प्राप्त हुआ, वह ऐसा नहीं था कि उसके आधार पर किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का निर्माण होता। उसके लिए उन सभी हस्तलिखित पोथियों का पारायण अत्यावश्यक था, जो विभिन्न दरबारों, घरों और पुस्तकालयों में बिखरी पड़ी थीं और खोज-रिपोर्टों में जिनकी संक्षिप्त सूचनाएँ भर प्राप्त होती थीं। इन नये कवियों के उल्लेख से मिश्रबंधुओं ने 'सरोज' को अपूर्ण मानकर एक ऐसा ग्रंथ तैयार करने का विचार किया, जिसमें उस समय तक प्राप्त सभी साहित्यकारों का पता आ जाय। मिश्रबंधु ने अनुभव किया—"यदि वर्त्तमान लेखकों में से कतिपय विद्वान् दस-दस, पाँच-पाँच कवियों को लेकर उनके ग्रंथों का पूरा अध्ययन करके उनपर समालोचनाएँ प्रकाशित करें तो अच्छे समालोचना-सम्बन्धी लेख भी निकल सकते हैं और उनके आधार पर बढ़िया ग्रंथ भी बन सकते हैं।............वहाँ (उन्नत भाषाओं में) समालोचना-सम्बन्धी हजारों बढ़िया लेख वर्त्तमान हैं और प्रत्येक कवि के गुण-दोषों का पूरा विवरण उस कवि-कृत ग्रंथ का एक पृष्ठ पढ़े विना भी ज्ञात हो सकता है। ऐसी दशा में अच्छा साहित्य-

इतिहास-लेखक थोड़े परिश्रम से भी उत्कृष्ट ग्रंथ लिख सकता है। हमारे यहाँ यह दोष है कि कपड़ा बनाने के लिए उसी व्यक्ति को खेत जोतने, बोने, सींचने, रखवाली करने, काटने, रूई निकालने, ओटने, कातने, अच्छा सूत बनाने और कपड़ा बीनने के काम करने पड़ते हैं।" मिश्रबंधु ये सारे कार्य स्वयं नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि उन्होंने सेंगर के ही पथ का अनुसरण कर अपने 'विनोद' का निर्माण किया। जिस-किसी कवि की हस्तलिखित पोथी उन्होंने देखी, उसका अध्ययन-मनन किया, उसके विवेचन में उन्होंने निश्चय ही ग्रियर्सन के दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयत्न किया। हम कह सकते हैं कि मिश्रबंधुओं के पास इतिहास की एक परिकल्पना थी, उसके निर्माण की क्षमता भी थी, पर न जाने क्यों (शायद आराम-पसंद होने के कारण ही) वे केवल सूची तैयार करते रहे। 'विनोद' शब्द के प्रयोग में ही मेरी समझ से इसका वास्तविक रहस्य छिपा है। उनके 'काल-विभाजन' की प्रक्रिया में ही इसकी कुंजी रखी है। बाबू गुलाब राय ने ठीक ही कहा है कि विनोद ब्राह्मण का 'कच्चा सीधा' है।

शुक्लजी को हिन्दी शब्द-सागर के निर्माण-क्रम में 'खेत जोतने' से लेकर 'कपड़ा बीनने' तक के वे सभी काम करने पड़े, जो कि मिश्रबंधु नहीं कर पा सके थे। शुक्लजी का इतिहास निश्चयात्मक रूप से "हिन्दी का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित साहित्यिक इतिहास" है। उनका दृष्टिकोण ग्रियर्सन से आगे के विभावन से युक्त था, सामग्री का सर्वाधिक प्रतिनिधि संकलन 'विनोद' के रूप में तैयार हो ही चुका था। वे कहते हैं—"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंततक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है।" यह इतिहास-सम्बन्धी प्रगतिशील विभावन ही पहला तत्त्व है, जिसके चलते उनका इतिहास एक महत्त्वपूर्ण मीलस्तंभ बन गया। नलिनविलोचन शर्मा कहते हैं—"शुक्लजी ने स्वकालीन पाश्चात्य वैदुष्य की उपलब्धि को, विलक्षण सजगता का परिचय देते हुए, हिन्दी-साहित्येतिहास के निर्माण के लिए, अपना लिया है—कदाचित् किसी भी भारतीय भाषा के साहित्य के इतिहास-लेखक के पूर्व।" उनका विधेयवाद ग्रियर्सन से ही लिया गया है, पर नव्यवादिता का संयोग शुक्लजी का अपना है। शुक्लजी के इतिहास का दूसरा प्रधान तत्त्व उनकी रस-दृष्टि और विवेचनशील प्रतिभा थी, जो कवियों के मूल्यांकन में अधिक खुली। जहाँ इनके पहले के लगभग सभी इतिहासकार तथ्यों की छानबीन में ही अधिकतर रमे थे, वहाँ शुक्लजी ने उससे आगे बढ़कर कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्घाटन किया। पहले तत्त्व

के चलते जहाँ उन्होंने मिश्रबंधु द्वारा प्रस्तुत हिन्दी साहित्य के कंकाल में रक्त-संचार किया, वहीं दूसरे तत्त्व के चलते उन्होंने उसे मांसल भी बनाया। यही कारण है कि उनका काल-विभाजन हिन्दी में पहली बार कोरा आयु-परक न रहकर भाव-परक और प्रवृत्ति-परक बन गया तथा उसका तादात्म्य ऐतिहासिक प्रवाह से इतना सटीक बैठा कि उसका महत्त्व आज चौंतीस वर्ष बाद भी अक्षुण्ण है। इसमें उनकी शैली का भी योगदान कम नहीं है। वस्तुतः, यह उनकी समस्त विवेचना-प्रक्रियाओं की ही देन है, या पाठक की मनीषा पर पड़नेवाले उस सामूहिक प्रभाव का प्रतिफल है कि उनका नामकरण, नाम से अधिक प्रतीक और रूपक बन गया।

हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'भूमिका' और 'हिन्दी साहित्य' को एक साथ लेने पर ही हम उनके इतिहास-सम्बन्धी विभावन को स्पष्ट रूप से समझ सकने में समर्थ होंगे। 'भूमिका' में द्विवेदीजी ने पहली बार "हिन्दी साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सरणि और भाव-परम्परा का दर्शन कराया। हिन्दी-जाति तथा हिन्दी साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिए आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी साहित्य का निरूपण किया। परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था।" (नामवर सिंह—आलोचना ५; और हजारी-प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ७)

द्विवेदीजी पहले इतिहास-लेखक थे, जिन्होंने हिन्दी के भक्ति-काव्य को, राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावापन्न, निराशा से उत्पन्न, माननेवाले इतिहासकारों की धारणाओं को चुनौती देते हुए यह सिद्ध किया कि वह तत्कालीन सजीव और जाग्रत् सामाजिक शक्तियों से उत्पन्न रूढ़ि-विरोधी लोकवाणी था। उनकी दूसरी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य' में इसी दृष्टिकोण का विस्तार परिलक्षित होता है, जबकि वे भक्तिकाल से 'हिन्दी साहित्य का वास्तविक प्रारंभ' मानते हैं।

उनकी 'हिन्दी साहित्य'-नामक इतिहास-पुस्तक "विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर लिखी गई है", शायद इसीलिए स्थान-स्थान पर नवीन दृष्टिकोणों की किरण छिटकाते हुए भी उन्हें प्रधानतः उसी लीक पर चलने को बाध्य होना पड़ा है, जो शुक्लजी की मानी जायगी। अद्यावधिक शोध-कार्यों के परिणामों को समाविष्ट करते हुए भी उनको विवरण-प्रधान बन ही जाना पड़ा। फिर भी, नलिनविलोचनशर्माजी ऐसा मानते हैं कि इस पुस्तक में "द्विवेदीजी अनेकानेक शुक्लोत्तर साहित्येतिहासकारों की तुलना में, हिन्दी में पहली बार,—कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओं में सबसे पहले—आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रवर्तित, विधेयवादी साहित्येतिहास से भिन्न, साहित्यिक साहित्येतिहास

लिखने के श्रेय के अधिकारी सिद्ध होते हैं।" (साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ० ६४)

अंतिम महत्त्वपूर्ण हिन्दी-साहित्येतिहास, नागरी-प्रचारिणी सभा का 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' है, जिसके प्रस्तावित सत्रह भागों में से अभी तक कुल तीन भाग ही प्रकाशित हुए हैं—हिन्दी-साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका (भाग १), रीतिकाल (भाग ६) और हिन्दी का लोक-साहित्य (भाग १६)। इस विराट् योजना में इतिहास-सम्बन्धी विभावन इतना व्यापक और वैविध्यपूर्ण है कि उसमें अप्रासंगिक विवेचनाओं, अप्रामाणिक तथ्यों और अटकलबाजियों तक का उल्लेख और मीमांसा है। विभिन्न संपादकों के संपादन तथा लेखकों के लेख में कोई तारतम्य नहीं रह पाया है और इस प्रकार विभिन्न खंडों में परस्पर, सम्बद्धता का अभाव तो दृष्टिगोचर होता ही है, साथ-ही-साथ साहित्य की प्राणधारा का अखंड तथा अविच्छिन्न प्रवाह भी स्पष्ट नहीं किया जा सका है। प्रथम भाग में पर्वत, नदी, वनस्पति, जीव-जंतु तक के भी विवरण दिये गये हैं, वेश-भूषा तक का भी विस्तार से वर्णन किया गया है और कला के अन्य भेदों तक का इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। यह ठीक है कि साहित्य में जीवन अपनी संपूर्णता में अभिव्यक्त होता है और उपर्युक्त तथ्य हमारे जीवन-दर्शन तथा कर्म-कलाप के निर्माण-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं, फिर भी साहित्येतिहासों की अपनी रूप-रेखा होती है, जो विश्वकोशों से सर्वथा भिन्न पड़ती है। पुनः, जब प्रथम भाग में विस्तार से पूरे एक खंड में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्यिक आधार तथा परंपराओं की चर्चा की ही जा चुकी है तब छठे भाग में रीतिकाव्य के शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार-संबन्धी खंडों में उन्हें दुहराने से क्या लाभ? प्रथम भाग में सभी कलाओं का इतिवृत्त प्रस्तुत है, और छठे भाग में स्थापत्य, चित्रकला और संगीत आदि की फिर नये सिरे से विवेचना की गयी है। सोलहवें भाग के संपादकीय वक्तव्य में यह मान्यता (जो ठीक ही है) प्रतिपादित की गयी है कि "हिन्दी-साहित्य के निर्माण में लोक-साहित्य ने आधारशिला का कार्य किया है", फिर भी वह कैसी आधार-शिला है और किस स्थल पर हिन्दी-साहित्य लोक-साहित्य से मिलता या अलग होता है, इसपर बीस लोक-साहित्यों की चर्चा करनेवाले किसी भी लेखक ने प्रकाश डालने का कष्ट नहीं किया। वह कौन-सा तत्त्व है, जो नागर-साहित्य को लोक-साहित्य से पृथक् करता है और वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसके चलते लोक-साहित्य नागर-साहित्य में पर्यवसित हो जाता है, पुनः हिन्दी के नागर-साहित्य में लोक-तत्त्व किस-किस मात्रा में कब-कब विद्यमान रहे—आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनपर किसी भी लेखक ने विचार नहीं किया है। सच्ची बात तो यह है कि कोई भी साहित्य अपने प्रारंभिक रूप में ग्रामगीतात्मक या लोककथात्मक ही होता है। यह तो किसी प्रतिभा का काम है कि वह उसे नागर-साहित्य की कोटि में परिगणित करा दे। विद्यापति, सूरदास,

कबीर, जायसी, तुलसी आदि सभी महाकवियों ने वस्तुतः, किसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और उनका माध्यम क्या है ? फिर यह कैसे हुआ कि हम उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं और उन्हीं के समकालीन लोकगीतों या कथाओं की चर्चा तक नहीं करते। ये सब-कुछ, ऐसे प्रश्न हैं, जो अनुत्तरित रह जाते हैं।

अभी तो इस इतिहास के चौदह भाग अप्रकाशित ही हैं—फिर भी प्रकाशित तीन भागों को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह बृहत् इतिहास हमें कोई नया विभावन, नया दृष्टिकोण और नया तथ्य देने में समर्थ हो सकेगा। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि अपना 'बृहत्' विशेषण सार्थक करने के निमित्त वह अबतक की सभी उपलब्ध सामग्रियों का समावेश भर कर पायगा। यही कारण है कि वह 'भानमती का पिटारा' बनता चला जा रहा है।

हिन्दी-साहित्येतिहास की कतिपय असंगतियाँ

अबतक के प्रकाशित हिन्दी-साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़ने से जो कतिपय तथ्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं, उनमें पहला यह है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास, अपनी समग्रता में, अभी तक बोलियों का ही इतिहास है। चाहे वह प्रारम्भ की मैथिली-मगही और राजस्थानी हो या मध्यकाल की भोजपुरी, अवधी और ब्रजबोली, या आधुनिक काल की खड़ी बोली—हैं ये सब बोलियाँ ही। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार इन बोलियों का उल्लेख इसलिए नहीं करते कि वे हिन्दी-प्रदेश के अन्तर्गत पड़ती हैं; बल्कि इसलिए कि अपने साहित्य की प्राचीनता की खोज में उन्हें वहाँ कतिपय ऐसी प्रतिभाओं के दर्शन हुए हैं, जो उनके साहित्य की आयु को अतीत में बहुत दूर तक खींचकर ले जा सकी हैं। विडंबना यह है कि उन प्रतिभाओं के बाद भी उपर्युक्त बोलियों में जो अभिव्यक्ति हुई है, जो साहित्य रचा जा रहा है—उसका थोड़ा भी निर्देश करना (न जाने क्यों) वे साहित्य के लिए घातक समझते रहे हैं। हिन्दी-साहित्य के किसी भी अध्येता को यह देखकर आश्चर्य होता है कि विद्यापति से लेकर आजतक अप्रतिहत रूप से विकसित समस्त मैथिली-साहित्य में से सिर्फ विद्यापति ही हिन्दी-साहित्य में दिखलायी पड़ते हैं। साधारणतः, यह भ्रम पैदा हो सकता है कि विद्यापति के बाद मैथिली बोली और वीरगाथा-काल के बाद राजस्थानी बोली—या तो एक-ब-एक समाप्त हो गयीं, नहीं तो मध्यकालीन अवधी और ब्रजबोली में बदल गयीं; और अब उनकी न तो कोई स्थिति है और न उनमें कोई साहित्य लिखा जा रहा है। ठीक यही भ्रम खड़ी बोली का साहित्य पढ़ने के क्रम में अवधी और ब्रजबोली के सम्बन्ध में पैदा हो सकता है। हिन्दी-साहित्य के किसी भी इतिहासकार ने इस असंगति पर विचार नहीं किया है कि तथाकथित वीरगाथाकाल में ही परिगणित होनेवाले कवियों की भाषाओं में परस्पर भेद क्यों है। एक और भाषा के ये निदर्शन हैं—

(१) परणवा चाल्यो बीसलराय। चउरास्या सहु लिया बोलाइ।

(२) हिंदुवान-थान उत्तम सुदेस। तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस।

तो दूसरी ओर ठीक इनके विपरीत—

(१) सरस वसंत समय भल पाओल, दछिन पवन बहु धीरे।
सपनहुरूप वचन इक भाषिअ, मुख सओ दुरि करु चीरे।

(२) एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे॥

—ऐसे निदर्शन हैं। इसके बाद ही भक्तिकाल में पैर रखते-रखते हमारे सामने भाषा-भेद के इतने उदाहरण मिलने लगते हैं कि हम अकबका जाते हैं। वीरगाथा-कालीन निदर्शनों की परिणति इतने विकृत रूपों में कैसे हो गयी ? मेरे जानते (अत्यधिक संक्षेप और अपर्याप्त रूप में ही सही) सिर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही इस ओर एक हल्का संकेत किया है—

"लगभग एक सहस्र वर्षों से इस मध्य देश में साहित्यिक प्रयत्नों के लिए एक प्रकार की केन्द्रीय भाषा का व्यवहार होता रहा है। देश-काल-भेद से साहित्यिक भाषा के रूपों में भेद अवश्य पाया जाता है; परंतु प्रयत्न बराबर यही रहा है कि भाषा केन्द्रीय भाषा के निकट रहे। हिन्दी की एकता इस प्रयत्न में ही है।......'हिन्दी' शब्द का व्यवहार इसी केन्द्रोन्मुख भाषा के अर्थ में होता है। जिन क्षेत्रों के लोग अपने साहित्यिक प्रयत्नों में केन्द्रोन्मुखी भाषा का प्रयोग करते हैं, वे ही आज हिन्दी-भाषी कहे जाते हैं। ......वस्तुतः हिन्दी शब्द उतना एकरूपा भाषा के अर्थ में व्यवहृत नहीं होता, जितना परंपरा के अर्थ में होता है।" (हिंदी-साहित्य, पृ० २)

इस कथन से निदर्शनों की विविधता पर थोड़ा प्रकाश तो पड़ता है, पर उस असंगति की ओर कहीं हल्का संकेत भी नहीं किया गया कि विद्यापति के बाद मैथिली कहाँ चली गयी या कि वीरगाथा-काल की राजस्थानी भक्तिकाल के उद्भव के साथ क्यों साहित्यिक अभिव्यंजना का माध्यम नहीं रह पायी, या कि वे कौन-से कारण थे कि एका-ब-एक हिन्दी-साहित्य ने व्रज और अवधी को अपना प्रमुख माध्यम बना लिया ? इतिहासकारों को यह तो बताना ही होगा (चाहिये तो ऐसा ही) कि जब हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अन्दर खुसरो, सूर और तुलसी के साथ विद्यापति का भी उल्लेख है तो बाद चलकर भारतेन्दु और रत्नाकर के साथ पढ़ीस, वंशीधर शुक्ल और चंदा झा के नाम क्यों नहीं लिये जाते। किसे ज्ञात है कि जब खड़ी बोली काव्य-भाषा के रूप में लड़-खड़ा ही रही थी, और व्रजभाषा में रत्नाकर 'उद्धवशतक' की तैयारी ही कर रहे थे, तभी मैथिली में चंदा झा महाकाव्य के सर्जन में दत्तचित्त थे। आधुनिक काल में ही जब खड़ी बोली पद्य द्विवेदीजी-ऐसे महाबलाधिकृत की उँगली पकड़कर भी काव्य की देहरी

को पार नहीं कर पा रहा था, तभी भोजपुरी में उच्च कोटि के ऐसे-ऐसे राष्ट्रीय गीत लिखे जा चुके थे, जो कांग्रेस के बड़े-बड़े अधिवेशनों में भी समवेत स्वर से गाये जाते थे। हिन्दी अपने 'नागार्जुन' को बम्बई में भी पहचान लेती है, पर मैथिली के दुबले-पतले 'यात्री' को दरभंगे में भी नहीं पहचान पाती। क्या तुक है कि खड़ी बोली में लिखने के कारण बेढब और बेधड़क तक की चर्चा हो; पर मैथिली में लिखने के कारण उनसे भी अधिक प्रतिभाशाली और मँजे हुए साहित्यकार हरिमोहन झा का उल्लेख तक न किया जाय ?

दूसरी असंगति यह है कि यद्यपि लगभग सभी इतिहासकार उर्दू को भिन्न लिपि में लिखित हिन्दी की एक शैली भर मानते आये हैं तथापि उसके साहित्य को स्पर्श करने तक से वे हिचकते रहे हैं। उर्दू उस हिन्दी के लिए प्रयुक्त नाम है, जिसमें अरबी-फारसी-तुर्की शब्दों की बहुलता हो। क्या विडम्बना है कि देवनागरीलिपि में उर्दू लिखनेवाले राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द हिन्दी-गद्य के निर्माताओं में एक माने जायँ, पर फारसी लिपि में हिन्दी लिखनेवाले नजीर अकबरावादी का कहीं उल्लेख तक न हो ?

द्विवेदीजी के उपर्युक्त कथन में हिन्दी की जिस एकता की बात कही गयी है, हिन्दी के इतिहासकार स्वयं उस एकता को खंडित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। हिन्दी-साहित्य का कोई भी सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास, एक ओर उर्दू के समस्त साहित्य और दूसरी ओर हिन्दी-प्रदेश की अन्य भाषाओं-विभाषाओं के अबतक के सम्पूर्ण विकास को आत्मसात् और अन्तर्भुक्त किये विना लिखा ही नहीं जा सकता। हिन्दी-साहित्येतिहास की इन असंगतियों की ओर 'बृहत् इतिहास' तैयार करनेवाले योजनाकारों का भी ध्यान नहीं गया है।

मुस्लिम-काल के अन्त में, व्रजबोली पर जो खड़ी बोली सवार हुई तो हिन्दी-साहित्य में पहली बार चार नयी बातें दिखायी पड़ीं—पहली यह कि मैथिली, राजस्थानी, अवधी और व्रज आदि बोलियाँ जहाँ कि पद्य के साथ आयी थीं, वहाँ खड़ी बोली गद्य के साथ आयी। हिन्दी-साहित्य के किसी भी गंभीर अध्येता को आश्चर्य होता है कि जैसे किसी धमाके के साथ गद्य का प्रचार हो गया हो। अब हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार खड़ी बोली के ही गद्य को हिन्दी का गद्य समझने लगे—इतर बोलियों का पद्य उनका था, पर गद्य नहीं। दूसरी यह कि मैथिली, राजस्थानी, व्रज और अवधी आदि बोलियाँ जहाँ कि धर्म और राज्य के आश्रय में साहित्यिक स्तर पा सकीं, वहाँ खड़ी बोली व्यापारियों और कर्मचारियों के साये में पल्लवित हुई। संरक्षण का यह परिवर्तन किस नूतन सामाजिक और राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम था, इसकी गंभीर मीमांसा होनी चाहिये। साहित्येतिहासकार अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दे पाये हैं। तीसरी यह कि जहाँ आधुनिक काल के पूर्व के साहित्यों में गद्य का प्राचीन-से-

प्राचीन नमूना ढूँढ़ निकालने के लिए हम शोध करते हैं, वहाँ आधुनिक काल में पैर रखते ही अचानक यह वृत्ति जग पड़ी कि हम खड़ी बोली में पद्य के प्राचीन-से-प्राचीन नमूने ढूँढ़ निकालें। इसके लिए कबीर और खुसरो तो क्या, हम गोरखनाथ तक दौड़ पड़े। चौथी, पर सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि खड़ी बोली थी तो पश्चिम की, पर गद्य या पद्य—दोनों में ही इसके प्रयोग और प्रचलन के आंदोलनों का श्रीगणेश पूर्व में हुआ—यानी, कलकत्ते से लेकर बनारस तक के भू-भागों में। इन प्रश्नों का समाधान हिन्दी-साहित्य का कोई भी इतिहासकार अभी तक नहीं कर पाया है।

केवल साहित्य पढ़कर साहित्य का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। साहित्य युग की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति होता है—और युग वहाँ इतने सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता है कि उसके तात्त्विक विश्लेषण के लिए ज्ञान की अन्य विधाओं का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी-साहित्य का सर्वांगपूर्ण इतिहास अब यह अपेक्षा करता है कि उसके लेखक व्यापक दृष्टिकोणवाले हों, क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों से ऊपर हों और न केवल हिन्दी की अपनी विभाषाओं तथा बोलियों में लिखित-अलिखित समस्त साहित्य की गतिविधियों की जानकारी रखते हों; बल्कि उत्तर भारतवर्ष की लगभग सभी भाषाओं के साहित्य का अनवरत अध्ययन-मनन करते हों। निश्चयात्मक रूप से अब यह कार्य एक व्यक्ति के बूते का नहीं रहा—चाहे वह आचार्य शुक्ल हों या आचार्य द्विवेदी।

श्रीशिवदान सिंह चौहान ने आलोचना ५ के संपादकीय तथा अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' की प्रस्तावना में साहित्येतिहास-लेखन की इन प्रक्रियाओं और दृष्टिकोणों की टीका करते हुए बहुत ठीक लिखा है—"इसलिए आज साहित्य के इतिहासकार के सामने प्रश्न केवल इतना ही नहीं है कि केवल भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक काल की छायावाद, यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों को उन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रसंग में रखकर जाँचे, जिन्होंने इन धाराओं को जन्म दिया तथा जिन्हें इन धाराओं ने प्रतिबिम्बित करके प्रभावित किया; बल्कि उसके सामने यह समस्या भी है कि वह—यदि हिन्दी-साहित्य की सीमा में ही रहें तो—चंद, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानंद, मतिराम, भूषण आदि मध्ययुग के प्रमुख भक्त और रीतिवादी कवियों तथा राष्ट्रीय जागरण-युग के भारतेन्दु, श्रीधर पाठक, रत्नाकर, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, पंत आदि साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन से उनकी वास्तविक महत्ता को उद्घाटित करें कि किस प्रकार वर्ग-समाज के इन प्रह्लादों ने वर्ग-समाज की विशिष्ट परिस्थितिजन्य विचार-सीमाओं में आबद्ध रहते हुए भी अपनी प्रतिभा से मनुष्य के गत जीवन या वर्त्तमान जीवन के सजीव चित्र अंकित किये हैं, जिनका कलात्मक सौन्दर्य, अर्थ-गांभीर्य और उदात्त मानववादी नैतिक अंतःस्वर वर्त्तमान जीवन की विडंबनाओं से संघर्ष करनेवाले आधुनिक पाठक को भी प्रेरणा, स्फूर्ति, आशा और नई अंतर्दृष्टि प्रदान

करते हैं।" स्पष्टतः, इस विभावन से युक्त होकर अभी हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा नहीं जा सका है। हमारे अधिकांश साहित्येतिहास, अपने पहले के प्रकाशित साहित्येतिहास-ग्रन्थों को पढ़कर तैयार किये जाते रहे हैं। यही कारण है कि लाख प्रयत्न करने पर भी वे उन साहित्येतिहास-लेखकों की सीमाओं को तोड़ नहीं पाते, जिनके पास अच्छा या बुरा, प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी, अपना कहने को कोई विभावन रहा है। और, यह विभावन कवियों या लेखकों की मूल पुस्तकों, रचनाओं आदि के वैज्ञानिक एवं सुचिंतित पारायण-अध्ययन के बिना आ ही नहीं सकता। ऐसा नहीं हो पा रहा है, और यही कारण है कि हमारे इतिहासकार कभी इतिहास में परिवर्तन की गति को आवृत्तिमूलक, राजनीतिक सत्ताधारियों की इच्छा से संचालित और जातीय विशेषताओं से नियमित मान लेते हैं। उन्हें यह ज्ञात हो ही नहीं पाता कि जीवन की परिस्थितियाँ, सामाजिकता की परिस्थितियाँ, सामाजिकता का परिवेश और आर्थिक उत्पादन-प्रणाली ही इतिहास की (चाहे वह किसी भी पक्ष का हो) गतिविधियों का नियमन करती हैं। श्रीनामवर सिंह ने भी अपने निबंध 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' (आलोचना ५) में इन्हीं तथ्यों की ओर संकेत करते हुए कहा है—"समाज ने साहित्य को उत्पन्न किया है, साहित्य ने समाज को नहीं। इसलिए साहित्य का इतिहास समझने के लिए समाज के विकास का ज्ञान आवश्यक है।" जो इतिहासकार साहित्य की जड़ें व्यक्ति-साहित्यकार के मन में खोजते हैं, उन्हें कॉडवेल की इन पंक्तियों को हृदयंगम करना चाहिये—"Art is the product of society as the pearl is the product of oyster; and to remain inside art is to remain outside society."

———

(ख) प्रयाग की "**सम्मेलन पत्रिका**" ने लिखा था—"जो काम हिन्दी साहित्य की भूमिका और हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों ने नहीं किया, उसे बड़ी जिम्मेदारी और लगन से श्री कामेश्वर शर्मा ने पूरा करने का यश प्राप्त किया है।"

(ग) लखनऊ की "**युग चेतना**" ने लिखा था—"यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पुस्तक में पर्याप्त सामग्री ऐसी है जो प्रथम बार इस रूप में प्रकाशित होकर आ रही है और जिसे कि हम अनुसंधान भी कह सकते हैं।"

३—शिखंडी—

—इस उपन्यास के सम्बन्ध में प्रसिद्ध कथाकार नागार्जुन ने लिखा है—"शिक्षित मध्यवित्त युवक की कुंठाओं का अलबम है यह उपन्यास। साथ ही, दुविधाओं की दलदल में बाहर आने की उसकी आकुलता भी जहाँ-तहाँ जगमगा रही है।

साहित्यिक निबंधों का अत्युत्कृष्ट संग्रह

बोध और व्याख्या

[प्रो० कामेश्वर शर्मा के पचपन निबंधों का संग्रह]

""""विश्वविद्यालय तथा कालेजों के छात्रों के लिए इन निबन्धों की उपयोगिता तो है ही, हिन्दी की प्रगति और प्रवृत्तियों के जिज्ञासुओं के लिए भी ये पठनीय हैं। लेखक की शैली में मौलिकता तथा गम्भीर चिंतन के साथ अध्ययन-सामग्री का सदुपयोग भी है।.........पुस्तक रोचक है और उसके अध्ययन से नयी सूझ-बूझ तथा नवीन दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। अध्यापकों तथा उच्च कक्षा के हिन्दी छात्रों के लिए पठनीय भी है।

सम्मेलन पत्रिका, भाग ४८—अंक १

......हिन्दी भाषा और साहित्य को लेकर ५५ निबन्धों का यह संग्रह छात्रोपयोगिता की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

कल्पना, हैदराबाद—अंक १४२

प्रो० कामेश्वर शर्मा द्वारा लिखित "बोध और व्याख्या" साहित्यिक निबन्धों का अत्युत्कृष्ट संग्रह है। आज तक की प्रकाशित ऐसी पुस्तकों में इसे सर्वश्रेष्ठ कहने में मुझे कोई विचिकित्सा नहीं है। इससे बी० ए०, एम० ए० के छात्र तो लाभान्वित होंगे ही, सामान्य पाठकों को भी जानने, सोचने, और समझने योग्य प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी। ऐसी सुन्दर उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए मैं लेखक को हृदय से बधाई देता हूँ।

श्री पंडित देवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय

प्रो० कामेश्वर शर्मा ने "बोध और व्याख्या" ग्रन्थ लिखकर हिन्दी साहित्य के अध्येताओं का बड़ा कल्याण किया है। हिन्दी के विद्यार्थी इससे साहित्य के सर्वांगीण बोध की ही उपलब्धि न करेंगे अपितु तर्कसंगत पद्धति में उसके विभिन्न पक्षों की व्याख्या भी प्राप्त कर सकेंगे। प्रो० शर्मा लकीर के फकीर नहीं हैं, परम्परा और रूढ़ियों पर उनकी अन्ध आस्था नहीं है। वे वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक दृष्टिबिन्दु से सभी तथ्यों और सामग्रियों की भलीभांति परीक्षा कर के किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक पाठक उससे सहमत हो, परन्तु वह इस बात का कायल अवश्य होगा कि प्रत्येक निष्कर्ष के पीछे एक गम्भीर विचार-धारा और युक्तिश्रृंखला है। सामान्य सिद्धान्तों के विवेचन के अनन्तर हिन्दी साहित्य इतिहास के सभी प्रमुख तत्वों की बुद्धिगम्य समीक्षा है। इस परिवेश में साहित्य-स्रष्टाओं का वैयक्तिक परिचय और महत्व उनका मूल्यांकन करने में अत्यधिक सहायक हैं। लेखक ने अन्त में हिन्दी के कुछ भाषावैज्ञानिक निबन्धों पर भी प्रकाश डाला है, परंतु इनके पूर्ण बोध के लिए उसने "हिन्दी की समस्याएँ" ग्रन्थ का आकलन किया है जो शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। यह ग्रन्थ भी अवश्य गम्भीर स्वाध्याय का परिचय देगा, यह विषय-सूची से प्रतीत हो जाता है।

आशा है हिन्दी साहित्य अपने इस प्रबुद्ध लेखक का पूरा स्वागत करेगा। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि छात्रों के मानस-विकास में "बोध और व्याख्या" का प्रचुर योग संभव है।

श्री वीरेन्द्र श्रीवास्तव

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग,

भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर